◆ प्रकाशक

ज्ञान प्रकाश बकशी

◆ प्रवन्ध सम्पादक

सुमेर कुमार जैन

◆ सहयोगी

ताराचन्द वैद
राजेन्द्रकुमार बिल्टीवाला
बाबूलाल जैन
योगेन्द्र जैन

◆ चित्र-सज्जा

आनन्द आचार्य
सुरेन्द्र काला

◆ प्रथम सस्करण अप्रैल १६७६
वीर सम्वत् २००५

◆ प्राप्ति-स्थान

गुरुवाणी प्रकाशन
११30, महावीर पार्क रोड
जयपुर 302003

◆ मूल्य २0 00 रुपये (डाक व्यय अलग)

◆ पुस्तकालय सस्करण 3५ 00 रुपये (डाक व्यय अलग)

◆ मुद्रक

फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर-3

अपनी बात

□ ज्ञानाकुर के प्रस्फुटन मे, भव-भवान्तरो मे ग्रहण किया गया बोध भी एक आधार वन जाता है। कव व किस शुभ-घडी मे उत्पन्न चिनगारी, उसी रूप मे पडी रह कर भी, जब अवसर या सयोग पा जाती है, तो सुलगने लगती है और अग्नि मे अथवा ज्वाला रूप मे प्रकट हो जाती है। जन्म-जन्मान्तरो मे, कभी किसी सत्गुरु के चरणप्रसाद से, तप के प्रभाव से उनके मुख कमल से निसृत व निर्झरित सवोधि की वह चिनगारी—अपना विशाल रूप ग्रहण कर सकती है। पुरुपार्थ का योग उसे मिले, वातावरण का निर्माण हो, और सयोग जुट मके तथा सभी मावनो का सुयोग हो, तो प्रशस्त राह की दृष्टि-उपलब्धि सहज व सुलभ हो सकती है। चिर-पिपासित चेतन को ज्ञान-जल की सिक्तता चाहिए ताकि भव-भवान्तर की तिक्तता से त्राण मिल सके। चितन, मनन, ज्ञान-ध्यान व तपस्या की प्रवाहित वारा मे निमग्न, परम शाति की उपलब्धि हेतु साधना मे रत साधुजनो का सान्निध्य मिले वह क्षण जीवन का एक सुअवसर है।

चौदह वर्प पश्चात् मुनि श्री गोम्मटेश्वर की ओर विहार करते हुए राजस्थान की राजधानी गुलावी नगरी जयपुर होकर पधारेंगे—इस समाचार से श्रद्धा की भाव-तरगें मानस पर छाने लगी। मुनिश्री के जयपुर-प्रवास की यह घडिया स्मृति के माध्यम से कुछ स्थायित्व पा सके, इस निमित्त अपना योगदान क्या हो व कैसे हो उसके लिये साधन कैसे उपलब्ध हो, सहयोग किनका व कैसे मिले, सभी वातो का सुयोग कैसे हो, इन सब विचारो की साकारता के प्रयत्न कैसे सफल हो? भावनायें कैसे साकार हो, मूर्त्त हो, ताकि श्रद्धा-सुमन भक्ति सहित अर्पित हो और जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षण स्मरणीय हो जावें।

सहयोगियो ने परस्पर एक-दूसरे के विचारो को सवल दिया और अपना महत्त्वपूर्ण योग देकर मुनिश्री के प्रवचनो को, गुरुवाणी को, सभी जनो

तक पहुँचाने के प्रयोजन से पुष्प रूप मे प्रकाशित किया और उन्हे ही अव पुस्तकाकार मे प्रेषित किया जा रहा है।

मुनिश्री ने अपने जयपुर-प्रवास के समय प्रवचनो मे अत्यन्त रोचक उदाहरणो द्वारा जीव की वस्तुस्थिति की ओर आकर्पित किया और वताया कि द्रव्य शाश्वत है, चैतन्य शाश्वत है, नश्वरता अपनी नही, परजनित है। जीव स्वतन्त्र है, पराधीन नही, चैतन्य-वोध सुख का कारण है, दु ख का कारण पराधीनता है—'पराधीन सपनेहु सुख नाही'। अहिंसा जीव का अपना स्वभाव है जो मामान्य जीवन मे अनुशासन का आधार है, वह ही सामाजिक जीवन मे पारस्परिक सौहार्दता व वात्सल्य रूप मे निर्वहन पाता है। मन चचल है, पर-जनित भावनाये किस-किस रूप मे उठती हैं और कैसा प्रभाव छोड जाती हैं, आचार्यो ने उसका वर्गीकरण षट्लेश्याओ के माध्यम से करके समझाया है। अशुभ-पाप है, शुभ-पुण्य है और पाप-पुण्य दोनो से अलग शुद्ध अपना स्वभाव है। अशुभ सर्वथा त्याज्य है, वैयक्तिक व सामाजिक जीवन को वह दु खी वनाता है, शुभ दु ख से त्राण देता है, समता व शाति की ओर उन्मुख होने मे सहायक होता है, स्वचेतना को दिशा वोध कराता है। सामाजिक स्तर पर परोपकार, दान, त्याग की भावनायें, पारस्परिक व्यवहार मे विनय, गुरुजनो के प्रति आदर, देव-शास्त्र-गुरु के प्रति श्रद्धा-भक्ति, सहज जीवन की कला है, जो आत्म-साधना मे सहायक होती है। देव-दर्शन अपने आदर्शों के स्मरण के लिए साधन है, आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। मदिर व मूर्तिया 'वन्दे तद्गुण लब्धये' हेतु साकार साधन है। भगवान महावीर, राम व कृष्ण के जीवन-आदर्श अनुकरणीय व आत्मवोधक हैं।

ज्ञान आत्मा मे है, जो साधक, साधन व साध्य स्वय ही है, ज्ञान, ज्ञाता व ज्ञेय स्वय ही है, वधक व वध्य भी स्वय ही है। जो पर है वह अपना नही है। पर के प्रति अपनापन, उसकी ओर दृष्टि ही विभाव है, दिशा-विमुखता है, राग है। पर का साथ पूर्ण स्व-सिद्धि तक छोडा नही जा सकता। अत दृष्टि साधन की ओर नही, साध्य की ओर होना परमावश्यक है इसके लिए जीवन मे सर्वागीण समता—पर की चचलता से, अशाति से छुटकारा दिलाने मे समर्थ है। यह राग आग दहे सदा, यह राग ही अशाति का कारण है। आत्मा का आराधन करके परमात्मा वनने की शक्ति चैतन्य मे है, अपने मे ही है। पुण्य व पाप ही जीवन है, जो इससे मुक्त हुये, वे सिद्ध हो गये। परन्तु सिद्ध होने तक जीवन छोडा नही जा सकता। उसे सक्लेशमय न वनायें, इसके लिये समता की आवश्यकता है। पारस्परिक सौहार्द के लिये अहिंसा के

सिद्धान्त को जीवन मे गूंथा जाना ही एकमात्र उपाय है। अहिंसा ही आत्म-रक्षा का कवच है। अपने दोषो का शमन ही आत्मोपलब्धि का एक मात्र साधन है।

जो अपने कर्त्तव्य-पालन मे रत हैं, वे ही पुरुषार्थी हैं। कर्त्तव्य-पालन ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ से ही आत्म-कल्याण सभव है। सम्यक् श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र के त्रियोग के बिना ध्यान व ज्ञानपूर्ण नही है। इसके बिना आत्मोपलब्धि नही हो सकती। इन सबके लिये त्रियोग सहित सन्तुलन ही समता है, पर, से विमुखता है।

उक्त सभी बिंदुओ पर तत्त्वज्ञान की गूढ गुत्थियो को सहज व सुलझे हुए रूप मे, उदाहरणो के माध्यम से समझाते हुए मुनिश्री ने अपने प्रवचनो मे बताया कि धर्म व नैतिकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए नितान्त आवश्यक है, उसके बिना हमारा पुरुषार्थ निरर्थक है, हमारा सामाजिक जीवन अत्यन्त दुरूह है।

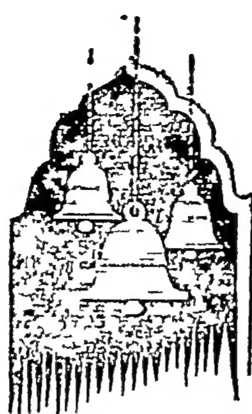
मुनिश्री के जयपुर-प्रवास के प्रवचनो को पुस्तकाकार रूप मे प्रेषित करने मे, छापा मुद्रण आदि मे जो कमी या त्रुटि रह गई है, वह हमारी अपनी अल्पज्ञता है। विद्वान् पाठक-गण उसके लिए हमे क्षमा करें व उसे शुद्ध व सही रूप मे समझ कर, ग्रहण कर, लाभ उठावे। जो त्रुटिया या कमिया हमारी अपनी दृष्टि मे नही आ सकी हैं, उनकी ओर हमारा ध्याना-कर्षण करने हेतु आपके महत्त्वपूर्ण सुझाव, भावी प्रयासो मे उनकी पुनरावृत्ति रोकने मे हमारे लिए सहायक होगे।

सहयोगियो के सहयोग व उत्साह-वर्धन के लिये समस्त गुरुवाणी परिवार उनका हृदय से आभारी है। गुरु-कृपा से जो भी, जितना व जिस प्रकार बन पडा है, यह अल्प प्रयास प्रस्तुत है आपके समक्ष।

अन्त मे, सत्गुरु के चरण वदनीय है, चरणरज धारणीय है, चरण-चिन्ह अनुसरणीय हैं, मार्गदर्शक हैं। उनके श्री चरणो मे भक्तिपूर्वक बारम्बार नमन।

—प्रीति जैन

जयपुर—
दिनाक १० अप्रैल, १९७९
(महावीर जयन्ती)



अनुक्रमणिका



पृष्ठ

१ ☐ अहिंसा एव अनेकान्त से ही आदर्शों का स्थितिकरण सम्भव

५ ☐ अहिंसा व अराजकता उन्मूलन हेतु अनुशासन की शिक्षा आवश्यक

६ ☐ षट् लेश्या जैन दर्शन मे भावनाओ का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

१८ ☐ दर्शन-ज्ञान-चारित्र के योग मे ही आत्म-कल्याण सभव .

२५ ☐ अतरग त्याग चिनगारी समान है

३१ ☐ अहिंसा, सत्य, सयम और तप ही धर्म है

३८ ☐ भगवान ऋषभदेव का सदेश ऋषि बनो या कृषि करो

४३ ☐ तीर्थंकर महावीर · सिद्धान्त एव जीवन चरित्र

५१ ☐ त्रियोग सहित आत्मावलोकन ही ध्यान है

६८ ☐ दुर्लभ है ससार मे एक यथारथ ज्ञान

पुष्ठ

७० □ जीवन पुण्य-पाप का खेल
७६ □ वस्तु स्वभाव का ज्ञान ही सुख का स्रोत
८२ □ श्री कृष्ण और उनका जीवन दर्शन
९१ □ चैतन्य शाश्वत है, ध्रुव है ..
९५ □ परोपकार ही कल्पवृक्ष है
१०० □ सामाजिक सगठन के लिये महती आवश्यकता— 'वात्सल्य-भाव'
१०७ □ ज्ञान आत्मा मे है, शास्त्रो मे नही .
११४ □ पराधीन सपनेहु सुख नाही
१२० □ सत न होते ससार मे तो जल जाता ससार
१२७ □ जगत का वन्धु—वीतराग भगवान्
१३१ □ सत्गुरु सहज स्वभाव सुझायो
१३८ □ 'वन्दे तद्गुण लब्धये ।
१४६ □ विभाव का कारण है—'विकारी भाव'
१५३ □ सव्वे शुद्धा शुद्धनया ....
१५६ □ पुरुपार्थ ही मुक्ति की आधारशिला है
१६६ □ देह विनाशी, मैं अविनाशी
१७२ □ यह राग आग दहे सदा . . .
१८० □ अहिंसा—आत्म सुरक्षा का अनुपम कवच
१८८ □ भारत—अतीत मे और वर्तमान मे
२०१ □ स्कूल आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माण शाला है
२०४ □ सफलता का सूत्र-श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र साधन
२१० □ सर्वोदय धर्म-तीर्थ ही तरण-तारण है
२१६ □ दान धर्म का सलाहकार है
२२२ □ जीवन के तीन सूत्र—सुसस्कार, सादगी और सयमाचरण
२३२ □ जिनालय आत्मा का बीमा भवन
२३९ □ धर्म बिना कोई नही अपना

पृष्ठ

२४६ □ हमारा कर्तव्य और पुरुषार्थ

२५५ □ कर सेवा जन-जन की

२६७ □ अशान्ति का कारण राग है।

२७३ □ ज्ञान बिन कर्म करैं जे....

२७७ □ स्वार्थ मे परार्थ निहित है

२८४ □ सस्कार और जीवन

२८९ □ विद्या ददाति विनय

२९३ □ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग·

३०२ □ कर्तव्य पालन ही धर्म है

३१० □ मत मरण को अन्त समझो

३१८ □ चितानुष्ठान के लिए है, चैत्य और चैत्यालय

३२२ □ स्व-विमुखता ही परिग्रह की जड़

३३० □ स्व-सन्तुलन का नवनीत-समता

३३६ □ राम का जीवन आदर्श

३४५ □ अहकार के आठ रूप

३५० □ स्वदोप शमन ही उन्नति का सोपान है

३५६ □ कर्तव्य पालन करें, साधन स्वत· जुटेंगे





मुनि श्री के जयपुर आगमन पर प्रवचन–सभा



मुनिश्री के जयपुर आगमन पर रामलीला मैदान मे विशाल जन–समूह मगल–प्रवचन का आकण्ठ-पान करते हुये। राज्य के स्वास्थ्य–मन्त्री श्री त्रिलोकचन्द जैन एव राजस्व–मन्त्री श्री पुरुषोत्तम मन्त्री समारोह मे उपस्थित थे।





• मुनि श्री केन्द्रीय कारागार, जयपुर मे बंदी जनो को सम्बोधित करते हुए ।



मुनि श्री के सान्निध्य मे पार्श्वनाथ चूलगिरी पर राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री भरोंसिह शेखावत अपने विचार व्यक्त करते हुये ।

अहिंसा एवं अनेकान्त से ही आदर्शों का स्थितिकरण संभव

राजस्थान की राजधानी जयपुर ही गुलाबी नही है। राजस्थान के प्रत्येक ककर को मैं गुलाबी समझता हू, मैं राजस्थान के अनेक शहरो व गावो मे घूमा। वहाँ की भाषा, मृदु मिट्टी देखने के बाद मुझे राजस्थान का प्रत्येक ककर, प्रत्येक कण गुलाबी लगता है।

इस ससार मे मनुष्य-जीवन ही बहुत मूल्यवान जीवन है। मनुष्य के जीवन के पीछे एक तत्वज्ञान होता है, और तत्वज्ञान के पीछे होती है विशाल सम्यग्दृष्टि। वह सम्यग्दृष्टि क्या है? किसी ने आपसे पूछा--आप कहाँ से पधारे? आपने उत्तर दिया—अमुक मोहल्ले से, अमुक उपनगर से। आगे किसी ग्राम मे पहुँचने पर आपसे यह पूछने पर कि आप कहाँ से पधारे? आप बताते हैं—मै जयपुर से आया हूँ? यहाँ मोहल्ला व उपनगर गौण हो गया। दिल्ली पहुचने के बाद कोई पूछे कि कहाँ से पधारे? तो आप उत्तर देते है कि मैं राजस्थान से आया हूँ। उस समय आपकी दृष्टि मे पूरा राजस्थान प्रमुख हो गया। यदि आप उडकर अमेरिका पहुँच जायें तो वहाँ पूछने पर आप कहेगे—मै भारत से आया हू। उस समय अखण्ड भारत प्रमुख हो गया, गली मोहल्लादि सब गौण। और यदि आप चन्द्रलोक पर पहुँच जाये तो आप बतायेंगे कि—मैं पृथ्वी से आया हूँ, वहाँ सारी पृथ्वी आपकी होगई। विशाल पृथ्वी आपकी दृष्टि मे समा गई। आपकी दृष्टि विशाल हो गई। सम्यग्दृष्टि की दृष्टि इतनी ही विशाल हो जाती है कि वह प्राणी-मात्र के प्रति समता भाव रखता है, दया भाव रखता है। बीजरूप मे प्रत्येक आत्मा मे दयाभाव मौजूद है। दयाभाव अहिंसा का मूल है।

१६३२ मे महात्मा गाधी ने कहा था कि—'मैं केवल जैन कुल मे जन्म लेने वाले को जैनी नही मानता, अपितु मेरी दृष्टि मे अहिंसा मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति जैन है।' तात्पर्य यह है कि धर्म, जाति, प्रान्त आदि मे जन्म लेने से नही, उसे जीवन मे उतार लेने से आता है। तत्वज्ञान को जीवन

मे उतार लेने से सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होती है। सम्यग्दर्शन को समझने के लिये घर का ही छोटा सा उदाहरण लें—घर मे, व्याही हुई वेटी जव वापस आती है तो माँ कहती है-वेटी ! यहाँ मैके मे तुम काम मत करो, ससुराल से थककर आई हो। वेटी कितना भी खाये, माँ यही कहेगी—मेरी वेटी कुछ खाती ही नहीं, वहुत ही कम खाती है। वही माँ वेटी के स्थान पर वहू के लिये कहेगी—न जाने कहाँ से आई है राक्षसनी, खाती तो ढेर सारा है पर काम कुछ नही करती है। वेटी को तो उदार दृष्टि से देखकर उसके अवगुणो को भी गुण ही समझे और वही पराई 'वेटी' के गुणो को अवगुण रूप ही देखे। पर सम्यग्दृष्टि (अर्थात् विशाल दृष्टि वाली समभाव वाली) सास वही है जिसकी दृष्टि मे वेटी-वहू दोनो समान हैं और सम्यग्दृष्टि वहू वह है जो मा व सास के प्रति समान व्यवहार करे।

वास्तव मे शास्त्रो को मदिर मे पढने या रटने से नही अपितु उसे घर से लेकर व्यवहार मे, जीवन मे उतारने पर ही वे उपयोगी व उपादेय हैं। केवल सम्यग्दर्शन शव्द रटने से, वडे-वडे श्लोक रटने से, उनकी सूक्ष्म वातो की चर्चा करने से कुछ लाभ नही होता। प० टोडरमल जी ने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक मे वताया है कि शिवभूति सिद्धान्त-तत्व कुछ भी नही जानता था, केवल तुस-मास का भेद जानता था आर्थात् दाल-छिलके से पृथक है, आत्मा-शरीर से पृथक है वह वात भली-भाति जानता था। इस छोटे से ज्ञान से उसे केवल ज्ञान प्राप्त हो गया। तात्पर्य यह है कि दृष्टि को उदार वनाना चाहिये तभी मानवता जीवित रह सकती है। सभी महापुरुषो ने उदार दृष्टिकोण से ही महानता पाई है। राम ने शवरी, जिसे छूना भी मना था, उसकी कुटिया मे वैठकार फल खाये। वहाँ से जाते हुये उसे अमर होने का आशीर्वाद प्रदान किया और जटायु जैसे पक्षी को गोद मे ले उसे सान्त्वना दी, उसका समाधि-मरण कराया। वास्तव मे पशु-पक्षी व झोपडी मे रहनेवालो के साथ भी उदारता हो, यही महानता का प्रतीक है।

भगवान महावीर ने प्रत्येक आत्मा मे अहिंसा को देखा। ब्रह्म कहाँ है ? ब्रह्म प्रत्येक आत्मा मे है- परन्तु प्रकट रूप वही है जहाँ अहिंसा है। अहिंसा सर्वोपरि व श्रेष्ठ है। इसे लोग भली प्रकार समझ नही पाये, या यू कहे कि हम जैन इसे समझा नही पाये। हम समझाने मे असफल रहे। केवल शव्दो से अहिंसा का जाप जपते रहे।

मैं जव ग्वालियर गया तो ग्वालियर महारानी इत्तफाक से मेरे पास आई। उनसे लगभग एक घण्टे तक चर्चा चली। उन्होंने कहा कि "मुझे

जैनो की और सब बातें समझ मे आती है, पर यह अहिंसा समझ मे नही आती, यह है क्या ?" तब मैंने कहा—दुनिया मे सब काम अहिंसा के लिये ही हैं, हिंसा के लिये कुछ दिखता ही नही। चौराहे पर लालबत्ती है, वह अहिंसा के लिये। वह कहती है आपकी हिंसा हो जायेगी, आप रुक जाइये। यातायात नियत्रक पुलिस भी अहिंसा के लिये ही तत्पर है कि दो गाडिया आपस मे टकरा न जाये। मजिस्ट्रेट, अहिंसा के लिये, पुलिस, अहिंसा के लिये, डाक्टर की चीरा फाडी-अहिंसा के लिये, सब बचाने के लिये हैं, रक्षा करने के लिये है। कोई हिंसा के लिये नही है। कानून, विधानसभाये, मत्री आदि सभी अहिंसा के लिये हैं, पर मिलावट करने वाला व्यापारी हिंसक है, उसकी क्रिया हिंसा के लिये है। सिर्फ प्राणी को मारने मे ही हिंसा नही है, मिलावट करना भी हिंसा का एक रूप है। अहिंसा से ही यह दुनिया बची हुई है, सुरक्षित है।

१६६६ मे मैं जब दिल्ली मे था, जापान से एक दल वहाँ आया हुआ था। अरविन्द आश्रम के कार्यकर्ता उन्हे मेरे पास ले आए। मैंने उन्हे धर्म की एक पुस्तक देनी चाही। उन्होने पूछा "यह काहे की पुस्तक है ?" मैंने कहा-धर्म की है। उन्होने कहा-"हम तो नौजवान है, हम तो धर्म को मानते ही नही हैं।" मैंने कहा कि दुनिया मे कोई भी आदमी ऐसा नही जो धर्म को नही माने। उन्होने कहा—"जब हम मना कर रहे हैं तब आप इस प्रकार कैसे कह रहे हैं ?" तब मैंने कहा –"कोई आपके सिर पर लाठी मारे तो आपको कैसा लगे ?" उन्होने कहा—"यह तो हमे बहुत बुरा लगेगा।" मैंने पूछा और कोई उस पर पट्टी बाधे तो ? उन्होने कहा—"यह तो अच्छा लगेगा।" मैं बोला—"बस यही तो धर्म-अधर्म है।" तब वे बोले—धर्म ऐसा है तब तो हम मानते हैं। मैंने कहा—(धर्म) ऐसा ही तो है। हम धर्म को विधि-विधान मे, डिब्बे मे बन्द करके नही रख सकते, धर्म तो बहुत विशाल है, आकाश से भी अनन्तगुणा विशाल ? उसमे से थोडा जीवन मे उतार ले, उसमे स्नान कर आत्मा को पवित्र बनालें तभी लाभ है।

अहिंसा, विशाल है, समस्त चीजें, कार्य, अहिंसा के लिए है। सीमा पर सेना खडी है, हिंसा के लिए नही, हमारी कोई हिंसा करे उसे रोकने के लिए है। कहा तक बतायें—रगीन चश्मा लगाते हैं, आखो को बचाने के लिए, आखो की पलको पर बालो की सेना–आखो मे कोई धूल कण आदि न घुस जायें इसलिए है अर्थात हर वस्तु रक्षा के लिए ही हैं।

अहिंसा के लिए जब तक हम उदार दृष्टिकोण से नही देखेंगे, अध्ययन-मनन नही करेंगे, तब तक अहिंसा को मूर्तरूप नही दे सकेंगे। इसके लिए महावीर ने अनेकान्त दृष्टि दी है। महावीर ने कहा कि कौआ केवल काला नही है, (धवला ग्रन्थ)। केवल काला मानना एकान्तिक दृष्टिकोण है। कौआ पख की दृष्टि से काला, हड्डी की दृष्टि से सफेद, रक्त की दृष्टि से लाल, पित्त की दृष्टि से पीला व नसो की दृष्टि से नीला है। ऐसे पचरगी कौए को आप केवल काला कैसे कह सकते है ? क्या आपके काला कहने से उसके शरीर व रगो व चीजो का निषेध हो जायेगा ? वे नष्ट हो जायेंगी ? एकान्त से नही, हर चीज को अनेकान्त से देखो। विचार मे अनेकान्त, आचार मे अहिंसा, वाणी मे स्याद्वाद यही समाज के अन्दर सर्वोदयी तीर्थ है। यही मानव के अभ्युदय का कारण है।

भारत एक विशाल देश है। यहा नाना धर्म, सम्प्रदाय है। जैसे माली बाग मे जाता है, गुलदस्ता बनाता है। उस गुलदस्ते मे सफेद, लाल, गुलाबी, नीला-पीला सब रग के फूल सजाता है और भेट करता है, उसी प्रकार सारे सम्प्रदाय, नयो का समन्वय कर समस्त विचारधाराओ को अनेकान्त से एकता सूत्र मे बाध, एक गुलदस्ता बनायें, ऐसे गुलदस्ते को बनाने की कला सीखें, माली बनें। एकान्त को लेकर न चले। जैसे माली गुलदस्ते के लिए सब पेडो से लाभ लेता है, उसी तरह हम भी सब सम्प्रदायो से लाभ ले। भारत एक बगीचा है, हम सब माली है। माली का कर्तव्य है कि वह सुन्दर गुलदस्ते बनाये, जिसे पाने वाला खुश हो जाये। अत हम अनेकान्त को धारण करें।

भारतवासी बुद्धिमान बनें। उदारविचार वाले बनें। हमे केवल स्वय को ही नही जीना, अपितु विशाल विश्व के मानव मात्र के कल्याण के लिए कार्य करना है। इस लक्ष्य के साथ कार्य करेंगे तभी भारत अपने पुराने आदर्शों को पुनर्स्थापित कर सकेगा।

विश्व धर्म की जय



अहिंसा व अराजकता उन्मूलन हेतु अनुशासन की शिक्षा आवश्यक

सच्चा ज्ञान वही है जो दु खो को दूर करने मे सक्षम हो। वह ज्ञान किस काम का जो दु.ख दूर न कर सके? स्वतत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नही है। जव तक इस देश मे अहिंसा-सिद्धान्त को सिखाने-पढाने की व्यवस्था स्कूलो-कालेजो मे नही की जावेगी तब तक इस देश मे निरन्तर वढती हिंसा को कोई नही रोक सकता। ससार मे जितने जीव है, वे एक दूसरे का उपकार करके जी सकते हैं, अपकार करके कोई नही जी सकता, वह कभी शान्ति प्राप्त नही कर सकता।

दि० २४-१२-७८

उपकारक दृष्टि अपनाइए—

भव्य महानुभावो! मैं भारत के अनेक प्रदेशो मे भ्रमण करता रहा हूँ। भ्रमण के दौरान मुझे कही कोई कठिनाई नही हुई। मैं जब हिमालय की यात्रा पर था, तो अनेक लोगो ने मुझे आगे जाने के लिये मना किया कि वहा सर्दी वहुत है, रास्ते मे वर्फ ही वर्फ है, रहने के लिये स्थान नही मिलेगा। परन्तु मैं आगे वढ चला। पूरी यात्रा के दौरान वहा की जनता, पुलिस चौकी वाले, सभी रहने के स्थान आदि की व्यवस्था करते रहे। **अपने मन मे यदि दूसरो के प्रति सद्भावना है, दूसरे की कठिनाई मे सुविधा प्रदान करने की भावना है, तो उसके मार्ग मे किसी भी प्रकार की अडचन या बाधा नहीं आ सकती, यह मेरा दृढ विश्वास है।** जब हम दूसरो को सहयोग देंगे, तभी हमे दूसरो का सहयोग मिल सकेगा। तत्वार्थसूत्र मे कहा है—'परस्परोपग्रहो

जीवनाम्'। ससार मे जितने जीव हैं, वे एक दूसरे का उपकार करके जी सकते है, अपकार करके कोई नही जी सकता। अपकार करने वाला कभी शांति प्राप्त नही कर सकता।

झोपडियो की वस्ती मे, यदि एक झोपडी मे आग लग जाती है तो पास की सव झोपडियो के निवासी आग बुझाने के लिये तत्पर हो जाते हैं, इसलिये नही कि अमुक की झोपडी मे आग लगी है, अपितु इसलिये कि कही यह आग फैलकर मेरी झोपडी तक न पहुच जाये। इस प्रकार हम जो भी कार्य करते हैं उसमे स्वहित की भावना तो होती ही है, साथ ही परहित की भावना भी होनी चाहिये।

स्व-परहित से ओतप्रोत (भगवान महावीर के) अहिंसा सिद्धान्त मे विश्व का तत्वज्ञान निहित है। सव्जी काटते समय महिलायें चाकू से अपनी अगुली बचाकर कार्य करती हैं। यदि चाकू लग जाता है तो दु ख मनाती हैं, उसका उपचार करती हैं। जव इतने से चाकू की इतनी सी चोट से इतना कष्ट होता है, तव आप दूसरों को कष्ट देने की वात कैसे सोचते है ? दूसरो को किस अधिकार से कष्ट देते हैं ? जव छोटे से मच्छर के काटने पर खटमल के काटने पर, आप विचलित हो जाते हैं तो दूसरो की हिंसा की, हत्या की वात आपके मन मे कैसे आती है ?

जव तक इस देश मे अहिंसा के सिद्धान्त को सिखाने-पढाने की व्यवस्था स्कूलो व कालेजो मे नहीं की जावेगी तव तक इस देश मे निरन्तर बढती हुई हिंसा को कोई भी नहीं रोक सकता। आज देश मे सर्वत्र आग लगाना, सरकारी भवनो की तोड-फोड करना आम वात हो गई है। क्या यही हमारी आजादी का अर्थ है कि घर फू क कर तमाशा देखें ? यह सव अपराध है, हिंसा है। जव तक हम कर्त्तव्य-पालन की शिक्षा नही देंगे, कर्त्तव्य पालन नही करेंगे जव तक देश का दूपित वातावरण ठीक नही हो सकता। दूसरे देशो मे छोटे-छोटे वच्चो को अनुशासन की शिक्षा दी जाती है, पर भारत मे इसका नितान्त अभाव है। यहा पर किसी प्रकार का अनुशासन नही है। यहा राह मे चलते हुये इधर-उधर कूडा फेंक देते है, जैसे हर व्यक्ति सडक का मालिक है। सत्य यह है कि हम आजादी का अर्थ नही समझते। आप्त-मीमासा मे आचार्य ने लिखा है कि **स्वतत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता से नहीं है।** दूसरे को वाधा पहुचाना स्वतत्रता नही है। दूसरे को वाधा पहुँचाना, उसकी स्वतत्रता मे वाधक वनने का तात्पर्य है कि वह स्वतत्रता की कीमत नही जानता है।

हमारे देश को, हमको आजादी तो मिल गई, हमने काटो को तो उखाड दिया, पर अब केशर वोने के वजाय काटे वो रहे है, वबूल वो रहे हैं। गुलाब की पौध के स्थान पर विपवृक्ष वो रहे हैं, जो हमारे लिये अत्यन्त घातक है।

भारत भूमि मे दयाभाव, आतिथ्यभाव सदैव से सबमे विद्यमान है। पर आज वह अभिव्यक्त नही है, लुप्त होता जा रहा है। उसे जगाने के लिये हमे वैज्ञानिक ढग से शिक्षा देनी होगी। पहले अध्यापक वच्चो को पढाई के साथ-साथ सफाई से रहने की शिक्षा भी देते थे। पर आज केवल अक्षर ज्ञान कराना ही पर्याप्त मान लिया जाता है। केवल अक्षर ज्ञान होना, वडी-वडी डिग्रिया ले लेना ही पर्याप्त नही है। शिक्षा से विवेक की ज्ञान की वृद्धि होनी चाहिये। ज्ञानवान व्यक्ति कभी दु खी नही होगा, गलत कार्य नही करेगा, क्योकि ज्ञान सदैव दु ख को दूर करता है। वह ज्ञान किस काम का जो दु ख दूर नही कर सके ? सच्चा ज्ञान वही है जो दु खो को दूर करदे। विपम परिस्थितियो मे सतप्त न हो, धैर्य न खोये, समता भाव रखे तो दु ख अनुभव ही न हो। आज बडी वडी डिग्रिया ले लेने पर भी विद्यार्थियो को ज्ञान प्राप्त नही होता, उनका दु ख दूर नही होता तो वे वसो को आग लगा देते है, रेल की पटरिया उखाडते है और भी अनेक अनीतिपूर्ण कार्य करते है।

वडी-वडी डिग्रियो को प्राप्त कर मनुष्य को मनुष्य बन कर रहना चाहिये। मनुष्य ने उन्नति कर आकाश मे पक्षी की भाति उडने के लिये हवाई जहाज वनाये, समुद्र मे मगरमच्छ से भी तीव्रगति से चलने के लिये पनडुब्विया वनाई, पर मनुष्य को मनुष्य वनकर सडक पर चलना नही आया। वताइये, ऐसी वैज्ञानिक उन्नति का क्या लाभ है ? विज्ञान, विशेष ज्ञान का नाम है, पर आज विज्ञान-अज्ञान रूप मे परिवर्तित हो रहा है। विज्ञान वही है जो स्वय के साथ पर का भी लाभ करे, विध्वस नही। भगवान आदिनाथ ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वय को सुधारले तो दुनिया सुधर जाये, और यदि दूसरो को सुधारने की कोशिश करें, स्वय पहले न सुधरें तो सभी ठन-ठन रह जायेंगे, कोई भी नही सुधर पायेगा।

प्रत्येक प्राणी के प्रति दया भाव, अहिंसक भाव के कारण—महावीर महावीर बने। महावीर की अहिंसा हमे निर्माण सिखाती है विध्वस नही। इस सृष्टि मे जितना उपकार पशु-पक्षियो ने मानव पर पर किया है उतना मानव—मानव पर नही कर सका है। मानव जाति ने इतनी मात्रा मे किसी को जल पिला कर तृप्त नही किया होगा जितना गौवश ने मानव जाति को दूध पिला

कर पोषण दिया है। ऐसे परोपकारी मूक पशु-पक्षियो को मारने, आगजनी आदि से हिंसा फैलाना कहा तक शोभनीय है।

सम्राट अशोक ने अहिंसा के प्रसार के लिये जगह-जगह शिलालेख लिखे हैं। दिल्ली-कोटला मे अशोक का शिलालेख है कि मेरे राज्य मे निर्ग्रन्थ मुनि व अन्य जो भी साधु इधर-उधर घूमें, विहार करें, मेरे मात्य, अमात्य और महामात्य सव ऐसी व्यवस्था करे कि उन्हे कोई वाधा अथवा कष्ट न हो। उसी महान् अहिंसक सम्राट का चक्र हमारे देश के ध्वज के वीच शोभायमान है।

अत हमे सवके प्रति दया, अहिंसा के भाव रखने चाहिये। उपकारक दृष्टि होनी चाहिये। पेड भी छाया, फल, फूल इत्यादि प्रदान करता है तो क्या मनुष्य पेड से भी गया वीता है? नही, यदि प्रत्येक मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन करे, स्व पर रक्षा के भाव रखे तो देश खुशहाल हो सकता है।



षट् लेश्या : जैन दर्शन में भावनाओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

मन मे जैसे विचार होगे, जैसे परिणाम होगे, शरीर से वैसो ही आभा निकलती है। मन के भावो की श्रेणियाँ ही लेश्याये हैं। मन पर जब लेश्याये तैनात होती हैं, तव उस पर धर्म ही एक अकुश लगा सकता है। मन, कषाय और कर्म द्वारा आत्मा को विकृत कर लेता है। प्रत्येक आत्मा मे बीजरूप मे अहिसक भाव विद्यमान है। बिना दया के धर्म का प्रारभ ही नही है। आन्दोलनो की तह मे देखिये—आप अपना कर्त्तव्य कितना निभाते है ?

तत्वार्थ—सूत्र मे जीव के पाच भाव बताये हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारणामिक। जैसे कार-चालक गियर बदलता है उसी प्रकार हमारा मन भी भाव रूप गियर बदलता है। कर्मों के उदय से आत्मा मे जो शुभ-अशुभ भाव उदय होते हैं वे औदयिक भाव हैं। जैसे हवा से जल मे तरगे उठती है उसी प्रकार मन की चचलता के कारण अनेक भाव उठते है, उदय होते हैं। ये औदयिक भाव ही सस्कार का कारण है। धवला, गोम्मट-सार ग्र थो मे कहा गया है कि मन के तीव्र कषाय के द्वारा और कर्मों के द्वारा आत्मा अपने को विकृत कर लेता है, औदयिक भावो से लिप्त कर लेता है, वह ही लेश्या है। लेश्या के मुख्यत द्रव्य लेश्या, भाव लेश्या दो भेद हैं, तथा तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम भेद से लोक प्रमाण (अनन्त) भेद हैं। जैसे एक ही रग मे हल्का, अधिक हल्का, गहरा, अधिक गहरा इस प्रकार अनेक भेद हैं उसी प्रकार मन के भावो के भी अनेक भेद हैं। समझाने की दृष्टि से आचार्यो ने लेश्याओ के ६ भेद बताये हैं—

(१) कृष्ण लेश्या (२) नील लेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या व (६) शुक्ल लेश्या।

कृष्ण लेश्या :

आर्त्त रौद्रः सदाक्रोधी मत्सरो धर्मवर्जित ।
निर्दयो वैर संयुक्तो कृष्ण लेश्यायुतो नरः ।।

कृष्ण अर्थात् काला। जिसके भाव काले है, जिसका मन काला है वह कृष्ण लेश्या वाली आत्मा है। यद्यपि किसी के मन को हम चर्म चक्षुओ के द्वारा नही देख सकते पर उसके भाव-भगिमाओ, चेष्टाओ से उसके तीव्र-कषाययुक्त भावो का अनुमान कर जान लेते हैं, पहचान जाते है। जिस प्रकार यत्र से ब्लडप्रेशर की मात्रा का ज्ञान होता है, उसी प्रकार हमारे आचार्यों ने, जीव के आचार-व्यवहार से उसके मनोभावो का पता लगाया है। मन की परिस्थितियो को जानने के बाद हम अपने मन को टटोल सकते हैं कि हमारे भाव किस श्रेणी मे, किस लेश्या मे है। इससे आचार सुधारने मे सहायता मिलती है।

आचार्य वताते हैं कि **कृष्ण लेश्या वाले का मन सदैव आर्त्त रौद्र ध्यान मे रहता है, निकृष्ट विचारो से युक्त होता है, सदा क्रोधी होता है।**

जहा भी जाये क्रोध ही करता रहता है। निर्दयी होता है, सदैव वदले की भावना के वशीभूत रहता है, धर्म विरोधी होता है। धर्म की वात समझ ही मे नही आती है उसे। क्रोधी और निर्दयी होन के कारण कृष्ण लेश्या वाला जीव स्वय का जीवन समाप्त कर लेता है और दूसरो का भी कर देता है।

एक वार युद्ध के लिये तत्पर हिटलर के पास ब्रिटिश मत्री चेम्वरलेन समझौते की वात करने पहुँचे और वोले कि अव और सहार करने पर क्यो उतारु हो रहे हो ? चलो समझौता कर लो। हिटलर समझौते के लिये तैयार नही हुआ। इससे निराश हुये चेम्वरलेन ने पूछा कि क्या तुम्हारे पास इतने भीषण नर सहार के वाद भी पर्याप्त तैयारी है ? इसके उत्तर मे अपनी तैयारी, हुकूमत दिखाने के लिये हिटलर ने सकेत से अपने एक सेवक को वुलाया और कहा कि तुम्हे इसी क्षण तीन मजिल से कूदकर दिखाना है। सेवक ने तत्क्षण आज्ञा पालन की और प्राण दे दिये।

अपने अह के कारण उसने एक सेवक को घास फूस की भाति समझ

उसके प्राण हर लिये। अपनी मान कषाय की पूर्ति हेतु ऐसा अमगलाचरण किया। दो महायुद्धो मे विश्व के १० करोड ३० लाख व्यक्ति मारे गये।

दूसरी ओर भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा राजेन्द्रप्रसाद का उदाहरण है जिन्होने जाडे मे ठिठुर कर सोते हुये अपने वृद्ध सेवक को, नीद मे बाधा न हो तथा ठिठुर न जाये इस भावना से एक कीमती शाल ओढा दिया। प्रात जब सेवक उठा तो उसने अपने ऊपर कीमती शाल पडा देखा। इतना कीमती शाल देखकर उसे डर लगा कि इस बुढापे मे चोरी का दोष न लग जाय। इस भय से वह रोने लगा। उससे रोने का कारण पूछा गया। तब राजेन्द्रप्रसादजी ने रोते हुये उस वृद्ध सेवक को बताया कि शाल मैंने ओढाया था, तुम डरो मत। तुम्हारी आत्मा और मेरी आत्मा समान है, मुझमे व तुझमे कोई अन्तर नही।

कृष्ण लेश्या वाला इतना निर्दयी होता है कि अपने अहिंसक स्वभाव को भूलकर अपनी ही रक्षाकर दूसरो को घास-फूस की भाति कुचल देता है। वह सदा वैर-भाव से युक्त रहता है, उपकार भी करता है तो वैर-भाव से ही, सदैव अपकार मे ही तत्पर रहता है। यह लेश्या नरकादि का कारण है। **वैर करने से पहले स्वय के भाव बिगडते हैं। जैसे कोयले से किसी का मुह काला करने से पूर्व स्वय का हाथ काला होता है। वैर-भावी होने के कारण कृष्ण लेश्या वाला प्राणी दूसरे का बुरा कर सके या न कर सके पर स्वय के भाव अवश्य बिगाड़ लेता है।**

नील लेश्या :

आलस्यो मन्दबुद्धिश्च स्त्रीलुब्धश्च प्रवंचकः।
कातरश्च सदा मानी नीललेश्यायुतो नरः॥

नील लेश्या वाला प्राणी आलसी, मद बुद्धिवाला होता है। मद बुद्धि के कारण धर्म की बात तो दूर, कोई भी बात उसके समझ मे नही आती। उसके सारे कार्य ससार-भ्रमण निमित्त ही होते हैं। मिथ्या दृष्टि होने के कारण वह अत्यन्त कायर होता है। सम्यग्दृष्टि जीव सप्तभयो से रहित होते है, पर यह मान कषायी होता है। अपने शैक्षणिक काल मे हमने अपने सस्कृत अध्यापक से पूछा कि—अक्षर बडा होता है और बिन्दी छोटी, तब भी यह बिंदी अक्षर के ऊपर चढ़कर बैठ जाती है ऐसा क्यो? उन्होने बताया कि छोटा आदमी ऊपर बैठकर खुश होता है और बड़ा आदमी जहां भी बैठेगा

वहीं खुश रहेगा, उसे ऊँच-नीच का फरक नहीं पडता। नील लेश्या वाला प्राणी मान कषाय के कारण ही उपद्रव, फूट, बैर आदि उत्पन्न करता व कराता है। वर्तमान की सारी समस्याये मान कषाय के कारण हैं। मान कषाय के कारण ही हिंसादि होती है। इस लेश्या वाला यही सोचता रहता है कि—मैं ऐसा, मैं ऐसा, कही मेरे मान को ठेस न पहुचे, इसकी सारी क्रियाये अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ का पोषक होती हैं।

तिब्बत मे लामाओ के मठ मे एक मठाधीश बैठे थे। एक धनाढ्य व्यक्ति एक परात मे धन, हीरे-जवाहरात भेंट करने हेतु लाया। वही बैठे शिष्य ने मठाधीश को वह भेंट लेने से मना किया। मठाधीश ने लालच मे आकर यह कहकर भेट स्वीकार करली कि यह वहुत भक्तिपूर्वक लाया है, अत इन्कार नही करना चाहिए। भेंटकर्ता के जाने के पश्चात् गुरु ने शिष्य से भेट स्वीकार न करने का कारण पूछा। शिष्य ने कहा—गुरुवर! जव यह व्यक्ति भेंट चढा रहा था तव उसके शरीर के चारो ओर नीला रग फैल रहा था, जिससे ज्ञात होता है कि यह व्यक्ति किसी स्वार्थ से, लोभ से वहा आया था। गुरु ने इस वात पर विशेष ध्यान नही दिया। इस घटना के एक महिने पश्चात् वह व्यक्ति पुन आया और मठाधीश से बोला—आप वहुत उदार हैं, आपके पास वहुत जमीन जायदाद है। मुझे यह सामने की जमीन चाहिये, कृपया दे दे। अनुनय-विनय करने पर मठाधीश ने जमीन दे दी। उसने वहा एक विशाल मदिर वनवाकर खूव प्रभावना प्रारम्भ करदी। धीरे धीरे मदिर की प्रसिद्धि वढने लगी और मठ की प्रसिद्धि कम होने लगी। तव मठाधीश ने शिष्य से कहा कि—तुम ठीक कहते थे। वह व्यक्ति लोभ, स्वार्थ के वशीभूत यहा आया था और वह नीली आभा जो उसके शरीर के चारो ओर फैल रही थी वह लोभ-स्वार्थ का प्रतीक थी।

मन मे जैसे विचार होगे, परिणाम होगे, शरीर से वैसी ही आभा निकलती है। तभी तो तीर्थकर जिधर भी जाते हैं उनकी शुक्ल लेश्या के कारण वाह्य वातावरण भी अत्यन्त स्वच्छ व निर्मल हो जाता है।

कापोत लेश्या :

शोकाकुल· सदारुष्ट: पर निन्दात्मशसक।
सग्रामे प्रार्थते मृत्यु कापोतोऽयमुदाहृत.॥

इस लेश्या के प्रभाव से प्राणी सदैव शोकाकुल प्रकृति वाला, सदा रुष्ट रहने वाला, परनिन्दक होता है। छोटी-छोटी वात पर रोना, शोक

निमग्न रहना, चाहे कितनी ही अनुकूलता क्यो न प्राप्त हो, फिर भी सदा रुष्ट रहना ही इसका स्वभाव होता है। इस लेश्या वाला प्राणी परनिन्दक, दूसरो के गुणो को अवगुण सिद्ध करता है, अपने अवगुणो को भी गुण बताता है, अपनी ही प्रशसा करता है। लडाई-झगडे करना, औरो को झगडाने मे निमित्त बनना, इस लेश्या वाले प्राणी का स्वभाव होता है। जैसा कि असुर कुमारो का स्वभाव होता है।

उपर्युक्त तीनो लेश्याये अशुभ लेश्यायें हैं, चतुर्गति भ्रमण का कारण है। कुगति की ओर ले जाने वाली है। शेष तीन लेश्यायें शुभ लेश्याये हैं।

पीत लेश्या :

प्रबुद्ध. करुणायुक्त कार्याकार्यविचारकः ।
लाभालाभे सदाप्रीतः पीतलेश्यायुतो नर ।।

इस लेश्या वाला मनुष्य सात्विक-वृत्ति वाला होता है, प्रबुद्ध, करुणा-युक्त होता है। प्रत्येक बात तथ्य को सोच समझकर बुद्धि से ग्रहण करता है। यह करुणा से ओत-प्रोत होता है।

जीवन्धर राजकुमार—तद्भवमोक्षगामी, पूजा को जाते समय रास्ते मे घायल कुत्ते को देख कर ठहर जाते है, कुत्ते को गोद मे ले णमोकार मत्र सुनाते है, कुत्ते को हेय प्राणी समझ दुत्कारते नही है।

पीत लेश्या वाला मनुष्य इतना करुणावान होता है कि प्रत्येक आत्मा को अपनी आत्मा के समान समझता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने जलते हुये नाग-नागिनी को उनके जहरीले होने की परवाह न करते हुये भी णमोकार मत्र सुनाया। कुत्ते व नाग-नागिनी मे महापुरुष अपने समान आत्मा जान उनके भव व भाव सुधारने मे निमित्त बने हैं।

इस लेश्या वाला प्राणी कार्य-अकार्य का विचार करके ही कार्य करता है। स्वय के लाभ के साथ दूसरे के लाभ-अलाभ का भी वे ध्यान रखते हैं। तराजू की भाति स्व व पर दोनो के प्रति समान दृष्टिकोण रखते हैं। लाभ-अलाभ (हानि) मे मध्यस्थ भाव रखता है। इस लेश्या वाले प्राणी का समस्त प्राणियो मे वात्सल्य भाव रहता है। मिथ्या दृष्टि का तिरस्कार न कर उसे भी उपदेश देता है, क्योकि उपदेश की आवश्यकता तो उसे ही है।

जो कपड़ा मैला है उसे ही तो साबुन पानी से स्वच्छ करने की आवश्यकता है। स्वच्छ कपडे को साबुन पानी की क्या आवश्यकता है ?

पद्म लेश्या :

दयाशील सदा त्यागी देवतार्चनतत्पर: ।
शुचिभूत सदानन्द. पद्मलेश्यायुतोनर ।।

पद्म लेश्या वाले मनुष्य का मन अत्यन्त कोमल, निर्मल, दयालु होता है। **विना दया के धर्म का प्रारभ ही नहीं है।** हमारी सस्कृति का आधार-स्तभ दया ही है। लौकिक साधारण व्यक्तियो मे भी दया, आशिक रूप मे ही मही, पर रहती अवश्य है। आध्यात्मिक प्राणियो मे तो दया का उत्तरोत्तर रूप देखा जाता है, वे तो दया के सागर होते हैं।

नाटक समयसार के रचयिता कविवर वनारसीदास रात्रि मे सो रहे थे। घर मे कुछ वोरिया, काली मिर्च से भरी रखी हुई थी। रात मे कुछ चोर आये और वोरिया ले जाने लगे। कविवर जाग गये किन्तु वोले कुछ नही, चुपचाप देखते रहे। सारे चोर वोरिया लेकर चले गये, केवल एक चोर रह गया। उससे वोरी का वोझ उठाया नही जा रहा था। वनारसीदास उठे, सहारा देकर वोरी चोर के कवे पर रखवा दी और पुन सो गये। अन्तिम चोर से उसकी मा ने देर से आने का कारण पूछा तो चोर ने सव वृतान्त वता दिया। सवको आश्चर्य हुआ कि ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने स्वय ही अपना माल चोर के हवाले कर दिया। पूछ-ताछ करने पर ज्ञात हुआ तो वहुत पश्चाताप हुआ कि इतने सज्जन पुरुष के घर क्यो चोरी की ? मा ने आज्ञा दी कि वनारसीदास का सारा माल वापस करो।

इसी प्रकार जो हाथी छाती पर पैर रखने जा रहा है—उस हाथी के प्रति भी दया कर कहना कि अरे गजराज ! तुम क्यो नही मुझ पर पैर रख देते हो ? क्यो मेरे लिये वार-वार अकुश खाकर भी इन्कार कर रहे हो ! कितने दया युक्त विचार थे—पडित टोडरमलजी के।

टोडरमलजी के मोक्षमार्ग प्रकाशक मे लिखा है कि—मिथ्यादृष्टि जीवो पर उपकार करना ही उत्तम उपकार है। उनको सम्यक्ज्ञान का उपदेश देना चाहिये क्योकि अशुद्ध को ही तो शुद्धत्व की ओर ले जाना है। जो स्वय शुद्ध हो उन्हे शुद्धत्व की ओर ले जाने का क्या अर्थ है।

जो आत्मा पद्म लेश्या वाला होगा वह दया का भडार होगा, वह निर्दयी नही हो सकता है। दया सर्वोत्कृष्ट गुण है। यदि दया नही होती तो तीर्थंकर के समवशरण मे पशु-पक्षी, दीन-हीन सभी को समान स्थान कैसे प्राप्त हो सकता था ? दया नही होती तो उस शेर को जो भावी तीर्थंकर है, मुनिराज कैसे उपदेश देते ?

इस लेश्या वाला सदा त्यागी होता है। जैसे सस्कारी वालक दूसरे की वस्तु—अपनी नही है, अपने लिये त्याज्य है यह समझकर त्याग देता है। वैसे ही ज्ञानी पद्म लेश्या वाले प्राणी क्रोध, मान, माया व लोभ, इन औदयिक भावों को, अवगुणो को मेरे नहीं हैं ऐसा जानकर त्याग देता है। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार की गाथा ३५ मे त्याग को भली भाति समझाया है।

पद्मलेश्या वाला प्राणी भगवान की पूजन अर्चन-दर्शन मे पर्याप्त रुचि रखता है। देव-अर्चना मे तत्पर रहना आसन्न-भव्य का लक्षण है। यह सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया है। जो आत्मा-परमात्मा को, तत्वज्ञान को रुचि पूर्वक, श्रद्धापूर्वक मानता है सुनता है वह निश्चित रूप से आसन्न भव्य है।

जो जिनेन्द्र भगवान के दर्शन-पूजन-अर्चन विना अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करता है उसका जीवन सर्वथा व्यर्थ है कृष्ण, नील, कापोत व पीत लेश्या वाले जीव देव-अर्चना मे तत्पर नही होते हैं। पद्मलेश्या वाला जीव निश्चित रूप से देव-अर्चना मे तत्पर होगा।

जिनेन्द्रदेव का दर्शन-पूजन हम स्वय के चित्त की शुद्धि के लिये करते हैं। भगवान के दर्शन कर हम भगवान पर कोई उपकार नही करते, स्वय का उपकार करते हैं।

शुक्ल लेश्या :

रागद्वेषविनिर्मुक्तो शोकनिद्राविवर्जितः।
परात्मभावसम्पन्न शुक्ललेश्यायुतोनर ॥

शुक्ल लेश्या वाले प्राणी अन्तरग मे स्वच्छता निर्मलता व सदानन्द-युक्त होते हैं अर्थात् सर्वत्र आनन्द का वातावरण फैलाने वाले होते हैं। तीर्थंकर वालक का जन्म होता है उस क्षण पशु पक्षी, नारकी जीवो को भी शान्ति व आनन्द की प्राप्ति होती है। यह शुक्ल लेश्या के प्रभाव के कारण होता है। यह प्राणी (शुक्ल लेश्या वाला) रोग रहित होता है। राग सर्वाधिक खतरनाक है। इससे ही द्वेष उत्पन्न होता है।

सीता ने स्वर्ण-मृग पर राग किया, जिसके कारण रावण से द्वेष उत्पन्न हुआ। सीता को स्वय को वधन मे वधना पडा, अत्यन्त कष्ट भोगने पडे। आचार्य ने अष्टसहस्री मे लिखा है कि राग और द्वेष मोह की सन्ताने है जो ज्ञान मोह से रहित है वही मुक्ति का दाता है।

शुक्ल लेश्या वाला प्राणी शोक रहित होता है। शुक्ल लेश्या के धनी तीर्थंकर जिस वृक्ष के नीचे वैठे थे वह वृक्ष ही 'अशोक वृक्ष' कहलाने लगा अर्थात् 'शोक रहित वृक्ष'। इस लेश्या वाले प्राणी को निद्रा भी कम आती है। शुक्ल लेश्या मे वीतराग भाव प्रधान रहता है।

भारत के इतिहास मे भरत व राम का त्याग अतुलनीय है। वनवासी राम के आग्रह पर भी भरत राज्य करने को तैयार न हुये, राम से खडाऊ मागकर उसको सिंहासन पर रखकर इस भावना से कि राज्य राम का है, इसलिये राम ही कर रहे हैं, खडाऊ सेवक की तरह कार्य किया। राम यह सोच रहे है कि राज्य भरत कर रहे हैं। इस प्रकार दोनो ही राज्य के राग मे लिप्त हुये विना ही अप्रत्यक्ष रूप से राज्य करते रहे।

हमे भी प्रत्येक कार्य मे आसक्ति को कम रखना चाहिये। अपने परिणामो को उज्ज्वल वनाना चाहिये। यदि हम किसी को जीवन दान न दे सके तो किसी के प्राण हरने की चेष्टा तो नही करनी चाहिये। यदि किसी का उपकार न कर सके तो कम से कम अपकार तो नही करना चाहिये।

कर्त्तव्य पालन ही धर्म है :

दया, प्यार व समताभाव रखना इसी का नाम सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि धर्म से ओतप्रोत होता है। धर्म प्रत्येक आत्मा के साथ है। वह कही छोडा नही जाता। वह सदैव आत्मा मे ही रहता है, हमे उसका पालन करना चाहिये। हम स्कूल-कालेज, आफिस जहा कही भी हो, वही हमे अपने धर्म का, कर्त्तव्य का पालन करना चाहिये। आफिस मे जाकर कार्य करने पर पूरे एक-एक मिनट का पैसा सरकार से वसूल किया जाता है। समय पर पैसा न मिलने पर आन्दोलन किये जाते हैं। पर क्या कभी यह सोचा भी है कि फिर ५-१० मिनट देर से पहुंचने पर उस समय का पैसा हम किस अधिकार से ले रहे हैं ? आन्दोलनो की तह मे देखिये कि आप अपना कर्त्तव्य कितना निभाते हैं ?

कर्त्तव्य पालन से ही मानव महान् वनता है। राम ने कर्त्तव्य निभाया, सीता ने भी अपना कर्त्तव्य निभाया और महान् हो गये।

धर्मपरायण महिला वही है जो विपत्ति के समय अपने परिवार पर आने वाले कष्टो मे भी अपना कर्त्तव्य न छोडे और दोनो घरानो को ऊचा उठावे। वनवास मे सीता ने राम से कहा कि विपत्तियो मे मुझे आगे चलना चाहिये और सम्पन्नता मे आपके पीछे। अभी मैं आगे रहकर मार्ग के काटो, ककरो को अपने पैरो से कुचलती चलू गी। सीता ने अग्निपरीक्षादि सव कष्टो के लिये स्वय को दोष दिया, राम को निर्दोष वता अपने कर्त्तव्य व धर्म मे दृढ रही।

धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति विशेष की सम्पत्ति नही, प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। वादिवृषभ—आचार्य ने स्याद्वाद मे लिखा है कि प्रत्येक आत्मा मे अहिंसा विद्यमान है।

गाधीजी के गोली लगने व उससे मरने के समाचार को अमेरिका की आठ वर्षीया वालिका ने रेडियो पर सुना। उसने अपनी मा से पूछा—मा यह क्या हुआ? मा से पूर्ण तथ्य ज्ञात होने पर वह भोली वालिका वोल उठी—मा यदि मानव को गोली वनाना न आता, राइफल वनाना न आता तो कितना अच्छा होता? कहा से आये उसके मन मे दया के भाव? आचार्य ने कहा है कि **प्रत्येक आत्मा मे बीजरूप मे, मूल मे, अहिंसक भाव विद्यमान हैं, वह आत्मा की सम्पत्ति है**। उन्होने कहा कि कोई प्राणी सर्वथा हिंसक नही है। कसाई भी आशिक अहिंसक है क्योकि वह भी अपने पाले हुये कुत्ते को मारने नही देता। अपने वच्चो की सुरक्षा करता है, जहा वह भक्षक है—दूसरे रूप मे वह रक्षक भी है, जहा रक्षक है वही दूसरे रूप मे भक्षक भी है। आचार्य ने बहुत मनोवैज्ञानिक ढग से इसका विवेचन किया है। शेर अपने वच्चे को दात से पकडकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है, पर इससे उस वच्चे को जरा सा भी कष्ट नही होता, क्योकि वहा उसके रक्षक के भाव हैं। अहिंसक होने के कारण शेर का नाम हिंस था पर वाद मे व्याकरण-विपर्यय के कारण सिंह प्रचलित हो गया। जो दूसरे के प्रति हिंसक है वह भी अपने बच्चे—परिवार के प्रति अहिंसक है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा मे अहिंसक भाव प्राकृतिक है। किसी ने उसे विकसित किया है—किसी ने नही। इसलिये हम सर्वथा किसी को हिंसक नही कह सकते, कथचित् अहिंसक भाव उसमे सत्ता रूप मे है, कथचित् पूर्ण अहिंसा भी मौजूद है, पर उदय मे थोडे से भाव हैं।



दर्शन-ज्ञान-चारित्र के योग से ही आत्म-कल्याण सम्भव....

ज्ञान और चारित्र दोनो एक दूसरे के बिना पगु है। ज्ञान के साथ जब तक क्रिया नही हो तब तक कोरा ज्ञान सार्थक नही है। आत्मा को जानने के लिये अनात्मा को जानना-समझना आवश्यक है। आत्मा के विचार, पर्याय नष्ट होते है विचारने वाली आत्मा कभी नष्ट नही होती।

जैनाचार्यों ने एक महत्त्वपूर्ण बात सबके सामने रखी कि "मैं कौन हूँ ?" इसे पहचानना मुमुक्षुओ के लिये अत्यन्त आवश्यक है। भगवान् महावीर के समवशरण मे गौतम गणधर ने जब प्रवेश किया तो उनके मन मे अनेक शकायें थी, उनके समाधान हेतु उन्होने भगवान् से पूछा—प्रभो ! कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा ज्ञानमय है, कुछ कहते हैं कि आत्मा नित्य है—शाश्वत है, कुछ कहते है कि यह नाशवान् है, कुछ कहते हैं कि इसका पुनर्जन्म होता है, मैं तो इनमे ही उलझ गया हूँ, सत्य क्या है ? मैं नही जानता। आत्मा के बारे मे इस प्रकार गौतम ने भगवान् से ६० हजार प्रश्न पूछे (जिनका व्याख्या-प्रज्ञप्ति ग्रन्थ मे वर्णन है, यह २ लाख २८ हजार श्लोक-प्रमाण ग्रन्थ है।) भगवान् ने उत्तर दिया कि पर्याय नष्ट होती है, आत्मा नही। जैसे समुद्र की तरगे नष्ट होती है, जल नही। उसी प्रकार आत्मा की पर्याय नष्ट होती है, आत्मा नही। आत्मा के विचार नष्ट होते है पर विचारने

वाली आत्मा नष्ट नही होती। नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती ने गोम्मटसार मे इसका वहुत मनोवैज्ञानिक ढग से वर्णन किया है। प० टोडरमलजी ने भी इसे वहुत ही सरल ढग से समझाया है। उन्होने वताया कि प्रकृति अपना स्वभाव कभी नही छोडती, इसके लिये उन्होने तीन उदाहरण दिये हैं—(१) अग्नि स्वभाव को लें, अग्नि का स्वभाव उर्ध्वगामी है, दियासलाई की तीली को जला कर देखें, उसे कैसे ही जलाये उसका रुख किधर भी रखें, उसकी लौ ऊपर की ओर हो जायेगी। (२) जल का स्वभाव अधोगामी है, यह सदैव नीचे की ओर जाता है और (३) वायु का स्वभाव तियकगामी है, यह सदा टेढा ही गमन करता है। यह इनका स्वभाव है यह स्वभाव से विमुख नही होते।

जीव का अनादि से कर्म के साथ सम्बन्ध है, जैसे सोने व किट्ट-कालिमा का योग रहता है। जीव क्या है ? यह प्रश्न बार-बार उठता है, क्योकि जीव दिखाई नही देता। इस सन्दर्भ मे प० टोडरमलजी ने समझाया है कि आपको जीव दिखाई नही देता इसलिये आप उसे नही मानते। आपके शरीर को हवा स्पर्श कर रही है, क्या आप उस हवा को देख पा रहे हैं ? क्या वह हवा आपको दीखती है ? जब हवा आपको दिखाई नही देती तो फिर आप उसको कैसे मानते हैं ? **आप उसका अनुभव करते हैं।** यह ठण्डी हवा है, यह गरम है, तभी तो विश्वास करते हैं। जैनाचार्यों ने बताया है कि हवा का स्पर्श मतिज्ञान है, उस हवा से जो सुख-दु ख हो उसकी अनुभूति श्रुतज्ञान है। पाचो इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ही जान सकती हैं, दूसरी इन्द्रिय के विषय को नही। मतिज्ञान अर्थात् इन्द्रिय ज्ञान के लिये मन का सयोग भी अत्यन्तावश्यक है, इन्द्रिय व मन के विना मतिज्ञान सम्भव नही है। कोई आपको आवाज देता है, आप दूसरे कार्य मे लगे हुये हैं, अत आपने आवाज तो सुनी पर आप उसे समझ न सके और इसलिये आप पुन पूछते हैं कि—हाँ आप क्या कह रहे हैं ?

जिस प्रकार स्वर्ण खान से निकलता है तब कालिमा युक्त होता है। विना निमित्त के वह कालिमा नही हट सकती। सोने को कालिमा से पृथक् करने के लिये उसमे उपादान शक्ति मौजूद हैं। हमे भी ज्ञान है, विश्वास है कि यह स्वर्ण है परन्तु फिर भी बिना निमित्त के वह शुद्ध नही हो सकता, उसके साथ निमित्त मिलाना होगा। इसी प्रकार आत्मा मे अष्ट कर्मों के रूप मे पुद्गल पिण्ड जुडे हुये हैं, उनको व आत्मा को पृथक् करने के लिये शास्त्रो

मे लिखी हुई विधि के साथ उस क्रम के अनुसार ध्यान करना ही होगा। आत्मा के साथ अनादि से जो विभाव स्थिति आ रही है उसे हटाने के लिये आचार्यों ने अपने अनुभव से विधि वताई है।

एक वीज है, उसे मिट्टी मे डालने से वृक्ष की उत्पत्ति होती है, उस वृक्ष से फिर वीज की उत्पत्ति। किन्तु यदि उस वीज को भून दें तो वीज की उत्पादक शक्ति समाप्त हो जायेगी। इसी प्रकार जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिये क्रिया साधना करनी होगी, राग-द्वेष को भूलने होंगे। यदि कोई व्यक्ति पाक-शास्त्र की किताव लेकर वैठे और कहे कि अमुक खाद्य पदार्थ मे इतना नमक, इतना मसाला, इतना घी आदि लगेगा, वस मैं जान गया और इतने पर ही वैठ जाये तो वह खाद्य पदार्थ तैयार नही हो सकता, क्योकि ज्ञान के साथ जव तक क्रिया, प्रैक्टीकल नही होगा तव तक कोरा ज्ञान सार्थक नही है। इसलिये आचार्यों ने वताया है कि शास्त्रो मे दी गई विधि के अनुसार क्रिया होने पर आत्म-कल्याण कर सकते हो। आत्म-कल्याण के लिये शुभ-अशुभ परिणामो को त्यागना होगा। शुभ परिणाम पुण्य वन्ध के कार्य हैं, अशुभ परिणाम पाप वन्ध के कार्य हैं और इन दोनो से परे शुद्धोपयोग मुक्ति का कारण है। इन शुभ-अशुभ और शुद्ध मे से जैनाचार्यों ने जैसे अशुभ को हेय माना है वैसे ही शुभ को भी हेय माना है। पर हेय कहने मात्र से कुछ नही होता, उसे समझने के साथ-साथ इन्हे पृथक् करने के लिये क्रिया भी करनी होगी। इसके लिये कुन्दकुन्दाचार्य ने नियमसार मे वताया है कि जैसे रोशनी के ज्ञान के लिये अन्धेरे का ज्ञान होना आवश्यक है, उसी प्रकार आत्मा को जानने के लिये अनात्मा को जानना, समझना आवश्यक है।

आत्मा चेतन है, अनात्मा अचेतन है, जड है। जड पदार्थ (अनात्मा) मे पुद्गल प्रमुख कहते हैं यह एक पारिभाषिक शब्द हैं। इसके ६ भेद हैं—
१ स्थूल-स्थूल, २ स्थूल, ३ स्थूल-सूक्ष्म, ४ सूक्ष्म-स्थूल, ५ सूक्ष्म, ६ सूक्ष्म-सूक्ष्म। द्रव्य सग्रह मे कहा है —

सद्दो वधो सुहुमो थूलो संठाणभेदतम छाया।
उज्जोदादवसहिया पुग्गलदव्वस्स पज्जाया ॥१६॥

१. स्थूल-स्थूल ·

इस श्रेणी मे पत्थर, लकडी आदि पदार्थ आते हैं। इनको देख सकते हैं, इनको ले जा सकते हैं, तोड सकते हैं, जोड सकते है। परन्तु इनको जोडने

पर पुन प्राकृतिक रूप मे नही आते, जोडने पर निशान अवश्य रहता है। जिसको जोडने पर निशान बना रहे (जोडने का) वह स्थूल-स्थूल है।

२. स्थूल :

इस श्रेणी मे पानी, तेल, घी आदि तरल पदार्थ व चादी, सोना, पीतल आदि धातुयें आती हैं। इन्हे देख सकते है, ले जा सकते हैं, तोड सकते हैं और जोड सकते है। पर इनके जुडने मे जोड का निशान नही रहता। सोने को पिघलाकर पिण्ड बना लें, कही उसके जोड का निशान नही दीखेगा। जिसमे जोडने पर जोड का निशान नही रहे वह स्थूल है।

३. स्थूल-सूक्ष्म :

जैसे छाया, धूप, अंधेरा आदि इन्हे हम देख सकते हैं, किन्तु न कही ले जा सकते, न जोड सकते, न तोड सकते, मुठ्ठी मे पकड नही सकते। अत दिखने पर भी जो पकड मे न आ सके वह स्थूल-सूक्ष्म है।

४. सूक्ष्म-स्थूल :

छाया आदि को हम देख सकते हैं पर शब्द को देख नही पाते कि कहाँ से आये किधर से आये। शब्द की गति, कम्पन देख नही सकते किन्तु कानो के द्वारा ग्रहण करने से, पकडने से शब्द सूक्ष्म-स्थूल है।

५. सूक्ष्म :

आत्मा मे जो कार्माण, वर्गणाये हैं, पाप पुण्य का पिंड हैं, उस पाप-पुण्य के फल को अनुभव तो कर सकते हैं पर उस पाप-पुण्य को देख नही सकते। अनुभव के आधार पर कहते हैं कि यह पापोदय का फल है, यह पुण्योदय का फल है। अत पुण्य और पाप-पिंड सूक्ष्म हैं।

मनुष्य मे विवेक है, ज्ञान है, इसलिये मनुष्यभव श्रेष्ठ है। पशु-पक्षियो मे विवेक का अभाव है। आशाधर सूरि ने लिखा है कि मनुष्य मिथ्यात्व से ग्रसित है वह पशु के समान है और जिसमे विवेक है, सम्यग्दर्शन है वह पशु होते हुये भी मनुष्य से श्रेष्ठ है। पाप-पुण्य दिखाई नही देते ये आते कैसे हैं? हम अपने मन के द्वारा उनका बध कर लेते हैं। जैसे फोटोग्राफर बटन दबा कर तस्वीर खीच लेता है, न वह आदमी इस कैमरे मे घुसा है न कैमरा आदमी मे घुसा है पर तस्वीर आ गई, उसी प्रकार हमारे शुभ-अशुभ विचारो

से पाप-पुण्य का आश्रव होता है—और तभी उसका बंध होता है। पुण्य और पाप बैंक-बैलेंस जैसा है। बैटरी जैसे है, बैटरी जब तक चार्ज हुई है तब तक ही रोशनी है, डिस्चार्ज होने पर अंधेरा है। उसी प्रकार पुण्य प्राप्त कर लिया, उससे इन्द्रिय-जन्य सुख प्राप्त कर लिया और वह समाप्त हो गया। इस प्रकार पुण्य और पाप, जन्म और मरण चौरासी लाख योनियो मे घूमने मे काट दिये।

मनुष्य भव मिला है, उसके सदुपयोग के लिये इसकी कीमत को आंकना, जानना बहुत आवश्यक है, और यह धर्म के द्वारा ही सम्भव है।

पंचतन्त्र मे कथा है कि एक महात्माजी जंगल मे रहते थे, उनके पास एक चूहा रहता था, महात्माजी के चढावे मे आये चावल आदि सामग्री खा-खा कर मोटा हो गया। एक दिन एक बिल्ली उस आश्रम मे आ गई, चूहा उससे डर गया और महात्माजी के पास भागा और कहा—महात्मन्, मुझे बिल्ली से डर लगता है, यदि आप मुझे भी बिल्ली बनादे तो अत्यन्त कृपा हो। महात्मा ने दया कर अपने कमण्डलु का पानी छिडका वह तत्काल बिल्ली मे परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार फिर एक दिन कुत्ते को देखकर उसने कुत्ता बनने की प्रार्थना की और कुत्ते मे परिवर्तित हो गया। कुछ दिन पश्चात् फिर शेर को देखकर उससे डर कर शेर बनना चाहा, महात्माजी ने उसे शेर बना दिया। शेर बनते ही उसने महात्माजी पर ही आक्रमण करना चाहा, महात्माजी ने तुरन्त पानी छिडक उसे पुन मूषक (चूहा) बना दिया। तात्पर्य यह है कि इसी प्रकार चौरासी लाख योनियो मे घूमते हुये बडी पुण्य प्रकृति से मनुष्य भव प्राप्त हुआ है, **शराब आदि व्यसनो से इसका दुरुपयोग करेंगे, तो पुन चौरासी लाख योनियो मे भटकना होगा।**

मनुष्य भव श्रेष्ठ है क्योकि यह विवेक सहित है। यदि विवेक को खो दिया तो जन्म-मरण के चक्र मे पिसते रहना होगा। इसलिये परम विवेकी होना आवश्यक है, जो ज्ञान से ही सम्भव है। विवेक से ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है। ये तीनो भिन्न नही हैं, युगपत् हैं। यदि ज्ञान है और चारित्र नही है अथवा चारित्र है और ज्ञान नही है तो दोनो एक दूसरे के बिना पंगु हैं। राजवार्तिक मे कहा है कि क्रिया शून्य ज्ञान लकडी की तलवार की भांति है जो डरा तो सकती है पर कर कुछ नही सकती। इसी प्रकार सिर्फ ज्ञान ही पर्याप्त नही है उसके साथ क्रिया

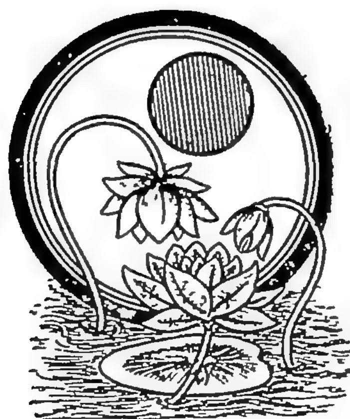
आवश्यक है। ज्ञान रहित क्रिया और क्रिया रहित ज्ञान दोनो ही पगु हैं। दोनो को सयुक्त करने के वाद ही इष्ट स्थान पर पहुँच सकते है अन्यथा नही। जिस प्रकार पगु व अधा दोनो अपने आप को जगल की आग से बचाने मे असमर्थ है, परन्तु दोनो के सहयोग से वे बच सकते है। इसी प्रकार ज्ञान व चारित्र से ही मुक्तिपुरी मे पहुँच सकते है। यदि कोई एकान्त लेकर वैठेगा तो लक्ष्य तक नही पहुँच सकता।

जीव तत्त्व चेतना लक्षण-युक्त है। जिसमे चेतना, ज्ञान, दर्शन है वह जीव है। दर्शन निराकार है ज्ञान साकार है। छद्मस्थ जीव मे पहले दर्शन होता है और उसके पीछे ज्ञान। चेतना जीव का प्रमुख लक्षण है और देखना जानना उप लक्षण। सर्वज्ञ के देखने व जानने मे कोई क्रम नही है, वह युगपत् जानता है। कोई वस्तु निर्मल-स्वच्छ है तो उसके सामने रखी हुई वस्तुयें स्पष्ट झलकेंगी, जैसे एक दर्पण मे झलकती है। इसी प्रकार एक वीतराग, सर्वज्ञ प्रभु के निर्मल ज्ञान मे ससार की समस्त वस्तुये झलकती हैं। दर्पण पर लगे लाल रग को घिस देने से उसके आर-पार दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार हमारी आत्मा मे राग-द्वेष के रग लगे हुये हैं, उन्हे तपस्या आदि से हटा देने पर आर-पार दिखाई देने लगता है, यह सर्वज्ञता है। सर्वज्ञ भगवान् द्वारा वस्तुओ का देखना-जानना प्रवृत्ति-युक्त नही है, वह सहज स्वाभाविक है। जवकि हम छद्मस्थो का प्रत्येक ज्ञान प्रवृत्ति-युक्त है, राग-युक्त है। इसलिये महानुभावो से इतना ही कहना है कि अपनी आत्मा के बारे मे सोचें-समझें, क्योकि यह अत्यन्त कीमती है। जब इस शरीर मे से आत्मा निकल जाती है तब शरीर की कोई कीमत नही रहती। इस शरीर की, हड्डी के ढाचे की कीमत तभी तक है जब तक इसमे आत्मा विराजमान है। उस आत्मा को तो हम भूल गये है और शरीर का शृगार करने लगे, उसकी सेवा मे अपना जीवन बिताने लगे। जिस आत्मा के कारण शरीर की इज्जत है उसके तो गीत नही गाते उस शरीर का ही गीत गाते हैं। अत हमे श्रुतज्ञान के द्वारा, शास्त्र के द्वारा आत्मा के बारे मे जानना चाहिये। प्रत्येक आत्मा परमात्मा है। आत्मा ही शाश्वत है, ध्रुव है, अचल है। सिद्ध आत्मा के प्रदेश अचल हैं और सासारिक आत्मा के चचल हैं, क्योकि सासारिक आत्मा के आश्रव-बध निरन्तर चलते रहते हैं। सिद्ध अनुपम है, उनके लिये कोई उपमा नही दे सकते, वे वचनातीत हैं अर्थात् वचन की सीमा मे बधने वाला नही है। वचन की शक्ति सीमित है। आत्मा तो अनुभवगम्य है। सत्य को हम

पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते। अभिव्यक्त सत्य अपूर्ण रहेगा, क्योकि वचन अधूरे हैं।

अत मेरा यही कहना है कि मनुष्य भव मिला हैं, उसका सदुपयोग कर आत्मा को पहचानो। आत्म-ज्ञान के बाद मुक्ति अपने हाथ मे है—

पर को अपना मान बैठा,
निज को पहचाना नही।
भूल हैं यह आपकी जो,
आपको जाना नही।।
आपको जाने विना,
परमात्म पद पाना नही।
परमात्म पद पाकर के फिर,
ससार मे आना नही।।



अंतरंग त्याग चिनगारी समान है।

शान्ति, त्याग मे मिलती है। महावीर ने देना सिखाया है, मागना नही। जो त्यागते गये वे पूज्य होते गये, जो जोडते गये वे डूबते गये। इष्ट को ग्रहण कर अनिष्ट को त्यागना ही विवेक है। ..पढा हुआ ज्ञान जब आत्मसात किया हुआ हो तभी अपना है, अन्यथा ग्रन्थ का है।

सभी आचार्यों, शास्त्रकारो के अनुमार मनुष्य-भव ही अत्यन्त मूल्यवान है। अतीत की ओर, कल्पवृक्ष युग मे, पाषाण युग मे, कृषि युग मे झाके तो सदैव से ही मनुष्य व पशु पक्षी के जीवन मे अन्तर पाते हैं और वह अन्तर केवल विवेक के कारण है। मनुष्य कल्पवृक्षो के आधार पर जीवन-यापन करता था, अपने मे क्रमश परिवर्तन करते हुये आज वह वैज्ञानिक युग मे पहुच गया। मनुष्य ने अपने लिये अनेक भौतिक साधनो, सुविधाओ को एकत्रित किया और आज भी करता जा रहा है। परन्तु पशु-पक्षियो ने अपने लिये कोई प्रसाधनो का, भौतिक साधनो का निर्माण नही किया। मनुष्य विकसित प्राणी है, वुद्धिजीवी है। इस बुद्धि का वह सदुपयोग भी करता है और दुरुपयोग भी।

जैन शास्त्रो के अनुसार सृष्टि मे कोई वस्तु सर्वथा हेय या उपादेय नही है। उसके उपयोग पर हेय-उपादेय भाव आधारित है। जैसे अग्नि है— वह अच्छी है या बुरी है, दीपक अच्छा है अथवा बुरा है ? जब दीपक, अध्ययन मे सहायक हो तो उपादेय है और यदि उससे आग लग जाये तो वह हेय है, हानिकारक है। इसी प्रकार शब्द है, शब्द स्वय मे न अच्छा है न बुरा है। जिनेन्द्र के, देवता के गुण गान करते हैं, किसी का सम्मान करते हैं, किसी को सन्मार्ग दिखाने हेतु कुछ कहते हैं तब शब्द उपादेय है—

ओर यदि किसी को गाली दे तो हेय है। यद्यपि शब्द पोद्गलिक हैं, जड हैं, पर उनके पीछे एक चेतना कार्य कर रही है, चेतना के पीछे भाव निहित है, उनका ही मूल्य है। जिस प्रकार 'शब्द' भावो को पहचानने, उन्हे एक दूसरे तक पहुँचाने का साधन है। किसी को 'रावण' कह देने पर वह झगडा करता है और, 'राम' कहने पर खुश हो जाता है, दोनो ही शब्द हैं पर इनमे निहित भाव भिन्न थे इसलिये वह कभी खुश होता है, या कभी झगडा करने पर उतारू हो जाता है। शब्द का अच्छा बुरा होना उपयोग करने वाले पर निर्भर करता है। यह स्वय मे निर्दोप है। यह उपकारक भी है तो अपकारक भी है। पत्थर को लें, खान से पत्थर निकाल कर चक्की बना लेते हैं। तो उससे आटा पीसकर खाते है, उसी पत्थर की आराध्यदेव की मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करते हैं, आराधना करते है, उसी पत्थर से किसी का सिर फोड देते हैं। इस प्रकार एक ही पत्थर के अनेक प्रकार से उपयोग किये जा सकते है। इसलिये जैनाचार्यो ने बताया कि **'वस्तु स्वयं मे न बुरी है न भली है।' इसलिये उन्होने 'वस्तु स्वभावो धम्मो' कहा है।**

मनुष्य विवेकी है। यदि कोई छोटा बच्चा किसी जानवर को सताता है, पत्थर मारता है तो उस अल्पज्ञानी बच्चे को उसके शिक्षित माता पिता समझाते हैं, ऐसा करने के लिये मना करते हैं। पर यदि एक शिक्षित व्यक्ति ही गालिया देने लगे, मारपीट करने लगे तो एक अज्ञानी व शिक्षित मे क्या अन्तर रह जायेगा। आज अग्नि का प्रयोग सार्वजनिक-सरकारी सम्पत्तियो को जलाने मे किया जा रहा है। **सर्वत्र तोड़-फोड आग लगाने मे तत्पर छात्र यदि अपने अज्ञान को आग लगादें तो वे ज्ञानी बन जायें। पर वह अपने अज्ञान को आग नहीं लगाता, ज्ञान का प्रकाश फैलाने वाले विद्यालयो को आग लगाता है।**

ससार मे ज्ञान का मूल्य है। ज्ञान मानव के लिये ग्रहणीय है। जैसे खाना खाने पर उसको पचाकर जो रक्त बना वह ही अपना है, इसका कोई मूल्य नही कि कितना किलो खाया, मूल्य इसका है कि उस खाये हुए को कितना पचा पाये, कितना रक्त बना पाये। इसी प्रकार कितने शास्त्र पढे इसका कोई मूल्य नही है, मूल्य इसका है कि इसमे निहित तत्वज्ञान को कितना हृदयगम किया। **पढा हुआ ज्ञान आत्मसात् किया हुआ है, तभी अपना है—अन्यथा ग्रन्थ का है।**

तप-त्याग :

प० टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के अष्टम अध्याय

मे कहा है कि "वाह्य सयम साधन विना परिणाम निर्मल नही हो सकते हैं।" वहिरग मे सयम किये विना, बाह्य त्याग के विना, परिणाम शुद्ध नही हो सकते। हम, भोजन मे ककर निकलने पर उस ककर को तत्काल त्याग देते हैं, उसे खाते नही हैं क्योकि वह हमारे लिए इष्ट नही है। **इष्ट को ग्रहण कर अनिष्ट को त्यागना ही विवेक है।** वाह्य विषय-भोग सामग्री शुद्धता के लिये अनिष्ट है, जव तक इनका त्याग नही होगा शुद्धि कैसे होगी ?

श्रेष्ठी-पुत्र 'सुकुमाल' अत्यन्त कोमल थे। कमल पुष्पो मे सारी रात भीगे हुए चावल प्रात भली प्रकार पकाये जाने पर ही वे खा सकते थे। चन्द्रमा की शीतल मन्द रोशनी से भी उनकी आखो मे पानी आने लगता था, अत केवल रत्न-दीप (रत्नो के प्रकाश) मे ही रहते थे। यदि उनके स्वय के सिर का एक वाल भी विस्तर पर गिर जाये तो उस विस्तर पर सो नही सकते थे। ऐसे 'सुकुमाल' ने भी बाह्य सासारिक वैभव त्याग, सन्यास धारण किया, कोई उन्हे रोक नही सका।

जो त्याग भावना से त्याग करे उसके त्याग को रोकने वाला या बुरा वताने वाला कौन हो सकता है ? त्याग को बुरा बताने वाला जीव अज्ञानी है, अभव्य जीव है। दुनिया मे त्याग ही सबसे वडी चीज है। यदि वृक्ष फलो का त्याग करना वन्द करदे तो दुनिया की स्थिति क्या होगी ? यदि नदी अपने प्रवाह मे से जल देना छोड दे, यदि बादल पानी त्यागना (वर्षा) वन्द कर दे तो सर्वत्र त्राहि-त्राहि हो जाये। जैनाचार्यों ने त्याग का अत्यन्त महत्व वताया है। भगवान आदिनाथ से अब तक जैन धर्म 'त्याग' के आधार से ही टिका हुआ है। 'त्याग' ही धर्म की आधारशिला है। इसी से प्रभावित होकर एक राजपूत ससद सदस्य ने कहा कि 'त्याग' जैनो का है, **महावीर ने देना सिखाया है मागना नहीं।**

विना 'त्याग' के जीवन व्यर्थ है, निरर्थक है, शून्य है। भारत मे सदैव 'त्याग' की ही पूजा हुई है। राम ने 'त्याग' किया इसलिये उनको पूजा गया। सम्मान किया गया। **जो त्यागते गये वे पूज्य होते गये, जो जोडते गये वे डूबते गये।**

अन्तरग–वहिरग तप 'त्याग' पर ही आधारित है। बालगगाधर तिलक ने गीता की प्रस्तावना मे लिखा है कि—**भारत मे जैन धर्म चिरस्थायी है तो त्याग के कारण, उनका त्याग चरम सीमा तक पहुचा हुआ है।** त्याग

मनुष्य जीवन को उन्नतिशील बनाता है। छोटा सा त्याग भी महत्वपूर्ण है। जिस गाय को हम घास-फूस खिलाते है, वह हमे दूध देती है, अमृत देती है।

ससार मे त्याग से ही धर्म चल रहा है। विना त्याग के धर्म चल नही सकता। जिन धर्मों मे त्याग को महत्व नही दिया, वे धर्म काल-कवलित हो गये। देश मे, ससार मे, राजनीति मे सव मे त्याग की आवश्यकता है। विना त्याग के जगत् व्यवहार चल ही नही सकता। उपासना के लिए मन्दिर वनाये गये। श्रेष्ठियो ने अपने धन का त्याग किया तभी मन्दिर वन सके।

फिरोजावाद के स्व० सेठ छिदामीलालजी से एक आयकर अधिकारी ने पूछा—सेठजी! इतना पैसा इस मन्दिर मे लगाया इसके वदले एक और नई फैक्ट्री क्यो नही लगाई? सेठ सा० ने उत्तर दिया—एक फैक्ट्री लगाता तो मुर्दावाद के नारे लगते, मन्दिर वनाया तो सब धन्य-धन्य कहते है। और फिर मैं कौन मदिर वनाने वाला। मैंने तो इस फैक्ट्री के मजदूरो से प्राप्त पैसा मन्दिर वनाने वाले शिल्पियो, मजदूरो मे वितरित कर दिया। मैं तो केवल इधर से पैसा लेकर उधर वितरित करने वाला ही रहा।

त्याग के कारण ही अनेक वुद्धिजीवियो, इतिहासकारो ने जैन धर्म की प्रशसा की है। इतिहासकार श्री पी सी राय चौधरी ने अपनी पुस्तक "जैनिज्म इन विहार" मे जैनो को त्याग के कारण महान् वताया है। श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने जैनो के त्याग की महिमा वतायी है। विश्व ख्याति प्राप्त साहित्यकार राहुल सास्कृत्यायन ने अपने एक निवन्ध मे वताया है कि—महावीर ने सव कुछ त्याग दिया, वे निर्वाधरूप से घूमते रहे, घुमक्कडो, के राजा थे। उन्होने सव कुछ त्याग केवल 'करतल भिक्षा, तरुतलवास और दिक-अम्बर' अपनाया।

हमने, स्वय, ने अपने त्याग की महिमा नही जानी। सज्जनो! त्याग धर्म को कभी न भूलिये। मन की भावना से त्याग कीजिये। मजवूरी से त्याग करना, त्याग नही है। डाक्टर ने मधुमेह के रोग के कारण शक्कर का त्याग करा दिया, यह त्याग नही है।

धर्म मे वताये गये व्रत-उपवास-त्याग के पीछे मनोविज्ञान है। मेरठ विश्वविद्यालय के उपकुलपति आर० के० सिंह देहरादून मे थे। वहाँ अध्यापक सम्मेलन हो रहा था। सम्मेलन मे तीन जैन अध्यापक भी थे। वे रात्रि-भोजन के त्यागी थे। उन्होने रात मे खाना नही खाया। ऐसा देख एक अध्यापक

ने कहा—क्या तुम भी इतने पढे लिखे होने पर भी इन वातो को मानते हो ? इत्यादि वातें कहकर उन तीनो का उपहास करने लगा। तब सिंह साहव ने कहा—तुम त्याग करने वालो का उपहास कर रहे हो, तुम स्वय एक समय के लिए ही त्याग करके दिखाओ। स्वय त्याग कर नही सकते हो और त्याग करने वालो का उपहास करते हो।

दृढता से कठोरता से किया गया त्याग महान् है। महात्मा गाँधी व्रिटेन मे वहा के अधिकारियो से मिलने गये, वहाँ का नियम था कि विना सूट पहने हुये कोई भी व्यक्ति चैम्बर मे प्रवेश नही पा सकता। गाधीजी थे धोती-लगोटीधारी। उनको यह नियम वताया गया, उन्होने सूट पहनने से इनकार कर दिया, और कहा वार्ता करनी है तो कीजिये अन्यथा मैं चला। गाधीजी की दृढता देख उन लोगो ने अपने नियम बदल दिये और वार्ता की।

सत्य यह है कि हमे स्वय के त्याग पर विश्वास नही है। त्याग कही, किसी भी स्थान पर वाधक नही वनता। हम डाक्टर, दाढीवाला है या साडी वाली है यह नही देखते, केवल यह देखते हैं कि वह रोग ठीक कर सकता है। आज सारी दुनिया शाति की तलाश मे है। शान्ति कहा मिलती है यह देखना चाहिये। **शान्ति 'त्याग' मे मिलती है।**

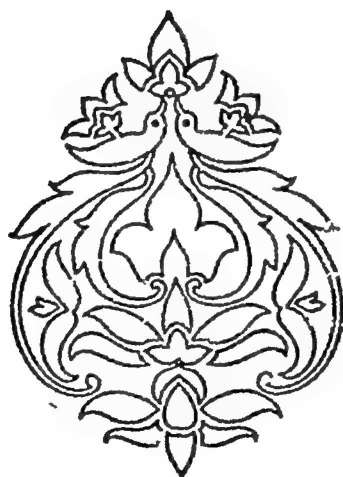
गाधीजी ने जैनो के रात्रि-भोजन त्याग से प्रभावित होकर स्वय ने भी रात्रि-भोजन का त्याग किया। इस विषय पर उन्होने १०० पृष्ठ की एक पुस्तक भी लिखी, जिसमे रात्रि भोजन त्याग की महिमा व परिणाम भी वताये हैं।

आज विश्व मे अनछाने पानी पीने से प्रति वर्ष ५० लाख प्राणी मरते हैं—यूनेस्को की एक रिपोर्ट से ज्ञात हुआ है। इस पानी मे अनेक रोगो के कीटाणु रहते हैं जिनके कारण पानी विषाक्त हो जाता है। आज जैन कुलो मे जन्मे हुये लोग रात्रि-भोजन त्याग, छना पानी पीने आदि को धार्मिक रीति समझ, हेय समझ, हँसी उडाते हैं।

नन्दीमित्र नामक एक व्यक्ति ने मुफ्त मे भरपेट भोजन पाने के लोभ मे (मुनिराज को देख) मुनिवेश ग्रहण कर, केवल ४७ मिनट के लिये सल्लेखना धारण कर मृत्यु प्राप्त की तो अगले जन्म मे सम्राट चन्द्रगुप्त वन कर भारत पर एकच्छत्र राज्य किया। गोम्मटसार कर्मकाड मे लिखा है कि जघन्य से जघन्य ४७ मिनट की सल्लेखना धारण करने पर सद्गति प्राप्त होती है और १२ वर्ष पूर्व सल्लेखना का नियम ले क्रम से चलता है

उसे निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त होता है। मरते समय नन्दीमित्र के भाव शुद्ध थे तो उसको सद्गति प्राप्त हुई। इसलिये महानुभावो सत्सग, धर्म का श्रवण, अन्तरग से त्याग, चाहे छोटा सा ही त्याग हो, वही महान् है। अग्नि की छोटी सी चिनगारी भी रूई के ढेर मे आग लगाने मे समर्थ है। अन्तरग से किया गया छोटा सा त्याग भी कर्मो के ढेर मे आग लगा उसे समाप्त करने मे समर्थ है।

प० टोडरमलजी ने तो अपने प्राणो को उत्सर्ग भी कर दिया था। पडितजी ने आगे छठे अध्याय मे लिखा है कि तातें बाह्य त्याग किये ही अन्तरग त्याग सभव है। अत हे सज्जनो! मिथ्या बातें न कर विवेक के साथ अपने जीवन मे थोडा सा त्याग अवश्य करें, उद्धार निश्चित है।



अहिंसा, सत्य, संयम और तप ही धर्म है।

दृष्टान्त बदल सकते हैं, समझाने की शैली बदल सकती है पर मूल-सिद्धान्त नही बदलते हैं, तत्त्व वही रहता है। अहिंसा निश्चय से आत्मा मे है। सयम जीवन का ब्रेक है। सयमी आत्मा की इन्द्रियाँ उसके नियन्त्रण मे रहती है, असयमी आत्मा अपनी इन्द्रियो का गुलाम रहता है। असयम हमे पतन की ओर ढकेलता है। ज्ञान के लिये तप आवश्यक है, तप-त्याग का प्रारम्भ ज्ञान से है। बिना ज्ञान के तप-त्याग करना त्याग नही है। आपसे त्याग नही बनता तो त्यागी की निन्दा तो मत कीजिये।

गौतम गणधर ने भगवान् की वाणी सुनकर अत्यन्त मनोवैज्ञानिक व आत्म साक्षात्कार के आधार पर 'प्रतिक्रमण ग्रन्थ' की रचना की। भगवान् की वाणी को लिपिवद्ध किया। सदैव से इस देश की एक अद्‌भुत परम्परा रही है कि **धर्म के अन्वेषक क्षत्रिय रहे, व उसके प्रसारक ब्राह्मण रहे।** अधिक आगे न जाकर, भगवान् महावीर के काल को लें, उस काल मे महावीर के ग्यारह शिष्य थे। सभी ब्राह्मण थे, गौतम उनमे प्रधान थे। गौतम बुद्ध भी क्षत्रिय थे और उनका शिष्य धर्म प्रचारक आनन्द ब्राह्मण था। छान्दोग्य उपनिषद् मे लिखा है कि आध्यात्म विद्या क्षत्रियो की देन है और उसके प्रसारक ब्राह्मण हैं।

गौतम गणधर ने महावीर से पूछा—भगवान् मैं धर्म का लक्षण जानना चाहता हूँ इसके उत्तर मे महावीर ने जो कुछ वताया उसको गौतम ने 'प्रतिक्रमण' ग्रन्थ मे लिपिवद्ध किया। 'प्रतिक्रमण' प्राचीनतम ग्रन्थ है, इसके पश्चात् ही अन्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। शब्द वही है, भाषा वही है, परिभाषा वही है, केवल समझाने की शैली वदलती रही है और आज भी वदलनी होगी। दृष्टान्त वदल सकते हैं पर मूल सिद्धान्त नही वदल सकते है। समझाने की शैली वदल जाती है, पर तत्त्व वही रहता है। जैसे अग्नि अपना स्वभाव नही छोडती है। काल, परिस्थितियो के अनुसार भाषा, वेशभूषा कानून, रहन-सहन वदल सकते हैं, पर धर्म नही वदल सकता, वह शाश्वत है। वहिरग वस्तु वदल सकती है पर धर्म नही वदल सकता। यशस्तिलक चपू मे स्वयभू सूरि ने लिखा है—पुरुष अपनी वेशभूपा छोड दे, रहन-सहन परिवर्तन कर लें तव भी धर्म नही वदल सकता। पर यदि अरिहतदेव के प्रति मन से श्रद्धा खत्म हो जायेगी, भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक समाप्त हो जायेगा, तव धर्म परिवर्तित हो जायेगा।

धर्म परम मगल है। कौनसा धर्म ? अहिंसा धर्म, सयम धर्म व तप धर्म। जिसका मन धर्म मे तल्लीन है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

अहिंसा .

अहिंसा अनुसधान का विषय है। जैनाचार्यो ने अपने अनुभव के साथ इसका वहुत सूक्ष्म विवेचन किया है। स्वयभू स्तोत्र मे कहा है कि किसी साधु की परमाणु प्रमाण भी हिंसा के लिये अनुमोदना है तो वह साधु नही है। सर्वोत्कृष्ट साधु वही है जो परमाणु मात्र हिंसा को भी अपने जीवन मे न प्रश्रय दे और न अनुमोदन करे।

भाव अहिंसा :

इसका अर्थ है वहिरग क्रिया तो दूर मन मे भी हिंसा के भाव ही उत्पन्न नही हो। भगवती आराधना मे कहा है कि अहिंसा कहाँ है ? उत्तर मे कहा है कि—निश्चय से आत्मा मे है। एक शस्त्रागार है, जहा नाना प्रकार के शस्त्र रखे हैं, किन्तु वे शस्त्र निकम्मे है, निर्जीव है जव तक कि किसी मानव मनमे उनके उपयोग की भावना नही आती है। जैसे वटन दवाने पर ही रोशनी होती है उस प्रकार मानव-मन मे हिंसा के भाव उत्पन्न

होने पर ही वह क्रिया रूप होती है। जव मन मजूर करता है तभी हिंसा की क्रिया चालू होती है।

अहिंसा से ही गाधीजी ने इस देश को स्वतन्त्रता दिलाई। यद्यपि आधुनिक लोग अहिंसा को नही समझ पाते और आलोचना करते है। गृहस्थी व शासक के लिये गृह शासन व देश के शासन करते समय अहिंसा बाधक नही होती। गृह स्वामी व शासक का अपने सदस्य व प्रजा का पालन करना, उनकी रक्षा करना धर्म है। परन्तु वे साथ मे दया सागर भी होते हैं। व्यर्थ मे हिंसात्मक कार्य, हत्याये, युद्ध नही करते।

आज हमारे देश की सरकार ने साइवेरिया से आये 'गोडावरण' पक्षी के शिकार के लिये अरव शहजादा वदर को अनुमति दी है, यह अत्यन्त शोचनीय विपय है। भारत-सरकार का यह कायरता पूर्वक निर्णय है। हमे निरपराध पशु-पक्षियो को मारने का क्या अधिकार है। जैनाचार्य वादिवृषभ ने लिखा है कि जिस देश मे पशु-पक्षी सुखी होगे वही देश खुशहाल होगा। सम्राट् अशोक ने गिरनार शिलालेख मे स्पष्ट लिखा है—कि अभिहिंसा नही होनी चाहिये। अभिहिंसा अर्थात् विशेष रूप से की गई हिंसा शिकार। वताइये अपने क्षणिक मनोरजन के लिये हिंसा करना, निरपराध प्राणियो का शिकार करना कहा तक उचित है ?

हमारे देश की परम्परा सदैव अहिंसक व धार्मिक रही है। हमारे यहा के क्षत्रिय राजा शाकाहारी थे। आज यह मान्यता है कि क्षत्रिय मासाहारी थे यह नितान्त भ्रामक है। महाराजा जनक के जीवन चरित्र मे लिखा है कि वे मास परित्यागी थे। निवृत्तमासस्तु तत्र भवान् जनक —उत्तर रामचरित ४/१। राम का सदेश लेकर हनुमान जव सीता के पास पहुँचे तव सीता ने हनुमान पर राम का अनुचर होने का विश्वास नही किया, और पूछा कि—तुम राम के स्वभाव रहन-सहन, खान-पान के वारे मे वताओ, तभी मैं विश्वास कर पाऊगी। तव हनुमान ने वताया कि—

न मास राघवो भुक्ते न चैव मधु-सेवते।
वन्य सुविहित नित्य भक्तमश्नाति केवलम्॥

—वालिमकी रामायण, सुन्दर काड–३६/४१

इक्ष्वाकुवशी राम मासाहार नही करते वे शाकाहारी हैं, वे मधु का

मेवन नही करते वे चावल का ही सेवन करते हैं। इत्यादि-इत्यादि, तभी सीता को विश्वास हुआ।

दिव्यावादन (सस्कृत के) ग्रथ मे लिखा है कि—अशोक के समक्ष प्याज परोसने पर अशोक ने कहा कि—हे देवी! मैं उच्चकुलीन क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज ग्रहण नही करता हूँ, तुम प्याज को हटादो।

विश्व मे, पशु-पक्षियो को दु ख देकर शाति नही मिल सकती, वे भी तो जीवात्मा हैं, उनकी हत्या क्यो? सारी उम्र गाय का दूध पी ले और वाद मे कुछ धन के लोभ मे आकर उसे कसाई को देदे यह कैसा धर्म है?

विश्व मे १५० राष्ट्र हैं। वे सव अपना धर्म, सस्कृति परम्पराओ व आदर्शों को नही छोडते। पर हमने अपना सव कुछ छोड दूसरो का ग्रहण कर लिया। हम हर चीज दूसरो की अपनाते जा रहे हैं, हम अपनी गरिमा को भूलते जा रहे हैं।

मैं जव दिल्ली मे था एक अरव–राजकुमार ने फ्रासिसी भापा मे समयसार का अनुवाद किया। दूसरे देशवासी तो हमारी सस्कृति को, आदर्शों को, तत्त्व ज्ञान को पूजते है, उत्तम मान कर सीखते हैं और हम अपना ही आदर करना नही जानते। भौतिक लालच मे आकर अपने आदर्शों को तत्त्व आदि को भूल रहे हैं। महात्मा गाधी अपनी अहिसा से, शक्ति को अपनी ओर झुकाते थे, शायद इसीलिये उनको खत्म किया गया कि देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के वाद ये (गाधी) हमारे हिसात्मक कार्य मे, हमारी गतिविधियो मे वाधा पहुँचायेंगे।

सत्यता यह है कि मनुष्य ही हमारे देश का अतिथि नही होता, पशु-पक्षी भी हमारे अतिथि हैं। साइवेरिया से छह महीने के लिये आये पक्षी हमारे अतिथि हैं, इनकी हत्या, शिकार के लिये अनुमति देना, धर्म भूमि भारत की मरकार का सर्वथा अनुचित निर्णय है।

जापान मे विश्व धर्म सम्मेलन हुआ, जिसमे ससद्-सदस्य श्री रामचन्द्र विकल भी सम्मिलित हुये। वहाँ इस समस्या पर विचार किया जा रहा था कि मनुष्य की रक्षा कैसे हो? तव विकलजी ने कहा कि—आप मनुष्य की रक्षा की वात करते हैं। भगवान् महावीर ने २५०० वर्ष पहले पशु-पक्षी की रक्षा करने की वात कही है, उनकी रक्षा का मार्ग वताया है, आप उनके मिद्धान्त पढिये।

भारत के बादशाहो को भी जैनाचार्यो ने अहिंसा का पाठ पढाया है। आज के शासको को भी अहिंसा पर विश्वास रखना चाहिये।

कुछ लोग मानते हैं कि हम सब ब्रह्म के अश हैं। ठीक है, कुछ देर के लिये मैं इसको मान लेता हूँ। यदि हम ब्रह्म के अश है तो पशु-पक्षियो को देख, आनन्द मनाने के लिये बनाया है या उनको मारने-काटने के लिये बनाया है ? क्या उनको मारना ब्रह्म के विरुद्ध नही है।

आज समस्त जनता का कर्त्तव्य है कि सरकार के हिंसात्मक कार्य का विरोध कर, उसे अहिंसा की ओर प्रेरित करें।

सयम

इन्द्रिय सयम के ज्ञान के अभाव मे मनुष्य को भक्ष्य-अभक्ष्य का ख्याल नही रहता है, व्यसनो मे पड जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती हैं। नशा हेय है। यदि कोई व्यक्ति नशा करके कोर्ट मे गवाही देने जाता है तो मजिस्ट्रेट भी उसकी गवाही को स्वीकार नही करता।

एक गाडी बडी अच्छी है, सुन्दर है, कीमती है पर यदि उसके ब्रेक ठीक नही हैं तो वह गाडी बेकार है। जीवन मे सयम नही तो वह निकम्मा है, खतरे से खाली नही है। सयम जीवन का ब्रेक है। मन को दुर्घटना से बचाने के लिए, मन की मलिनता को रोकने के लिए, पवित्र बनाने के लिये सयम की आवश्यकता है। शारीरिक दुर्घटना को डॉक्टर अपने इलाज से ठीक कर देते है पर मन को ठीक करने के लिए सयम ही इलाज है। पाचो इन्द्रियो को नियन्त्रण करने के लिये यह (सयम) आवश्यक है। एक डाकू को पाच पुलिस मैन रस्सी से बांध कर लेकर जा रहे है और एक राजा भी पाच पुलिस मैन के सरक्षण मे जा रहा है, अन्तर केवल इतना है कि राजा के साथ जो पुलिस है वह राजा की इच्छानुसार चलती है और उधर डाकू पुलिस की इच्छानुसार चलता है। इसी प्रकार हमारी पाच इन्द्रियाँ हैं। सयमी आत्मा की इन्द्रियाँ तो उसके नियन्त्रण मे रहती हैं, और दूसरी ओर असयमी आत्मा अपनी इन्द्रियो का गुलाम रहता है।

आत्मानुशासन मे लिखा है कि—मीठा समझकर हम खाना खाते जाते हैं, पर वह खाना हमे खा जाता है। रोग ग्रस्त कर देता है। अर्थात् असयम हमे पतन की ओर ढकेलता है। अत पचेन्द्रिय पर मन राजा का अकुश लगा रहना चाहिये।

तप :

तप अन्तरग व बहिरग के भेद से दो प्रकार का है। महिलायें तवे पर रोटी सेंकती हैं। यदि वे एक तरफ से सेक दे, दूसरी ओर से नही सेके तो कहेंगे कच्ची रह गई। इसी प्रकार केवल अन्तरग तप को महत्त्व दें, बहिरग तप को नही दे तो वह परिपक्व तप नही होगा। दोनो तप से ही भेद-विज्ञान हो सकता हे, एक से नही। सिक्के के दो पहलू होते हैं—एक पहलू के विना दूसरे का अस्तित्व सदिग्ध है। बहिरग तप साधन है व अन्तरग तप साध्य है। साधन और साध्य दोनो इष्ट की सिद्धि होने तक साथ चलते है। विना बहिरग तप के इष्ट सिद्धि नही। तप मे उपवास भी सम्मिलित है।

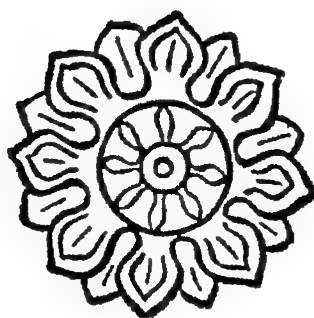
एक अमेरिकी युवक हेनरी फोर्ड एक वार हीरे जवाहरात लेकर दूसरे शहर गया। राह मे गाडी खराव हो गई, सव यात्री वहाँ रुक गये। टी टी ने सवसे टिकट मागे। हेनरी फोर्ड से भी उसका टिकट मागा, हेनरी ने कोई जवाव नही दिया। टी टी ने उसे पुलिस के हवाले कर दिया। रात भर वह भूखा, प्यासा ही वन्दूकधारी पुलिस के पहरे मे रहा। प्रात उसे मजिस्ट्रेट के पास ले जाया गया, मजिस्ट्रेट ने पूछा तो हेनरी ने तत्काल टिकिट दे दिया। मजिस्ट्रेट ने पूछा कि तुमने टी टी को टिकिट क्यो नही दिखाया। तव हेनरी ने उत्तर दिया कि—मेरे पास कीमती माल है, इसकी सुरक्षा आवश्यक थी, इसके साथ-साथ मेरी जान का भी खतरा था, इसके लिए सवसे सुरक्षित स्थान पुलिस चौकी ही थी। मैंने एक दिन कैद रह, भूख-प्यास आदि का कष्ट भोगा किन्तु जान व माल की सुरक्षा कर ली। अत जिस प्रकार कष्ट सहने से हीरे जवाहरात की रक्षा हुई उसी प्रकार आत्म-रत्न की रक्षा के लिये तप-उपवास की आवश्यकता है। हम सोचें कि खाते पीते रहे, और मोक्ष भी प्राप्त हो जाये, ऐसा सम्भव नही है। यदि नारकियो जैसे भक्ष्या-भक्ष्य का विचार न रख शराव आदि व्यसनो मे रत रहे तो नरक भव ही मिलेगा।

केवलज्ञान के लिये तप आवश्यक है। तप-त्याग का प्रारम्भ ज्ञान से है। विना ज्ञान के तप-त्याग करना त्याग नही है। पर त्याग शक्तिश्च ही होना चाहिये। कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड मे लिखा है कि—यदि आप से त्याग नहीं वनता तो त्यागी की निन्दा तो मत कीजिये। सिद्धान्तों पर, आदर्शों पर विश्वास होना चाहिये। जो सिद्धान्त पर अटल नही वह वेपेंदी का लोटा है। जिसका मन पवित्र होगा, उज्ज्वल होगा, उसी का जीवन श्रेष्ठ

होगा । अपने आदर्श सस्कृति, सिद्धान्तो को नही छोडे, चाहे दुनिया वदल जाये ।

जव हम स्वय की हिंसा नही चाहते तो दूसरो की कैसे करना चाहते है ? जव स्वय सुरक्षित रहना चाहते हैं तो दूसरे को भी सुरक्षित रहने दो, दूसरे की भी सुरक्षा करो । हम सव अपनी सुरक्षा चाहते है इसका तात्पर्य है कि हम हिंसा चाहने वाले नही है, अहिंसा चाहने वाले है। आज प्रचलित धारणा है कि हिंसा के विना जीवन ही सम्भव नही, यह उपयुक्त नही है । जो हिंसा पर विश्वास करते है उनकी दुर्गति होती है । यदि हिंसा अच्छी होती तो हिटलर को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता, जिसने घोर हिंसक कार्य-वाहियाँ की थी, पर ऐसा नही है ।

हमारी सस्कृति आत्मा से जुडी हुई है, इसको वनाये रखने के लिये सचेष्ट रहना चाहिये ।



भगवान् ऋषभदेव का संदेश : ऋषि बनो या कृषि करो

ऋषि बनो या कृषि करो। सर्वस्व त्याग कर मुक्त होओ अथवा अहिसक, शाकाहारी होकर गृहस्थ जीवन व्यतीत करो। एक त्याग मार्ग है दूसरा गृहस्थ मार्ग है।

मृत्यु से पूर्व जो पाँचो इन्द्रियो के विषयो को छोडकर आत्मस्थ हो जाता है वह प्रत्यक् आत्मा है। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता है। निमित्त कभी अकस्मात् मिल जाते हैं तो कभी उन्हे मिलाना भी पडता है।

इस भारत भूमि मे अनेक महापुरुष हुये हैं। यहाँ की मूल सस्कृति मनुओ की, कुलकरो की सस्कृति है। मनुस्मृति मे लिखा है कि शासको को, राजा को, प्रजा को, साधुओ को, सभी को आत्मा के परिणामो को निर्मल रखना है। प्रारम्भ से ही अध्यात्म विद्या यहाँ की विशेषता एव मूल देन रही है। प्रारम्भ मे जब कल्पवृक्ष के सहारे मानव-जीवन व्यतीत होता था उस समय राजा नाभिराय और रानी मरुदेवी भी अत्यन्त सुख के साथ रह रहे थे। एक दिन रानी मरुदेवी ने सौलह स्वप्न देखे और प्रात राजा नाभिराय के पास गई। चिन्तामग्न रानी को देख राजा ने वृत्तान्त पूछा। रानी ने

स्वप्नो की घटना सुनाई। राजा नाभिराय स्वप्न ज्ञाता थे। उन्होने रानी से कहा कि तुम एक भाग्यवान बालक को जन्म देने जा रही हो जो कि तीर्थङ्कर होगा। कुछ समय पश्चात् रानी ने एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। माता-पिता ने उस बालक का नाम 'ऋषभ' रखा। जन्म के पश्चात् इन्द्र बालक को पाडुशिला पर स्नान कराने ले गये। वहाँ उन्होने उस बालक का नाम 'पुरु' रखा। इसी कारण ऋग्वेद मे लिखा है कि इन्द्र मुनियो का सेवक व सखा रहा है। जिनसेनाचार्य ने इन्द्र की भक्ति का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। इन्द्र का एक नाम 'पुरुभूत' भी है। इन्द्र के द्वारा अभिषेक क्रिये जाने के बाद शचि (इन्द्राणी) उस बालक को वस्त्राभूषण पहनाने के लिये एक अत्यन्त कोमल कपडे से बालक का शरीर पोछने लगी। पोछते-पोछते थक गई किन्तु बालक के कपोल की एक जलबिन्दु सूख नही पाई। इन्द्र यह सब देख मुस्कुरा रहे थे। शचि से बोले—यह क्या कर रही हो? शचि ने उत्तर दिया कि बालक के कपोल की यह जलबिन्दु सूखने ही नही पा रही, क्या करूँ? तब इन्द्र ने उत्तर दिया कि अरे! जिसे तुम जल बिन्दु समझ रही हो, यह जल बिन्दु नही, यह तो तुम्हारे आभूषण के रत्न का प्रतिबिम्ब है अर्थात् उनका शरीर दर्पण जैसा स्वच्छ-निर्मल था।

नाभिराय व मरुदेवी अत्यन्त स्नेह के साथ ऋषभ का पालन करते है। युवा होने पर नन्दा-सुनन्दा से उनका ब्याह करते है। योग्य होने पर ऋषभ का राज्याभिषेक कर सत्ता सौंप कर स्वय सन्यास धारण कर लेते है।

अकस्मात् एक दिन जीवन-आधार कल्पवृक्ष समाप्त हो गये। प्रजा परेशान हो गई तब राजा ऋषभ ने कहा, सामने इक्षु हैं, इनको चूसो, इनका रस पीओ। इक्षु रस पीने की विधि बताई, इसलिये यह वश इक्ष्वाकुवश कहलाया, ऐसा जिनसेन आचार्य के महापुराण मे उल्लेख है। प्रजा को असि, मसि, कृषि आदि की शिक्षा देने से 'विधाता' कहलाये। ऋषभ ने कहा 'या तो ऋषि बनो या कृषि करो' कृषि का आधार अहिंसा है और यह शाकाहार को पुष्ट करता है। ऋषि अर्थात् सर्वस्व त्यागकर मुक्त होओ। एक गृहस्थ मार्ग है, दूसरा त्याग मार्ग है। प्रजापति ऋषभ ने ये दो मार्ग प्रशस्त किये।

कुछ समय पश्चात् इन्द्र ने देखा कि ऋषभ अपने राज मे, वैभव मे, राग मे मस्त है। इनको तो मोक्ष मार्ग प्रशस्त करना है, इनको विरक्त हो जाना चाहिये। यह सोचकर इन्द्र ने ऋषभ मे क्षण-भगुर जगत् के प्रति वैराग्य उत्पन्न कराने के लिये निमित्त प्रस्तुत किया। **निमित्त किसी काम को**

करने मे प्रेरक भी हैं। कभी वे अकस्मात् भी मिल जाते हैं तो कभी उन्हे मिलाना भी पडता है। समन्तभद्र ने लिखा है—कार्य द्रव्य के अनुसार ही होगा पर निमित्त-नैमेत्तिक सम्बन्ध भी महत्त्वपूर्ण है। जैसे सोये हुये शेर को जगाने हेतु जरासा स्पर्श ही पर्याप्त होना है, वैसे ही राजा ऋषभ के लिये इन्द्र का जरासा सकेत देना ही पर्याप्त था। अत एक दिन इन्द्र ने राजा ऋषभ के दरबार मे नीलाजना नामक अप्सरा, जिसकी आयु समाप्त होने वाली थी, कुछ घडियो की ही शेष थी उसको नृत्य के लिये प्रस्तुत किया। नृत्य के बीच अप्सरा की मृत्यु हो गई। यद्यपि इन्द्र ने उसके स्थान पर तुरन्त वैसी ही अप्सरा को नृत्य के लिये प्रस्तुत कर दिया, किन्तु अवधिज्ञानी राजा ऋषभ इस भेद को समझ गये। ससार की क्षणभगुरता समझ तत्काल पुत्रों को राज्य सौप, सन्यास धारण कर लिया। इक्ष्वाकुवश की यह परम्परा रही है कि वृद्धावस्था मे गृहस्थी का भार छोड सन्यास धारण कर धर्म-ध्यान मे अपना शेष जीवन बिताते थे। कवि कालिदास ने इक्ष्वाकुवश के लिये लिखा है कि इस वश की परम्परा है कि बालपन शिक्षा-विद्याध्ययन मे व्यतीत करते है, युवावस्था मे गृहस्थ जीवन मे प्रवेश करते है और वृद्धावस्था आने के पूर्व से ही विरक्त, त्यागमय, साधुमय जीवन बिताते हैं। आज यदि इक्ष्वाकुवश की परम्पराओ का कुछ अश भी हम अपने जीवन मे उतार लें तो इस देश की अनेक समस्यायें हल हो जाये।

ऋषभदेव ने सन्यास धारण करने के लिये कोई मुहूर्त्त नही देखा। राज्य सौप अयोध्या मे वट-वृक्ष के नीचे पाषाण-शिला पर बैठ आत्मस्थ हो गये। उपनिषद् व समयसार-कलश मे लिखा है कि ऋषभदेव 'प्रत्यक् आत्मा' हो गये अर्थात् इन्द्रियो व शरीर से पृथक् आत्मा मे निमग्न हो गये। अथर्ववेद मे लिखा है कि—मौत आने ने पूर्व ही जो आत्मस्थ हो जाता है, आत्मा मे लीन हो जाता है—वह 'प्रत्यक् आत्मा' है। पाँच इन्द्रियो के विषय छोड जो आत्मा मे लीन है वही 'प्रत्यक् आत्मा' है। भागवत् मे लिखा है—सर्वज्ञ ही 'प्रत्यक् आत्मा' है। सहस्रनाम स्तोत्र मे लिखा है कि जो बुद्धि को प्रज्वलित कर आत्मा को चिन्तन-मनन से स्वच्छ-निर्मल कर लेता है वही 'प्रत्यक् आत्मा' है। ऋग्वेद मे लिखा है कि जैसे जल छान कर पीते हैं वैसे ही मन-वचन और कार्य से कषायो को छानकर वाक्य बोलें और ऐसे वाक्यो को ही जीवन मे उतार कर जो आत्मस्थ हो, वही 'प्रत्यक् आत्मा' है।

ऋषभदेव के साथ अनेक राजाओ ने भी देखा-देखी सन्यास ग्रहण कर लिया था। ऋषभदेव आत्मस्थ हो गये, किन्तु अन्य राजा लोग साधना

नही कर पाये, विचलित हो गये और स्वय तप भग कर बैठे। अपनी-अपनी वुद्धि के अनुसार मतमतान्तर का प्रचार करने लगे। प्रत्येक कार्य की सिद्धि के लिये कठोर पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

कठिन तपस्या कर एक दिन ऋषभदेव आहार ग्रहण करने के लिये निकले। किन्तु प्रजा मे नवधाभक्ति, प्रति ग्रहण (पडगाहना), पाद प्रक्षालन, उच्चासन व अर्चन की क्रिया का ज्ञान न होने के कारण ऋषभदेव को छह महीने तक आहार न प्राप्त हो सका। जिन्होने विधाता के रूप पृथ्वी-मडल के लोगो की जीवन जीने के उपाय बताये, जिनके तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय था, उन्हे भी छह महीने तक अन्तराय कर्म के कारण आहार प्राप्त न हो सका। इससे यह सिद्ध होता है कि **जब तीव्र पाप का उदय होता है तब पुण्य काम नहीं करता।** छह माह पश्चात् पूर्व जन्म की स्मृति को लेकर ऋषभदेव के पौत्र, वाहुवलि के पुत्र श्रेयास व सौम ने हस्तिनापुर मे उन्हे इक्षु रस का आहार कराया।

इधर भरत व वाहुवलि मे राज्य को लेकर युद्ध हुआ। वाहुवलि जलयुद्ध, मल्लयुद्ध व दृष्टियुद्ध तीनो मे ही भरत से जीत गये। अन्त मे भरत ने वाहुवलि पर अपना चक्र चला दिया। यह देख वाहुवलि के मन मे विचार आया कि इस धन-सम्पत्ति के कारण मेरा भाई ही मुझे मारना चाह रहा है, धिक्कार है इस सम्पत्ति को, और इतना सोच, वे विरक्त हो गये, सन्यास धारण कर लिया। कठोर तपस्या करने पर भी उन्हे ज्ञान की प्राप्ति नही हुई। क्योकि उनके मन मे यह कषाय थी, शल्य थी कि मैं भरत की भूमि पर खडा हूँ। काफी समय व्यतीत हो जाने पर भी ज्ञान प्राप्त क्यो न हुआ, इसका भगवान् ऋषभदेव से कारण जान भरत वाहुवलि के चरणो मे नतमस्तक हुये और कहने लगे—'प्रभो ! यह पृथ्वी किसी की नही है, आपने कैसे ध्यान कर रखा है कि यह भरत की है।' शल्य खतम हो गई, कैवल्य प्राप्त हो गया।

जब छोटी सी कषाय भी ज्ञान प्राप्ति मे वाधक रही तो वडे-वडे कर्मों का तो कहना ही क्या ? ऐसे वाहुवलि गोमटेश्वर की स्तुति मे नेमिचन्द्राचार्य ने लिखा है—मनुष्य के प्रतिविम्व देखने हेतु दर्पण वना है, पर पेड पौधे, पशु-पक्षी, पहाड आदि अपना प्रतिविम्व किसमे देखें ? उनके लिये तालाव वनाये गये हैं। पर तालाव (गोमटेश्वर मे जो तालाव है वह) किसमे अपना प्रतिविम्व देखे ? इसके लिये आचार्य ने लिखा है वह अपना

प्रतिविम्व उस गोमटेश्वर के कपोल मे देखे, अर्थात् जल से भी स्वच्छ निर्मल जिनका शरीर है ऐसे गोमटेश्वर को नमस्कार है ।

भगवान् ऋषभदेव ने देश को सर्वप्रथम अहिंसा का पाठ पढाया । उनके पुत्र भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पडा, ऐसे इक्ष्वाकुवश की परम्परा को अपनाये । वृद्धावस्था में धर्म ध्यान कर मनुष्य भव का सदुपयोग कर । एक वार दिल्ली मे आर्यिका चन्द्रमति माताजी से एक जमादारनी ने आशीर्वाद मागा—ऐसा आशीर्वाद दीजिये कि मैं मरण समय शान्ति से भगवान् का नाम स्मरण करती रहूँ । अत भला सो भला । आप सव भी मृत्यु से पहले कुछ समय धर्म-ध्यान मे अवश्य वितायें ।



तीर्थंकर महावीर : सिद्धान्त एवं जीवन चरित्र

महावीर का धर्म पुरुषार्थवादी है दैववादी नही। धर्म को सही रूप मे प्रसारित व प्रचारित किया जावे तो वह अमृत है, अन्यथा अन्धविश्वासो के कारण वह हलाहल है। विचार मे अनेकान्त, आचार मे अहिंसा, वाणी मे स्याद्वाद और समाज मे अपरिग्रह यही सर्वोदय है।

इस विशाल भारत देश मे अनादिकाल से अनेक महापुरुष होते रहे है। वे महापुरुष आगे आने वाली सन्तति के लिये अपने सिद्धान्त रूप सपत्ति छोडकर गये हैं। हमे उनसे सम्पत्ति रूप मे अहिंसा, सत्य, सर्वोदय, अनेकात आदि सिद्धान्त प्राप्त हुये हैं। आचार्य समन्तभद्र ने १८०० वर्ष पूर्व सर्व प्रथम सर्वोदय का सिद्धान्त दिया। सवका कल्याण हो, सवका अभ्युदय हो, इसी भावना से उन्होने सर्वोदय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

भगवान् महावीर ने 'पुरुपार्थ' को महत्वपूर्ण वताया। सव प्राणी पुरुपार्थ करके ही अपने जीवन का कल्याण कर सकते हैं।

एक छोटे से गाव के वाहर एक वैलगाडी भागी जा रही थी। ८-१० वच्चे उसके पीछे दौड रहे थे। वे भाग कर उस गाडी पर चढ जाना चाहते थे। प्रयत्न करने पर उनमे से चार बच्चे गाडी पर चढ गये शेष नही चढ पाये। न चढने वालो के मन मे पुरुषार्थ न कर पाने का दु ख नही था, पर

ये चार वच्चे चढ गये और हम पीछे रह गये इस वात का दु ख था। उन्होने गाडीवान से शिकायत की कि देखो। पीछे तुम्हारी गाडी मे कुछ वच्चे वैठ गये। गाडीवान ने उन वच्चो को डाट-फटकार कर अपनी गाडी से नीचे उतार दिया। इसी प्रकार व्यसनो मे वचकर जो समृद्ध होते हैं, उनकी समृद्धि सभी को अखरती है, पर जो व्यसनो के कारण दरिद्र रहते है उनके उद्धार की सारी दुनिया को चिन्ता रहती है। जव तक व्यमनादि रहेगे, समृद्धि कैसे सभव है। जव तक इस देश मे जनता को व्यसनादि से वचाया नही जायेगा तव तक देश मुखी नही हो सकता है।

ससद सदस्य एन सी आयगर ने लिखा है कि जैनधर्म मे अधश्रद्धा को कतई महत्व नही दिया गया है। अन्य सभी धर्मो मे अधश्रद्धा को पर्याप्त महत्व दिया गया है। भगवान् महावीर का सिद्धान्त है कि पुरुपार्थ से धन-समृद्धि व सफलता प्राप्त हो सकती है। दीपावली पर कागज की लक्ष्मी की पूजा करने से धन की प्राप्ति नही हो सकती जव तक कि पुरुपार्थ न किया जाये। पुरुपार्थ से धन कमाकर दान करो। हमारे श्रेष्ठियो ने दान देकर इतने विशाल मन्दिरो का निर्माण किया है जिनके दर्शनो से शाति प्राप्त होती है। विश्वधर्म सम्मेलन के सचिव कर्नल ऊवान जव दक्षिण मे गोम्मटेश्वर की मूर्ति देखकर आये उनका कहना था कि—"मैंने इस विशाल प्रतिमा के दर्शन किये, अव मेरा जीवन सफल हुआ यदि मैं इसके दर्शन नही करता तो मेरा जीवन ही व्यर्थ रह जाता।"

भगवान् महावीर का जन्म वैशाली नगर मे हुआ। ललित-विस्तर (सस्कृत) नामक वौद्ध ग्रन्थ मे वैशाली का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। उसके अनुसार वैशाली मे तत्समय ७७०७ ससद सदस्य थे। चेतक वहा के अध्यक्ष थे। वैशाली मे ७००० मकानो मे स्वर्ण कलश लगे हुये थे, १४,००० मकान रजत कलश युक्त थे और २१,००० मकान ताम्र कलश युक्त। इस प्रकार ४२,००० मकानो मे एक लाख अढसठ हजार नागरिक रहते थे। नगर-सौंदर्य अद्भुत था। एक वार गौतम-वुद्ध जव वैशाली से विहार कर रहे थे तो वार-वार वैशाली की ओर मुड़कर देखते जाते थे। एक शिष्य द्वारा पूछने पर कि 'तथागत आप वार-वार पीछे मुडकर क्या देख रहे हैं', गौतम वुद्ध ने कहा कि—"मैं इस वैशाली को देखकर तृप्त नही हो पा रहा हूँ। मुझे इन्द्र-परिपद् के सौन्दर्य व वैशाली के सौन्दर्य मे कोई भेद नही नजर आ रहा है। इसलिये, इसके अप्रतिम सौन्दर्य को निहारने के लिये मैं वार-वार मुड-मुड कर देख रहा हूँ।"

वैशाली-विशाल, समृद्ध, सुभिक्ष, रमणीय, योगक्षेम पूर्ण थी। सब मे परस्पर अत्यन्त स्नेह व वात्सल्य था। महानगर के बीच कुण्डग्राम मे नन्दावर्त महल मे सिद्धार्थ रहते थे। चेतक की बडी पुत्री त्रिशला का विवाह इन्ही सिद्धार्थ से हुआ था। दोनो अत्यन्त सुख-सौहार्द पूर्वक जीवन यापन कर रहे थे। अचानक एक दिन रात्रि को रानी त्रिशला को १६ स्वप्न दिखाई दिये। प्रात काल रानी त्रिशला ने महाराजा सिद्धार्थ से स्वप्नो का फल पूछा। सिद्धार्थ ने बताया कि स्वप्न मागलिक हैं। ये शुभ घटना के सकेत हैं, तुम्हारी कुक्षि से एक तेजस्वी बालक का जन्म होगा। नौ महिने आठ दिन के पश्चात् त्रिशला ने अत्यन्त तेजस्वी बालक को जन्म दिया। बालक के जन्म के साथ ही समस्त ससार मे आनन्द व शाति की अनुभूति हुई। इतिहास साक्षी है कि महापुरुषो के जन्म व जीवनकाल मे उनके पुण्योदय के कारण सभी को शाति की अनुभूति होती है। वाल्मीकि रामायण मे उल्लेख है कि—जब राम का जन्म हुआ तो पेड-पौधो ने खूब फल दिये। महाभारत मे उल्लेख है कि जब युधिष्ठिर का जन्म हुआ तो गायो ने खूब दूध दिया। हमारे स्वतन्त्र भारत मे भी जब तक डा० राजेन्द्रप्रसाद राष्ट्रपति रहे, भारत का किसी देश से युद्ध अथवा वैमनस्य नही हुआ। महापुरुषो का आगमन सदैव फलदायक रहा है।

माता-पिता ने बालक का नाम वर्द्धमान रखा, क्योकि बालक के जन्मते ही राज्य मे आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक सभी दृष्टिकोण से उन्नति हो रही थी। वर्धमान बढते गये।

एक दिन वर्धमान, चलधर, काकधर, पक्षधर आदि राजकुमारो के साथ आमली क्रीडा खेल (कर) रहे थे। स्वर्ग मे चर्चा हो रही थी कि वर्धमान अत्यन्त वीर हैं। सगम नामक देव के मन मे वर्धमान की परीक्षा लेने का विचार उत्पन्न हुआ। यह विचार कुछ इसी प्रकार का था, मानो एक छोटासा ढेला समुद्र को मापने का विचार करे, या एक छोटा-सा तिनका हिमालय को मापने की सोचे। सगम देव ने सर्प बनकर उनकी क्रीडा मे विघ्न उपस्थित किया। चलधर, काकधर, व पक्षधर तीनो राजकुमार व राजकुमार वर्धमान के अलावा सब डर कर भाग गये। राजकुमार वर्धमान ने निर्भयता से सर्प को उठाकर फेंक दिया, इस निर्भयता के कारण उन्हे 'महावीर' कहा जाने लगा। **मथुरा के पुरातत्व विभाग मे महावीर की आमली क्रीडा करते हुये काकधर, चलधर व पक्षधर के साथ मे २००० वर्ष पुरानी प्रस्तर उत्कीर्ण मूर्ति है।**

महावीर बडे हुये, अपने पिता के राज्यकार्यादि मे सहायक वने। वैशाली मे खुदाई से एक मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसमे लक्ष्मी पर गज द्वारा अभिषेक किया जा रहा है—वह वाह्मीलिपि मे उत्कीर्ण है, जिसका भावार्थ है कि— महावीर २६ साल की अवस्था मे राजकाज भी सभालते थे, पिता के साथ कार्यालय-न्यायालय मे वैठते थे। वैशाली मे उस समय जनतन्त्र प्रणाली थी। जनतन्त्र का शुभारम्भ महाराजा चेतक (महावीर के नाना) ने किया। राष्ट्र-कवि रामधारीसिह 'दिनकर' ने अपने ग्रथ 'वैशाली का अभिनन्दन' मे लिखा है कि —

"वैशाली जन का प्रतिपालक, गणका आदि विधाता,
जिसे ढू ढता आज देश, उस प्रजातन्त्र की माता।
रुको, एक क्षण पथिक यहा, मिट्टी को शीश नवाओ
राज्य सिद्धियो की समाधि पर, फूल चढाते जाओ।"

वैशाली का प्राक् इतिहास (Early history of Vaishali) मे यूरोपीय विद्वानो ने भी इसका वर्णन किया है। महापुराण के सोलहवे अध्याय मे उल्लिखित है कि जनतन्त्र का शुभारम्भ व विकसित रूप का आधार जैन-शास्त्र है।

जिस समय भारत का सविधान वना, विश्व के सारे सविधान व महत्वपूर्ण धर्मग्रन्थो का अध्ययन किया गया। एकत्रित अनेक ग्रथो मे केवल जैन शास्त्र मे ऐसा उल्लेख था कि पुत्री का भी पिता की सम्पत्ति मे समान अधिकार है (वैरिस्टर चम्पतरायजी के जैन लॉ मे इसका उल्लेख है), इसी को आधार वनाकर आज इसे कानून रूप दिया गया है।

वैशाली जनतन्त्र की यह विशेषता थी कि सव समान सम्पत्ति व साधन युक्त थे। सवको विचार व्यक्त करने का अधिकार था। सर्वत्र अहिसक वातावरण था।

पुरातत्व विभाग के डाइरेक्टर टी एन रामचन्द्रन ने लिखा है कि— गाँधीजी ने नवभारत का निर्माण भगवान् महावीर की अहिसा के आधार पर ही किया।

३० वर्ष की अवस्था मे महावीर ने गृहत्याग कर सन्यास ग्रहण किया। महावीर के विवाह के सन्दर्भ मे कुछ मतभेद है। दिगम्वर मान्यता है कि विवाह नही हुआ केवल प्रसग चला था। श्वेताम्वर मान्यता है कि विवाह हुआ। यह विवाद ही अप्रासगिक है, जो मुक्त हो चुका उस पर विवाह

होने न होने का कोई फर्क नही पडता । हमे तो उनके सिद्धान्तो को ही ग्रहण करना चाहिये. विवाह जैसी ऊपरी वातो पर उलझकर व्यर्थ का विवाद नही खडा करना चाहिये । सत्य है कि रस ग्रहण करने के लिये छिलका और गुठली हटाने ही पडते हैं ।

महावीर वस्त्राभूषण त्याग, पचमुष्टि केशलोच कर शालिवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुये । ४८ घण्टे के ध्यान के पश्चात् कूलग्राम के नृप के घर आहार किया और भ्रमण करते-करते उज्जैन नगरी पहुचे, वहा पहुचकर एक श्मशान मे ध्यानलीन हो गये । श्मशान के मालिक स्थाणु ने देखा—यह कौन साधु आ वैठा है ? उसने अनेक उपसर्ग किये किन्तु महावीर ध्यान से विचलित नही हुये । प्रात उपसर्ग निवारण होने पर महावीर ने आगे विहार किया । राह मे वधन मे वधी चन्दना ने सूप मे सत्तू, छाछ व जल से महावीर को प्रतिग्रहण (पडगाह) कर आहार कराया । आहार-दान करने वाली चदना भी अकिंचन थी तो आहार ग्रहण करने वाले महावीर भी अकिंचन । चदना के पास केवल भक्ति थी ।

सर्वार्थ सिद्धि, राजवार्तिक, तत्वार्थ वृत्ति मे व्रत-परिसख्यान की परिभाषा दी गई है । व्रतपरिसख्यान का अर्थ—सन्तरा, नारियल द्वारा विधि वैठाना नही है, अपितु चौके मे वनी वस्तुओ मे से पाँच ही वस्तुयें ग्रहण करू गा अथवा आहार के लिये केवल एक मोहल्ला ही रखू गा यदि उसमे आहार न हो सका तो आगे नही जाऊगा, आदि है । पर आज व्रतपरिसख्यान का अर्थ व स्वरूप वदल गया, मूल विधि भूल गये है ।

महावीर ने आगे विहार किया । चन्दना भी साध्वी वन गई । राजगृही के पास मगध मे ऋजुकूला नदी के तट पर द्रम्भिका ग्राम (आजकल 'दमोह') मे भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ । इन्द्र द्वारा तव समवशरण की रचना की गई । जयधवला मे उल्लेख है कि गणधर के अभाव मे ६६ दिन तक दिव्यध्वनि नही खिरी । गौतम-ब्राह्मण आये, उन्होने कहा कि यदि महावीर मेरी शकाओ का समाधान करेंगे तो मैं उनका शिष्य वन उनके सिद्धान्तो का द्वादशाग मे वर्णन करू गा । उन्होने महावीर से अनेक प्रश्न पूछे । महावीर ने उनका समाधान किया और वताया कि एक पुद्गल परमाणु मे अनन्त शक्ति है, अनेक रग मौजूद हैं । मेहदी हरी है पर पीस कर लगाने पर वह लाल रग मे अपनी छाप छोडती है । कोयला काला है पर जलकर सफेद राख मे वदल जाता है । वनस्पति मे भी जीव है आदि । इसी सिद्धान्त को भारत के श्री जगदीशचन्द्र वसु ने १६०६ मे वैज्ञानिक आधार से सिद्ध कर दिखाया ।

महावीर ३० वर्ष तक देश के कोने-कोने मे घूमकर धर्म का प्रचार करते रहे। उस समय धर्म के नाम पर हिसा का बोलबाला था। **धर्म को सही रूप मे प्रसारित व प्रचारित किया जावे तो वह अमृत है अन्यथा अंधविश्वासो, गलत तरीको के कारण वह हलाहल हो जायेगा।** जैसे गाय के माध्यम से प्राप्त होने वाला दूध अमृत है और आकडे के पेड से प्राप्त होने वाला दूध विष है। महावीर ने धर्म के नाम पर होने वाली बलियो का विरोध किया, इस प्रकार के फैल रहे अज्ञान का विरोध किया। अहिसा का प्रसार किया। आज भी विश्व मे अहिसा की आवश्यकता है, अनेकान्त की आवश्यकता है। **विचार में अनेकान्त, आचार मे अहिसा, वाणी मे स्याद्वाद और समाज मे अपरिग्रह यही सर्वोदय है।** हमारे मस्तिष्क मे अनेक प्रकार के विचार उठते हैं, उन विचारो के प्रतिपक्षी-विरोधी विचार भी उठते हैं, इन विरोधो का नाश करने के लिये वाणी मे स्याद्वाद-सप्तभगी नय बताये है। अनेक लोगो ने अज्ञानतावश स्याद्वाद की आलोचना की है। शकर ने ब्रह्मसूत्र मे इसकी आलोचना की है। बादरायण ने भी कहा है कि एक ही वस्तु मे दो विरोधी धर्म कैसे एक साथ रह सकते है? उन्हे बताया जाये कि जैसे एक ही व्यक्ति मे (अपेक्षा से) एक साथ पिता-पुत्र के विरोधी भाव रहते हैं। शकर ने सप्त-भग मे से 'अवक्तव्य' वाले नय पर आपत्ति की है कि यदि अवक्तव्य है तो कहा कैसे जायेगा. यदि कहा जाता है तो अवक्तव्य कैसे है? अवक्तव्य का अर्थ है जिसे वाणी के द्वारा अभिव्यक्त न किया जा सके। क्योकि सत्य कभी भी पूर्ण रूप मे वाणी द्वारा अभिव्यक्त नही किया जा सकता। जो अभिव्यक्त है वह अपूर्ण ही है। शकर ने स्वय ने विवेक चूडामणि मे बताया है कि ब्रह्म महान् है—अद्भुत है‥ ‥ ‥‥ 'अनिर्वचनीय' है। यह 'अनिर्वचनीय' इसीलिये कि वाणी के द्वारा ब्रह्म के सब गुण व्यक्त नही किये जा सकते, क्योकि एक ही पदार्थ मे अनन्त गुण हैं। 'डामर' जो 'अखाद्य' है उसी से जर्मन वैज्ञानिक रसायनो की सहायता से 'खाद्यरग' बनाते हैं। यह तभी सभव हो सका है जब एक ही वस्तु मे अनन्त गुण हो। जर्मन विद्वानो ने ही १७५ वर्ष पूर्व सप्तभगी नय का महत्व समझकर इस पर अनेक पुस्तकें लिखी तब हमने, भारत-वासियो ने इसका महत्व समझा। हमारे ही सिद्धान्त दूसरे देशवासियो के द्वारा प्रस्तुत करने पर हमे भले लगे। सत्य है, आज की सभ्यता ही ऐसी है कि आयातित वस्तु को ही महत्व प्रदान किया जाता है।

भगवान् महावीर ने, आत्मा मे कर्मों के आवरण से जो शक्ति छिपी है उसे प्रगट करने का मार्ग बताया। वस्तु का मूल स्वभाव कभी नष्ट नही होता। शीतलता, जल का स्वभाव है गुण है, अग्नि के साहचर्य से गर्म होने

पर भी उसका स्वभाव, गुण नष्ट नही होता, उस गर्म जल को यदि अग्नि पर डाले तो अग्नि तत्काल बुझ जाती है—क्योकि जल गर्म होने पर भी अपने स्वभाव शीतलता से युक्त है। इसी प्रकार आत्मा मे भी उसके गुण–स्वभाव मूलत अवस्थित है। केवल उन्हे अभिव्यक्त करने की आवश्यकता है। नारियल का पानी जब सूख जाता है तो उसके अन्दर का गोला बजने लगता है, कहने लगता है— मैं पृथक हू'—यह ऊपर का आवरण पृथक है। इसी प्रकार आत्मा से कर्म के सूख जाने पर शरीर व आत्मा पृथक है, यह भेद-विज्ञान स्पष्ट हो जाता है। कर्मो को धर्मध्यान, तप आदि के द्वारा दूर करना होगा। जब तक कर्मो का नाश नही होगा आत्मा का स्वाद आनन्द नही प्राप्त होगा। आत्मानन्द की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना होगा।

गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है कि—मैं विश्व में किसी का भला या बुरा नही कर सकता। मैं पत्ते मे भी परिवर्तन नही कर सकता, उसकी अपनी शक्ति है, प्रकृति है। भगवान् महावीर ने भी कहा है कि—मैं किसी का कर्त्ता नही हू, मैं किसी का भला-बुरा नही कर सकता। स्व-पुरुषार्थ मे ही उत्थान सभव है अन्यथा नही। कर्जा लेकर अथवा किसी के द्वारा दिये गये धन से कब तक घर चल सकता है। घर चलाने के लिये स्व-पुरुपार्थ करके ही धन कमाना होगा। **महावीर का धर्म पुरुषार्थवादी है, दैववादी नहीं**। यदि श्रीकृष्ण किसी का भला-बुरा कर सकते तो क्यो नही कौरवो का हृदय-परिवर्तन करते जिससे महान्-विनाश-लीला न होती। पाप कर्म हम करें और सोचें कि भगवान् उन्हे धो दें, यह सभव नही है। क्या भगवान् धोबी हैं? स्वय का भला-बुरा, उत्थान स्वय करना होगा। केवल भगवान् का नाम लेने से नही अपितु उनके द्वारा बताये गये मार्ग पर चलने से कल्याण होगा। ईश्वर किसी का कर्ता-धर्ता नही है। आज दैव-वाद ने मानव को निष्क्रिय बना दिया है। अत हमे पर कर्तृत्ववाद को भूल स्वय को पुरुषार्थ के द्वारा, धर्म-ध्यान के द्वारा अपना मन पवित्र बनाना चाहिये। जैसे जल ही कीचड का कारण है और जल ही उससे शुद्धि करने का साधन है, उसी प्रकार मन ही पाप करता है और स्वच्छ मन, पवित्र मन द्वारा ही उन पापो की निर्जरा अथवा उनसे मुक्ति सभव है।

प्रत्येक आत्मा परमात्मा की शक्ति लिये हुये है, पुरुषार्थ द्वारा उसे अभिव्यक्त करना है।

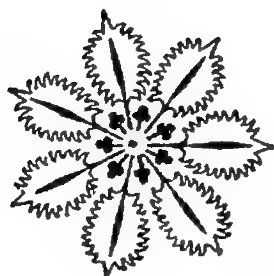
मन के विकल्प ही दु ख के कारण हैं। जब कोई श्रावक पूजा कर

मन्दिर से आता है तब उसके भाव कितने निर्मल स्वच्छ, पर उपकार की भावना से ओतप्रोत होते हैं, वह कहता है कि—

"सजपूको को, प्रतिपालको को, यतीन को यतिनायको को।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले, कीजे सुखी हे जिन शांति दे।"

यद्यपि दूसरे का भला-बुरा नही कर सकते, पर हमे प्रत्येक जीवमात्र के प्रति उपकार की भावना रखनी चाहिये, कथचित् सहयोगी बनिये।

और अन्त मे मै इतना ही कहता हू कि—देश के प्रत्येक व्यक्ति को कर्तव्य-पालन की शिक्षा देनी चाहिए। **कर्तव्य-पालन से ही अधिकार प्राप्त हो सकते हैं। जब तक प्रजा मे कर्तव्य-पालन की बात नहीं आयेगी तब तक प्रजातन्त्र सफल व पूर्ण नहीं होगा।**



त्रियोग सहित आत्मावलोकन ही ध्यान है

योग का अर्थ है मन-वचन-काय की एकाग्रता। आत्मा मे एकाग्रता ही ध्यान है। आत्म-तत्त्व की प्राप्ति न हो तो अध्ययन चाहे कितना ही हो सब व्यर्थ है। जब तक विकल्पो से मुक्त होकर ध्यान मे मग्न नही हो, तब तक बध ही होता है।

माला जपना, स्वाध्याय करना, पूजा करना, इन सभी क्रियाओ का ध्येय आत्मा को पवित्र कर मुक्ति प्राप्त करना है। इन क्रियाओ के पीछे यदि सासारिक लालसाये हैं, तो धर्म सकीर्ण व सकुचित हो जाता है।

भारत मे योग की विविध प्रक्रियायें व तरीके प्रचलित हैं, लेकिन उन सब पद्धतियो का लक्ष्य इस ससार से मुक्ति प्राप्त करना है। दुकान चाहे काहे की हो पर ध्येय सबका धन कमाना ही है। माला जपना, स्वाध्याय करना, पूजा करना इन सभी क्रियाओ का ध्येय भी आत्मा को पवित्र कर मुक्ति प्राप्त करना ही है। इन क्रियाओ के पीछे यदि सासारिक लालसायें हो तो धर्म सकीर्ण या सकुचित हो जाता है किन्तु फिर भी ये क्रियायें सर्वथा मिथ्यात्वी नही कहला सकती अर्थात्—क्योकि गृहस्थ सर्वथा इच्छामुक्त नही हो सकता। इसलिये इन धार्मिक क्रियाओ के पीछे कोई लालसा है तो उसे इसका अतिचार अवश्य लगेगा किन्तु सर्वथा मिथ्यात्व नही होगा। गृहस्थ द्वारा तीर्थंकर देव के दर्शन, स्वाध्याय, पूजा आदि सब दुखो से मुक्ति प्राप्त करने हेतु ही किये जाते हैं।

भगवान् महावीर ने सहज-साध्य योग पर वल दिया है, हठयोग पर नही। जितनी देर सहजता से मन स्थिर हो उतनी ही देर ध्यान करो। यह उपयुक्त नही है कि वाह्य रूप मे तो आँख वद कर वैठ जाये पर अन्तर मे कोलाहल-विचार-मन्थन चलता रहे, यह ध्यान नही है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे निम्न गाथा लिखी है—

"जीवो चरित्तदसरगणाणठिदो त हि ससमय जाणे।
पोग्गल कम्मपदेसट्ठिद च त जाण परसमय ।।"

जर्मन के पिशल नामक विद्वान् ने वताया, इसका अर्थ किया है कि प्रथम पक्ति मे 'जाणे' शब्द प्रयोग किया गया है, यह जाणे शब्द स्वेच्छा-वाचक शब्द है जैसे हम व्यवहार मे भी कहते है कि इस सन्दर्भ मे तू जाने और तेरा काम। अर्थात् प्रथम पक्ति मे 'जाणे' शब्द मुमुक्ष पर ही निर्भरता प्रकट करता है और द्वितीय पक्ति मे प्रयुक्त 'जाण' शब्द आज्ञार्थक है। इस गाथा का अर्थ है कि मनवचन काय को एकाग्र कर सम्यग्-दर्शन-ज्ञान-चरित्र की एकता से स्व-समय मे, आत्मा मे रमण करना आपका कार्य है। मैं आपको आपकी आत्मा मे स्थिर नही कर सकता, केवल सकेत दे सकता हूँ। यह आप जानें, कि किस प्रकार स्थिर होना है। पर यह निश्चित रूप से जानो कि पर से सवन्ध होना, पुद्गलकर्मों के साथ सम्वन्ध होना पर–**समय** है।

केवल आत्मा मे एकाग्रता ही ध्यान है, योग है। मन, वचन काय का जोड, जैसे २+२=४ भी योग अर्थ है। ध्यान व योग पर्यायवाची शब्द है। ध्यान व योग मार्ग पर वढने से पूर्व आत्मा का ज्ञान होना चाहिये, उसका स्वरूप ज्ञान होना चाहिये,अन्यथा ध्यान का आलम्वन क्या होगा? वह द्रव्य-गुण-पर्याय-मयी आत्मा चैतन्य है, कूटस्थ नही है। प टोडरमलजी ने वताया है कि आत्मा की चैतन्यता को न जानने की स्थिति दो प्रकार की है–(१) एक अधा व्यक्ति जो मिश्री का रूप-रग आकारित नही जानता, जव वह उसे चखता है तो कहता है मिश्री मीठी है, स्वाद को तो अभिव्यक्त कर सकता है, पर रग-रूपादि वताने मे असमर्थ है। इसी प्रकार (२) एक गूगा व्यक्ति है, उसके पास गुड है, वह गुड को देख सकता है किन्तु वह उसके वारे मे कुछ भी अभिव्यक्त नही कर पाता। इसी प्रकार जव तक आत्मा का अनुभव न कर लें तव तक आत्मा के वारे मे हमारा ज्ञान अधे की मिश्री व गूगे के गुड के समान हैं क्योकि हम छद्मस्थ हैं। ग्रन्थ पढने से आत्मा की प्राप्ति नही हो जाती। ग्रंथादि का पाठन करने से उस मार्ग पर अग्रसर तो है पर पूर्ण उपलब्धि नही हुई है। केवल ग्रन्थादि के पढने से ही यह सोचे कि मैंने आत्मतत्त्व तो

जान लिया इसी प्रकार होगा जैसे एक गधे को शेर की खाल मिल जावे और वह यह विचारने लगे कि 'मैं शेर हूँ।' योग-ध्यान केवल पुस्तके पढने से नही आता, योग के पीछे साधना है, तपस्या है। किसी भी वस्तु की उपलब्धि साधना से ही सभव है। एक किसान अन्न प्राप्ति के लिये सर्व प्रथम जमीन साफ करता है, फिर उस पर हल चलाता है, वीज-वपन करता है, सिंचाई करता है, शीत-आतप सहन करता है, उसकी साज सभाल करता है तब फसल उत्पन्न होती है। अत सर्व प्रथम आत्मस्वरूप पहचान कर योग मार्ग पर क्रम से वढना होगा क्योकि अनुभव, मनन व साधना क्रम से ही वढती हैं।

योग का अर्थ है मन-वचन काय की एकाग्रता। योग के दो लाभ है (१) मानसिक तनाव से मुक्ति प्राप्त हो सकती है तथा (२) कर्मक्षय कर सकते हैं। योग क्रिया मे योग-योगी व योगविधि का महत्व है। योगी जो अन्तरग व वहिरग त्याग कर योग मे स्थिर हो वह योगी है। इसमे अन्तरग व वहिरग दोनो ओर से मन वचन व काय को निवृत करना होगा। ऐसा सभव नही है कि केवल अन्तरग रूप से ही निवृत हो जाये या केवल बहिरग रूप से ही निवृत हो जायें। वगुला वहिरग रूप से ध्यान मग्न होता है किन्तु अन्तर मे शिकार पर निगाह रहती है अर्थात् केवल वाह्यरूप मे एकाग्रता के साथ वैठने मात्र से योगी नही वन सकता। पद्मपुराण मे लिखा है कि केवल आखे वन्द कर, वचन वन्द कर वैठें और अन्तर मे सकल्प-विकल्पो का जाल विछ रहा हो तो वह ध्यान नही है, योग नही है। एक वहुत स्थूल उदाहरण लें—एक छोटी सुई है, धागा कुछ मोटा है, उस धागे को सुई मे पिरोना है। यदि हाथ जरासा हिल जाये तो धागा नही पिरोया जा सकता, अत शरीर को स्थिर करना होगा। यदि किसी से वात-चीत करते रहेगे तो धागा नही पिरोया जा सकेगा, अत वचन व्यापार कुछ देर के लिये स्थगित करना होगा। और यदि मन किसी अन्य विचार मे उलझ गया तो धागा नही पिरोया जा सकेगा, अत मन को भी स्थिर करना होगा। जव मन, वचन और काय तीनो स्थिर हो कर सुई की ओर एकाग्र हो जायेंगे, तभी धागा पिरोया जायेगा, लक्ष्य की प्राप्ति हो सकेगी। इस समय अनेको विकल्प छूट गये और केवल एक विकल्प धागा पिरोना ही रह गया और लक्ष्य प्राप्ति हो गई। इसी प्रकार ध्यान करते समय 'मेरी आत्मा चैतन्य स्वरूप है' यह एक ही विकल्प रहे शेष रहे सब और छूट जायें तभी लक्ष्य की ओर अग्रसर होगे।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश मे लिखा है कि केवल शरीर हिलाने से, वोलने से कर्म वन्ध नही होता। वन्ध का निमित्त जव मन, वचन

ग्रौर काय तीनो का ऐक्य होकर शुभ-ग्रशुभ विचार वृत्ति हो तभी होता है।

प० टोडरमलजी ने लिखा है कि एक व्यक्ति कुछ रुपये लेकर एक ग्राभूषण खरीदने जाता है। उस समय उसके मन मे ग्राभूपण, रुपयो ग्रादि के सम्वन्ध मे ग्रनेक विकल्प उठते हैं, किन्तु जव वह ग्राभूपण खरीद कर धारण कर लेता है तव उसके मन मे कोई विकल्प नही रहता, ग्रपितु उसकी प्राप्ति का ग्रानन्द होता है। इसी प्रकार जव तक विकल्पो से मुक्त हो योग मे, ध्यान मे मग्न नही होते तव तक वन्ध रहता है, जव सव विकल्प छूट जायें तव केवल ग्रात्मानन्द ही रहेगा।

कन्नड भापी कवि रत्नाकर की एक कविता का भावार्थ है कि केवल शास्त्रो को पढना या उनको रटना पर्याप्त नही है, यदि ग्रात्मतत्त्व की प्राप्ति न हो तो ग्रध्ययन कितना ही हो सव व्यर्थ है, क्योकि यदि पढना ही पर्याप्त होता तो फिर तो ग्रन्थ के छपते समय कम्पोजिग करने वाला व्यक्ति व उसमे सशोधन करने वाला व्यक्ति भी उन ग्रन्थो को पढता है।

पहाडो-नगरो की यात्रा करने से क्या लाभ प्राप्त होगा जव तक कि जिन योगियो के चरण-वन्दना के लिये पहाडो पर चढे हैं उनके वताये योग पर या मार्ग पर नही चले। विना योग का प्रयोग (प्रैक्टिकल) किये शुद्धि कैसे सभव है? इसी प्रकार केवल वहिरग उपाधि के प्राप्त होने से लक्ष्य प्राप्त नही होगा, इसके लिये ग्रन्तरग की शुद्धि चाहिये। जव तक एकाग्रता से, ग्रन्तर मे विराजमान परमात्मतत्व का दर्शन नही करते तव तक सव वाह्य प्रक्रियायें हेय हैं। गवे के द्वारा स्वय को शेर समझने से तो वह शेर नही हो जाता। केवल रटने से नही ग्रनुभूति मे, स्वभाव मे सिद्धान्तो को उतारने से ही कल्याण है।

एक व्यक्ति था, वहुत क्रोवी। सव घर वाले उससे परेशान थे। एक दिन उसकी पत्नी एक महात्माजी के पास गई ग्रौर पति का हाल वताया। महात्माजी ने उसे वुलाया ग्रौर नित्य स्वाध्याय करने के लिये कहा, वह मान गया। नित्य स्वाध्याय करने लगा। एक दिन घर की सफाई करते समय उसका पट्टा-ग्रासन व शास्त्र ग्रव्यवस्थित हो गये, वस उसके क्रोध का पारावार नही। यदि ऐसे नित्य स्वाध्याय करके भी जीवन मे परिवर्तन न ग्राया, विचारो मे मलीनता रही तो वह स्वाध्याय कोई काम का नही। स्वाध्याय, यात्रायें तभी सफल है जव उसके वाद ग्राचरण मे निर्मलता ग्राने लगे। स्वाध्याय करते समय वैसी मान्यताये व दुकान मे जाते ही उससे

विपरीत मान्यतायें व आचरण हो ऐसे एक म्यान मे दो तलवारें नही समा सकती। घर मे पाठ करें कि सदा सत्य बोलना चाहिये और घर से बाहर निकल कर झूठ ही झूठ बोलें, यह ठीक नही है। केवल बाह्य क्रियाकाड करने से कुछ नही होता। ज्ञान तभी पूर्ण है जब उसका व्यवहार मे उपयोग हो। धर्म सब जगह समान है, दुकान का धर्म पृथक्, आफिस का धर्म अलग ऐसा नही है। श्रीमद् रायचन्द्रजी के बारे मे गांधीजी ने लिखा है कि—उनकी विशेषता थी कि आध्यात्मिक धर्म व दुकान का धर्म उनके लिये एकसा था। एक बार एक व्यापारी ने कुछ कीमती मोती गलती से कम कीमत के भाव से श्रीमद् रायचन्द्रजी के पास उनकी दुकान पर भेज दिये। रायचन्द्रजी ने माल देखकर उन्हे वापस रख दिया और उसके मालिक के पास समाचार भिजवाये कि तुमने कीमती माल कमती भाव पर हमे भेज दिये हैं, उनका असली दाम बताओ। मालिक बोला कि मैंने उसके दाम सही बताये है। रायचन्द्रजी ने माल स्वीकारने के लिये इन्कार कर दिया। कहा पहले एक बार तुम इसे फिर देखो। मालिक आया, माल देखा तो उसे अपनी भूल ज्ञात हुई। पर रायचन्द्रजी ने थोडे से धन के लोभ मे आकर अपना धर्म, ईमान नही बदला। इस प्रकार मन्दिर व दुकान मे जिसके समान भावनायें व आचरण हो वही सुमुमुक्षु है और तभी उसका शास्त्र पढना सार्थक है। स्वाध्याय-तत्वचर्चा आदि तभी सही है जब वह आचार व व्यवहार मे भी उतरे अन्यथा वह मात्र दिखावा है।

सभी को शास्त्रादि पढने का भी समान फल प्राप्त नही हो सकता क्योकि पढते समय के भावो का अन्तर फल के अन्तर का कारण है। स्फटिक मणि की भाँति आत्मा निर्मल है, पर मणि के सयोग से स्फटिक रगीन हो जाती है। इसी भाँति आत्मा भी विकल्पो आदि से मलीन हो रहा है। जैसे चम्मच कड़ाही मे पडा भी मिठाई का स्वाद नही जानता इसी प्रकार हम भी स्वय का आनन्द नही जानते। अन्तरग-बहिरग परिग्रह से मुक्त हुये बिना आत्मानन्द नही प्राप्त कर सकते। एक अनपढ व्यक्ति भी यदि एकाग्रता से माला फेरता है, चित्त शुद्ध करता है तो वह मोक्षमार्ग प्रशस्त करता है।

योग मे मन-वचन-काय की एकाग्रता के साथ ध्येय भी पवित्र होना चाहिये, ध्येय पवित्र होगा तो साधन पवित्र होगे, साधन पवित्र होगे तो ध्येय पवित्र होगा। एक पवित्रता के लिये दूसरी पवित्रता अपेक्षणीय है।

एक बार बालगगाधर तिलक ने गाधीजी से कहा कि हम अग्रेजो को इस प्रकार अहिंसादि से नही भगा सकते। उनके साथ सीधेपन से नही,

शठता से व्यवहार करना होगा। गाधीजी ने जवाब मे कहा कि—वो ठग है इसलिये मैं भी ठग बनू ऐसा सभव नही है। मेरा उद्देश्य पवित्र है—तो साधन भी पवित्र ही होगे।

व्यावहारिक जीवन पवित्र बनाये बिना अन्तरग पवित्र नही हो सकता और अन्तरग पवित्रता के बिना कर्मक्षय नही हो सकता। बिना पवित्रता के आध्यात्मिकता कोरी किताबी होगी, निरर्थक होगी।

योग के लिये आत्मा का स्वरूपज्ञान आवश्यक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छहो द्रव्यो मे आत्मा व पुद्गल ही क्रियावान् व शक्ति युक्त हैं। आत्मा पारिणामिक भाववाला है। उसको परम-पारणामिक भाव की प्राप्ति करनी है, निष्क्रिय, पारमारिणक बनाना है। पाप-पुण्य की क्रिया के ग्रहण का रुक जाना ही निष्क्रियता है, इससे ही शुद्धता प्राप्त होगी।

सभी स्वाध्यायकर्त्ताओ को आत्मत्व की प्राप्ति हो यह आवश्यक नही है। यह स्वाध्यायकर्त्ता की एकाग्रता व मनकी पवित्रता पर निर्भर करता है। मानव अपने आचरण मे अशुद्धता, झूठ बोलना आदि कार्य दो कारणो से करता है। (१) राग से (२) द्वेप से। मा बच्चे को अपने राग के कारण झूठ बोलकर भी बचाती है। पडोसियो, दुश्मनो पर द्वेप के कारण झूठा आरोप लगा दिया जाता है। ये मन को अपवित्र बनाते है। एकाग्रता मे बाधक बनते हैं और एकाग्रता व पवित्रता के बिना लक्ष्य प्राप्ति सभव नही है।

बिना साधना के सिद्धि नही होती। पूजा-पाठ, स्वाध्याय, ध्यान, सभी मे प्रमुख होता है—'भावस्थैर्य' (भावो की स्थिरता)। सामायिक मे जब तक आत्मा के साथ वीतराग-भाव, परिणामो की निर्मलता न हो तब तक वह द्रव्य-सामायिक है, भाव सामायिक नही।

लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने से ही सफलता प्राप्त होती है। आत्मा का आत्मा मे रत होना ही परमध्यान है।

ध्यान की छोटी-सी चिनगारी, असख्यात कर्मो को जलाने मे सक्षम है। ध्यान के साथ-साथ ज्ञान आवश्यक है। समता से ही योग मे स्थिर हो सकते हैं। मन-वचन-काय की एकाग्रता से ही सिद्धि सभव है।

हमारे जितने भी तीर्थंकर हुये हैं सभी ने योग के द्वारा आत्मशुद्धि कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। भगवान् महावीर बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक ध्यान करते रहे। भगवान् पार्श्वनाथ चार महीने तक ध्यान मे अचल रहे। बाहुबलि एक वर्ष तक मन-वचन-काय स्थिर कर खडे रहे। हमारे शास्त्रो मे केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये शुक्ल ध्यान का उत्कृष्ट काल सैंतालीस मिनट बताया गया है। जब केवल इतने से समय के ध्यान से ज्ञान प्राप्त हो सकता है तब महावीर पार्श्वनाथ आदि को इतना समय कैसे लगा ? ध्यान के लिये अभ्यास की आवश्यकता है, प्रारम्भ मे तो मन स्थिर ही नही हो पायेगा। द्रव्य पर मन स्थिर किया तो पर्याय पर आ जायेगा, पर्याय पर करना चाहेगे तो द्रव्य पर आ जायेगा, पर अभ्यास से स्थिर होने लगता है। पूजा-पाठ, स्वाध्याय, ध्यान सभी मे लक्ष्य शुक्लध्यान होता है, पर सभी मे प्रमुख होता है भावस्थैर्य—भावो की स्थिरता। इसीलिये तो पूजा के भी दो भेद हैं—द्रव्यपूजा व भावपूजा। सामग्री आदि के चढावे के साथ पूजा की जावे वह द्रव्य-पूजा है और द्रव्य-गुण मे एकाकार-लवलीन होना भावपूजा है। इसी प्रकार नियमसार मे लिखा है कि सामायिक के भी द्रव्य व भाव रूप से भेद हैं। शरीर को स्थिर कर, दृष्टि को नासिकाग्र कर मौन बैठना द्रव्य-सामायिक है। उसमे भाव स्थिर रहने पर ही वह भावसामायिक कहलायेगा। आसन जमाकर बैठ जाये और ध्यान कही और अटक जाये तो वह आर्तरौद्र ध्यान प्रारम्भ हो जायेगा। उसके बहिरग रूप को देखकर देखने वाला भले तारीफ करे पर अन्तर मे कोलाहल मचा हो, भाव शुद्ध नही हो तो वह द्रव्य सामायिक है। जब तक आत्मा के साथ वीतराग भाव, परिणामो की निर्मलता न हो तब तक वह द्रव्य सामायिक है।

योग के लिये पद्मासन, भद्रासन, सिद्धासन आदि मे जिसमे भी सहजता अनुभव हो उसी आसन मे बैठ कर भाव स्थिर करने की चेष्टा करे। **बिना साधना के सिद्धि नहीं होती,** योग भी साधन से ही सिद्ध होता है। भावनासार के अनुसार—हीरे को जब पानी मे डाल देते हैं तो पानी की तरगो के कारण वह हीरा भी दिखाई देना बद हो जाता है, उसी प्रकार मन की चचलता के कारण आत्मारूपी हीरे के दर्शन नही हो सकते। जब तक भावमन स्थिर नही होगा तब तक आत्म-अनुभव नही हो सकता। अक्षर पढते चले जाना, शास्त्र पढ़ना आदि द्रव्य सामायिक है, बिना भाव स्थिरता के यात्रा करना द्रव्य-यात्रा है।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका मे लिखा है कि वस्तु को समझने के लिये तीन साधन है, शब्द, अर्थ व ज्ञान। शब्द समयसार, अर्थ-

समयसार व ज्ञान समयसार। समयसार के तीन प्रकार है। समयसार का पद्यात्मक रूप, ग्रथरूप, शब्द समयसार है। उसका भाव क्या है वह अर्थ समयसार है और उसका अर्थ हृदयङ्गम होने पर वह ज्ञान समयसार है, भाव समयसार है। जब तक भावसमयसार की प्राप्ति नही हो स्वाध्याय निरर्थक है, व्यर्थ है। जैसे 'घट' मे शब्दघट, अर्थघट व ज्ञानघट। एक सस्कृत पढने वाला वालक 'घट' को शब्द रूप ही जानता है। कुम्हार उस घट को अर्थ रूप ही जानता है कि घट क्या होता है और ज्ञानघट है—जिसमे उसका आकार प्रतिविंवित होता है। घट टूटने पर भी यह भावरूप आकार खत्म नही होता। जब तक भाव समयसार की प्राप्ति नही होगी, आत्मसाक्षात्कार नही होगा तव तक द्रव्य-समयसार, शब्द-समयसार का पठन-पाठन सफल नही होगा।

योगाभ्यास प्रारम्भ करते ही आत्मसाक्षात्कार हो जाये, ऐसा नही है। श्रावक तभी है जब वह नित्य योग व भाव के साथ सामायिक करें। इसके अभाव मे केवल जैनकुल मे जन्म लेने से वह द्रव्य श्रावक है। श्रमण-साधु भी वही है जो भावो मे एकाग्र है। धार्मिक मत्र या स्तुति का सदैव मनन-चिन्तन करना चाहिये। किसी भी स्थिति मे हो उसका मनन करना चाहिये। णमोकार मन्त्र जैसा पवित्र मत्र सदैव ताजा रहता है। यह कभी वासी नही होता, प्रत्येक स्थिति मे (पवित्र-अपवित्र) इसका मनन हो सकता है।

एक वार एक व्यक्ति को एक मुनि ने एक सरल-सा नियम दिया कि दुकान मे ही जब भी समय मिले पाँच-दस मिनट एकाग्र हो सामायिक करना। उस व्यक्ति ने सोचा कि चलो अच्छा व सरल सा नियम है, न कही जाना होगा, न दुकान का हर्जा होगा। दुकान मे वैठकर ही वह आख खोल सामायिक करने लगा। इतने मे ही एक कुत्ता दुकान मे घुसकर गुड की भेली खाने लगा। यह देख उस व्यक्ति के मन मे अनेक विकल्प उठने लगे। यदि उठकर कुत्ते को भगाता हू तो नियम भग होता है और यदि नियम पालन करता हूँ तो गुड की भेली जाती है। इसीसे एक कवि ने कहा है—

"सामायिक मे समता भाव, तो गुड की भेली कुत्ता खाय।
वोले तो सामायिक जाये, नही तो गुड चले जाय।"

मन मे एकाग्रता न हो, विकल्प उठ रहे हो तो केवल ऐसे ही मुद्रा मे वैठे रहने से कोई लाभ नही है। काय व वचन के साथ मन की एकाग्रता आवश्यक है। विकल्प वद होने पर एकाग्रता होने से ही किसी विशेष वस्तु का ध्यानयोग हो सकता है। प्रारम्भ मे मेरा आत्मा शुद्ध, सिद्धो के गुणो के

समान, ज्ञानमय, निराकार है। ऐसे सोचकर ध्यान किया जाये किन्तु बाद मे यह भी विकल्प त्याग कर बिल्कुल एकाग्र होना चाहिये। क्षण भर के लिये एकाग्र होना भी सवर का कारण है। जैसे किसी भूली हुई वस्तु को स्मरण करने के लिये एकाग्र होते हैं, अनेक विल्कपो से मुक्त होते हैं उसी प्रकार गृहस्थी के प्रपचो से,विकल्पो से मुक्त हो। एक ही विकल्प रखकर ध्यान एकाग्र कर आत्म दर्शन की ओर अभिमुख हो सकते हैं। प्रतिदिन नाना विकल्पो से मुक्त हो थोडी देर एकाग्र होकर बैठिये। जैसे घर मे एक बार अवश्य झाडू लगाते हैं वैसे ही मनमे धर्म-ध्यान से झाडू मार कर शुद्धि करें। ध्यान मे चाहे आखें खुली रखें या बद रखें पर मन स्थिर होना आवश्यक है। धीरे-धीरे श्वासोच्छ्वास के साथ णमोकार मत्र का ध्यान करे, यद्यपि यह स्थूल ध्यान है किन्तु प्रारम्भिक स्थिति मे उपयोगी है। स्थूल ध्यान के अवलम्बन से ही सूक्ष्म ध्यान की ओर बढ सकेंगे।

एक बार एक व्यक्ति ने अमृतचन्द्राचार्य से कहा कि—मुझे दो पक्तियो मे जैन धर्म समझा दीजिये। अमृतचन्द्राचार्य ने बताया कि—आत्मा को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा प्रज्ज्वलित कीजिये व (गृहस्थ लोग) बहिरग मे दान-पूजादि सतत बनाये रखें।

क्रिया कुछ भी हो पर **लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने से ही सफलता प्राप्त होती है**। गाव की एक महिला, सिर पर पानी का घडा, गोद मे बच्चा लिये सहेली से बात करती हुई बढती जाती है पर ध्यान उस घडे पर केन्द्रित रहता है, अन्यथा घडा गिर जायेगा और पाव मे चोट लग जायेगी। इसी प्रकार यदि लक्ष्य 'मुक्ति' है तो ध्यान की एकाग्रता बढती चली जायेगी। कुछ देर भी प्रपच-विकल्पो को भूल पायेंगे तो अभ्यास से प्रयत्न बढता चला जायेगा।

लौकिक व्यवहार मे देखते हैं कि लगभग प्रत्येक दुकानदार अपनी वस्तु की कुछ दिनो की गारटी देता है, पखे, मोटर आदि की। इसी प्रकार अमृतचन्द्राचार्य ने योगाभ्यासियो को छ महीने मे लक्ष्य की प्राप्ति होने की गारटी दी है। दूसरो के गुण-गान करने मात्र से लक्ष्य की प्राप्ति नही होती। छह महीने तक ससार के जजाल से मुक्त हो, सर्व विकल्पो को त्याग मन वचन काय की एकाग्रता से ध्यान करने पर अवश्य ही लक्ष्य प्राप्ति होगी, आत्मा-अनात्मा का भेद-विज्ञान हो जायेगा। उपलब्धि स्वय मार्ग पर चलने से प्राप्त होगी। आप सबसे भी यह कहता हूँ कि प्रतिदिन कम से कम

सैंतालीस मिनिट एकाग्र होने का अभ्यास कीजिये, दृष्टि को नासिकाग्र रख, श्वास की गति को धीमी रख 'सोऽहम्' का ध्यान करे।

आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रमुख चार ग्रन्थ लिखे। समयसार द्रव्य दृष्टि को लेकर लिखा, पचास्ति-काय-प्रमाण दृष्टि को लेकर लिखा, प्रवचनसार-पर्याय दृष्टि को लेकर लिखा और नियमसार-साधना पद्धति के लिए लिखा। उन्होने तीन गाथाओ (६६-६७-६८) मे ध्यान का स्पष्ट विवेचन किया है तथा बताया है कि हे ज्ञानी! 'सोऽह' का चिन्तन करो। चिन्तन करो—मेरा आत्मा परमात्मा के समान सम्पूर्ण शक्तिशाली है। 'सोऽहम्' मे स्थिर होने पर आत्मा परमात्मा का भेद ज्ञान होना निश्चित है। 'नियमसार' साधना का मार्ग प्रशस्त करता है। आचार्य ने अपने स्वानुभव को इसमे रखा है। पर—पदार्थ मे रुचि मिथ्यात्व का कारण है और स्व मे रुचि, आत्मा मे रुचि, सम्यक्त्व का आधार है और 'सोऽहम्' इसका सक्षिप्त साधन है। अभ्यास करते-करते अन्य विकल्पो को छोड 'सोऽहम्' का अवलवन भी क्षण भर के लिए छोड एकाग्र हो जाइये। मन-वचन-काय की क्षण भर की एकाग्रता भी अत्यन्त उपयोगी है। पाच मिनट के ध्यान मे से एक क्षण भर भी एकाग्रता हो गई तो वह निर्विकल्प ध्यान हो जायेगा। द्रव्य सग्रह मे परम ध्यान के लिये द्रव्य सग्रह की गाथा अडतालीस मे कहा गया है कि काय से कुछ भी चेष्टा मत करो, मन से कुछ भी चिन्तवन मत करो, वचन भी वन्द रखो, (कुछ देर के लिये 'सोऽहम्' को भी छोड दो) जिससे तुम्हारी आत्मा स्थिरता को प्राप्त हो। आत्मा का आत्मा मे रत होना ही परम ध्यान है। जैसे चलती हुई गाडी ब्रेक के वाद एक कदम भी आगे नही बढती उसी प्रकार 'सोऽहम्' का ध्यान करते हुए तत्काल इसको भी कुछ देर के लिये रोके।

विकल्पो को जबर्दस्ती न रोके, अपितु सहज रोकने का अभ्यास करे। जबर्दस्ती रोकने मे भी दर्शनमोहनीय सतायेगा और निर्जरा नही होगी। दर्शनमोह—जहर के समान है और चारित्रमोह नशे के समान है। राम सीता हरण के वाद जगल मे पशु पक्षियो, पेड-पौधो से भी पूछ रहे थे—तुमने सीता को देखा है, पर जव घायल जटायु मिल गया तो कुछ देर सीता को भूल कर उसकी सेवा सुश्रूषा मे लग गये। इतनी देर सीता याद नही आई, पर जव जटायु का क्रिया-कर्म कर चुके तो पुन सीता याद आ गई, मोह फिर जाग उठा। दर्शनमोह को निरस्त करना कठिन है, इसको केवल योग मे स्थिर हो कर आत्मा का चिन्तन करके ही निरस्त किया जा सकता है।

पूज्यपाद आचार्य ने कहा भी है कि जव तक दर्शनमोह को निरस्त

नही कर देते तब तक ध्यान मे, योग मे स्थिरता नही आ सकती। स्थिरता के वाद ही आत्मा के सूक्ष्मतम भावो का भी अवलोकन कर सकते है। नाना वैभव, धन-सम्पत्ति के वीच ध्यान एकाग्र करना कुछ कठिन है। एक भी विकल्प-शल्य, ध्यान नही होने देगा। इसलिये अन्तरग मे माया, मोह, मिथ्यात्व व शल्य का निदान कर त्यागना होगा। यदि लक्ष्य, उद्देश्य पवित्र है तो एक क्षण की एकाग्रता भी असख्यात कर्मों की निर्जरा कर देगी। परमात्म-प्रकाश मे लिखा है कि—जैसे अग्नि की एक चिनगारी भी रूई के ढेर को जलाने मे समर्थ है, वैसे ही ध्यान की एक छोटी सी चिनगारी भी सख्यात कर्मो को जलाने मे सक्षम है **"ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्"**।

ध्यान मे द्रव्य व भाव दोनो की एकाग्रता आवश्यक हैं। समयसार के सर्वविशुद्ध अधिकार की टीका मे लिखा है कि अन्तरग योग व वहिरग योग से ही एकाग्रता सभव है। जैसे—मकान को यदि केवल वाहर से ही सुधरावें, अन्दर कमरो मे सफेदी नही करें तो यह भला नही लगेगा और यदि केवल अन्दर ही सफेदी करावे वाहर से मरम्मत नही करावें तो मकान टूटने लगेगा, गिरने लगेगा। अत अन्त व वाह्य दोनो योग महत्वपूर्ण हैं।

एकाग्रता से विशुद्धि होगी, पर आवश्यक नही कि वह दिखाई ही देवे। प्रत्येक वस्तु दिखाई दे यह आवश्यक नही है। एकाग्रता से जो आत्मा की शुद्धि होगी वह अनुभव होगी, दिखाई नही देगी। ध्यान भी अभ्यास है इसके लिये उद्देश्य वनाये रखना होगा। **ध्यान के साथ-साथ ज्ञान आवश्यक** है। गलत विधि के साथ करेंगे तो उससे कोई लाभ प्राप्त नही होगा।

समता भाव ही सामायिक है। समता से ही योग मे स्थिर हो सकते हैं। सम+भाव=समता भाव है, यह कठिन अवश्य है पर असभव नही है। राग भाव के कारण असमता उत्पन्न होती है। एक स्थान पर कुश्ती दगल हो रहा है। एक ओर पजाव के पहलवान है दूसरी ओर उत्तर प्रदेश के पहलवान है। दर्शको मे पजाव के लोग, उत्तर प्रदेश के लोग व जयपुरवासी उपस्थित हैं। दोनो दल अपनी जीत पर खुश, व हार पर दु खी हो रहे हैं। पर जयपुर वाले तटस्थ समभाव हो बैठे है, उनके लिये पजाब की जीत या उत्तर प्रदेश की जीत मे कोई भेद नही है। कृष्ण ने भी कहा है कि जय-अपजय, सुख-दु ख, लाभ अलाभ मे समता भाव ही सामायिक है, यह प्रारम्भिक सामायिक है। जब तक राग है तब तक समता नही है। जब तक एकाग्रता से भावसामायिक, भाव योग मे तन्मय नही होगे तब तक स्वाध्याय-प्रक्षाल

कुछ भी उपादेय नही होगे। एक क्षण के लिये प्रक्षाल के समय भी एकाग्र हो जायें, वह भी भाव सामायिक हो जायेगा। एक वार एकाग्रता का जरा भी अभ्यास हो जायेगा तो फिर कही भी जरासा समय मिलते ही सामायिक कर सकते हैं।

एक महाराष्ट्रीय कविता के भाव है—यह शरीर मन्दिर है, मन वेदी है, उस वेदी पर मेरी शुद्ध चैतन्य चमत्कार पूर्ण आत्मा विराजमान है। अपने ज्ञान-गगाजल से उस आत्मा का प्रक्षाल करें तो सचित कर्म नष्ट हो जायेंगे।

आत्मा का आत्मा मे रत होना ही ध्यान है, यही भाव प्रक्षाल है, भाव पूजा है, भाव सामायिक है। अभ्यास से ही ज्ञान सम्भव है। एक दिन विद्यालय मे जाने पर ज्ञान प्राप्त नही होता। **उपलब्धि के पीछे साधना होती है, परिश्रम होता है।** क्षणिक 'योग' भी आगे का मार्ग प्रशस्त करता है। विश्वास के साथ अभ्यास फलदायक है। यह विचारना कि मेरे पास कुछ नही है, ठीक नही है। प्रत्येक आत्मा मे अनन्त शक्ति है।

भगवान् महावीर के युग की वात है, चीन का एक सन्यासी भारत आने लगा। उस समय चीन के राजा ने यह नियम वना दिया था कि जो कोई भी देश की सीमा से वाहर जाये, चुगी चुका कर जाये। सीमावर्ती अधिकारियो ने उस सन्यासी को रोककर राजा का नियम वताया। सन्यासी सोच मे पड गया—वोला—मेरे पास तो कुछ नही है, मैं क्या दे सकता हूँ? विवाद वढने पर वे राजा के पास गये। सन्यासी ने वहा भी कहा कि मेरे पास कुछ नही है। राजा ने कहा—कैसे नही है तुम्हारे पास तुमने इस धरती पर ज्ञान प्राप्त किया, अध्ययन किया-मनन किया है, वह तो तुम्हारे पास है। सन्यासी ने कहा—हा। राजा ने कहा—वस एक पुस्तक लिखो, उसे चुगी रूप मे देदो और फिर चले जाओ। अर्थात् कुछ नही पर ज्ञान तो सव के पास है।

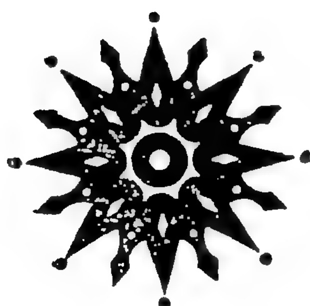
मन-वचन-काय की एकाग्रता से ही सिद्धि सभव है। तीनो का उद्देश्य एक होना चाहिये। जैसे घडी मे घटा, मिनट व सैकेण्ड दर्शाने हेतु तीन सुइया होती है। तीनो का उद्देश्य समय वताना है। तीनो उद्देश्य की पूर्ति मे निरन्तर रत हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का ध्येय आत्मोपलब्धि है। रेडियो सुनने के लिए रेडियो, रेडियो स्टेशन व विद्युत तीनो का ठीक होना आवश्यक है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनो के 'सम' होने पर ही मुक्ति सभव है। केवल एक के माध्यम से मुक्ति नही है। यह तीनो भेद रूप भी है और अभेदरूप भी हैं। जैसे अग्नि भेद रूप भी है व अभेदरूप

भी है। अग्नि मे तीन गुण है—प्रकाश फैलाना, दाहकशक्ति व आतप (गर्मी फैलाने की) शक्ति, जहा अग्नि होगी ये तीनो गुण अभेदरूप से वहा होगे क्योंकि ये अखण्ड हैं, केवल विविक्षा की दृष्टि से तीन हैं, पृथक हैं।

तुलसीदासजी ने कहा है कि पाचो इन्द्रियो के विलास को छोडकर जो परमार्थ को ध्येय बनाकर अपने मे एकाग्र हो गया वही योगी है। **योग**—मन-वचन-काय की एकाग्रता योग है। **योगी**—इनको एकाग्र करने वाला योगी है। **ध्येय**—मुक्ति प्राप्त करना। सक्षिप्त मे यही सार है।

प्रत्येक मानव को योग का अभ्यास करना चाहिये। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस आजाद हिन्द फौज मे थे तो प्रात. एक घण्टा ध्यान का अभ्यास करते थे। उनके एक साथी ने कहा—आप यह प्रतिदिन आख बन्द करके क्या करते हैं। नेताजी ने उत्तर दिया—मैं बैटरीचार्ज करता हूँ। महान् क्रान्तिकारी भी एकाग्र हो सकता है, आत्मा मे लीन हो सकता है तो आप श्रावक क्यो नही हो सकते।

आत्मकल्याण के लिए योगाभ्यास उपादेय है।



दुर्लभ है संसार में एक यथारथ ज्ञान

ज्ञान के लिये शरीर व कर्म वाधक है आत्मा तो ज्ञानमय है। मानव सर्वथा सत्यवादी या सर्वथा असत्यवादी नही होता। पूर्ण सत्य वाणी मे नही समा सकता। न सर्वथा व्यवहार झूठा है, न सर्वथा निश्चय, अपितु दोनो युगपत रहते हैं।

मानव-जीवन व उसकी जीवन चर्याये विचित्रता को लिये हैं। मानव पर कष्ट, उपसर्ग अथवा अशुभ का उदय आ जाये तो वह परेशान हो जाता है। अधर्म मे प्रवृत्त हो उद्देश्य से भटक जाता है, पर जो महापुरुष होते हैं वे अपने ऊपर आये हुये कष्टो को सहिष्णुता के साथ झेल जाते है। उन्हे सहन कर लेते हैं। जीवन की घटनायें शुभ-अशुभ का खेल है। नारायण श्रीकृष्ण जैसे शक्तिशाली का जन्म कारावास मे हुआ, जहाँ उनके जन्म के अवसर पर कोई गीत गाने वाला भी नही था और मृत्यु भी जगल के वीच हुई, जहाँ कोई रोने वाला न था। वीच का सारा जीवन सघर्षो मे, कौरव-पाडव की उलझनो के वीच कभी दूत वनकर तो कभी सारथी वनकर व्यतीत हुआ। साधारणसा वालक भी जन्म लेता है तो घर मे काँसे की थाली वजाई जाती है, मगल वाद्य वजाये जाते हैं लेकिन उस महापुरुष के जन्म को गोपनीय रखना था। अत किसी प्रकार का कोई मगल वाद्य भी न वज सका। आज मानव अनेक दुरभिमानो मे भ्रमण करता है कि मेरे पास इतनी सम्पत्ति है, अधिकार है, इत्यादि। सदैव दूसरो को नीचे दिखाना चाहता है। उसने अपने स्वभाव को नही समझा। प० दौलतरामजी ने "छहढाला" मे कहा है कि—"पुन्य पाप फल माहि, हरष विलखो मत भाई"। वहुत करुणा के साथ समझाया है कि तुम हर्ष और विपाद मे क्यो पडते हो, यह सव पुण्य व

पाप का खेल है। महापुरुषो के जीवन से शिक्षा लेनी चाहिए कि छोटे से उपसर्ग से विचलित न होवे। जब महापुरुषो के साथ भी पुण्य और पाप, सुख और दु ख चलता रहता है तो हम तो साधारण मानव ही हैं। शुभ का फल और है तथा अशुभ का फल और। महापुरुषो का जीवन स्वय मे आदर्श है। उनके जीवन से अनेक अच्छाइयाँ व आने वाले सकटो से बचने की शिक्षा मिलती है।

हिमागद नगर मे सत्यन्धर राजा राज्य करते थे। विजया उनकी रानी थी। एक दिन महारानी विजया ने स्वप्न देखा, एक सुन्दर फल युक्त वृक्ष है, जिसे काट दिया गया। प्रात उसने राजा से इसका फल पूछा। स्वप्न सुनकर राजा चिन्तित हो उठे। रानी समझ गई कि स्पप्न अशुभ फल युक्त है। अनेक मत्रियो ने पहले भी राजा को समझाया था और अब भी कहा कि आपका प्रमुख मत्री काष्ठागार दुष्ट है, वह अवश्य धोखा देगा। किन्तु, राजा ने विषयो मे मग्न रहने के कारण किसी की बात नही सुनी। **मनुष्य के जीवन मे स्वप्न अच्छे बुरे कर्म दर्शाने के निमित्त बन जाते हैं।** काष्ठागार मत्री ने सेना को कब्जे मे कर राज्य हथिया लिया। महारानी विजया को श्मशान मे पहुँचा दिया। वहाँ पहुँच कर विजया ने जीवन्धर को जन्म दिया। जहाँ न दास थे, न दासियाँ थी। जहाँ मानव मृत्यु के पश्चात् आता है, ऐसे स्थान पर उस राजकुमार का जन्म हुआ। जन्म व मरण का कोई ठिकाना नही है, ये कही भी हो सकते हैं। इधर राजकुमार का जन्म हुआ और उधर तत्क्षण ही राजा की मृत्यु हुई। उसी समय गगोध-कर नामक नगर सेठ अपने सद्य प्रसूत मृत बालक को श्मशान मे लेकर आया था। वहाँ उसने एक भद्र महिला एव नवजात शिशु को देखा और सारा हाल जानकर उस बालक को अपने घर ले आया तथा पत्नी से कहा कि यह मरा नही था, तुझे भ्रम हो गया था। सेठानी ने अत्यन्त प्रसन्नता के साथ उसे अपनाया और प्यार से पालने लगी।

जीवन्धर बडा हुआ। उन्ही दिनो आर्यनन्दी आचार्य भस्मक रोग के कारण वेशभूषा बदल कर घूम रहे थे। वे जीवन्धर के घर भी भोजन करने आये और घर मे बना हुआ सारा भोजन समाप्त कर गये। इतने पर भी भूख शान्त न हुई तो जीवन्धर के हाथ मे से लड्डू छीन कर खा गये। उस लड्डू के खाने से उनका भस्मक रोग समाप्त हो गया। सत्य है, **एक पुण्यात्मा के कारण सारा वातावरण शान्तिमय हो जाता है, और एक पापी के कारण कलहपूर्ण हो जाता है।** इस उपकार के प्रतिदान मे आचार्य ने उसे बारह वर्ष

नक पढाया। जीवन्धर वहुत विद्वान् हो गये। उधर काष्ठागार व ग्वालो मे झगडा चल रहा था। जीवन्धर ने ग्वालो की ओर मे सेनापति वन काष्ठागार को वन्दी वना लिया और स्वय राजगद्दी पर वैठ गया। अव उसे अपनी असलियत का भी पता चल गया था। उसे अपनी माँ की याद आई। उसकी खोज कराने पर वह एक साधु-सघ मे साध्वियो की सेवा मे लीन मिली। माँ का पता लगने पर जीवन्धर वहाँ गया और माँ को राजमहल मे ले आया। कुछ दिनो वाद माँ ने सन्यास ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। जीवन्धर के द्वारा मना करने पर साध्वी पामाख्या ने कहा--हे "जीवन्धर ! तुम भी तो, इसी भव से महावीर के समवसरण मे दीक्षा ले मोक्ष जाने वाले हो, तुम कैसे अपनी माँ को उस मार्ग पर चलने को इन्कार कर रहे हो।" जीवन्धर भी कुछ समय पश्चात् पुत्र को राज्य सौंप, तपस्या कर मोक्षगामी हुये। तात्पर्य यह है कि मनुष्य जीवन मे आने वाले शुभ-अशुभ के उदय को आध्यात्मिकता से, यथार्थ के ज्ञान से ही दूर कर सकते हैं।

"धन कन कंचन राज सुख,
सवहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ इस ससार मे,
एक यथारथ ज्ञान।"

यथार्थ ज्ञान ही मानव का दु ख दूर करने मे समर्थ है जवकि मानव आज थोडे से ज्ञान से ही हाथी जैसे झूमने लगता है और समझता है—मैं पूर्ण ज्ञाता हो गया, सर्वज्ञ हो गया। मन पर्यय ज्ञानधारी गौतम गणधर भी तीस वर्ष तक महावीर के समवशरण मे विद्यार्थी रहे। केवल शास्त्रो से ज्ञान प्राप्त करने से आत्म-ज्ञान हो जाये, यह आवश्यक नही। अर्थ-शास्त्र पढने से ही कोई करोडपति नही हो जाता है। यद्यपि ज्ञान सर्वोपरि है, पर ज्ञान के साथ त्याग भी आवश्यक है। जो ज्ञानी होगा वह त्यागी भी होगा और तभी वह मोह-माया से मुक्त होगा। आत्मा ज्ञानमय है। पशु-पक्षियो मे भी ज्ञान है। जैनाचार्यों ने ज्ञान को मनोवैज्ञानिक रूप से समझाया है—पदार्थ ज्ञान का कारण नही। वह ज्ञान का विषय है, प्रमेय है। अन्धेरा है, कुछ दिखाई नही देता। प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि कुछ कैसे नही दिखाई दे रहा है, अन्धेरा तो दिखाई दे रहा है। प्राणियो मे कुछ भी ज्ञान न हो, ऐसा नही है। आशिक ज्ञान अवश्य होता है। ज्ञान परिपूर्ण है, पर उस पर आवरण लगे हुए हैं। मनुष्य को अधेरे मे रखी हुई वस्तुएँ नही दिख पाती परन्तु उस

घनघोर अंधेरे मे उल्लू को बारीक-से-बारीक कीडे भी दिख जाते हैं, जबकि उसे सूर्य की रोशनी मे दिखाई नही देता। ज्ञान के लिए शरीर व कर्म बाधक है, आत्मा तो ज्ञानमय है। यदि उल्लू मरकर मनुष्य पर्याय मे जन्मे तो उसे दिन मे दिखाई देने लगेगा। केवल पर्याय का अन्तर है। अर्थात् आत्मा के ज्ञान के लिए दिन, रात बाधक नही है, शरीर, नो-कर्म, द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म बाधक हैं जिसमे वह फँस रहा है। द्रव्य दृष्टि से ज्ञान परिपूर्ण है, निर्मल है, आत्मा परिपूर्ण शुद्ध है पर शरीर की सगति के कारण ज्ञान रुका हुआ है। पर्यायो से मुक्त हो जाता है उसके ज्ञान के लिए दिन-रात बाधक नही बनते।

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा कि मेरी आत्मा शुद्ध है। पर्याय मे अशुद्ध हो रहा है पर, मैं परम विशुद्धि चाहता हूँ। परम विशुद्ध का अर्थ है—जिसमे कोई भी दूसरा तत्त्व न मिला हो। आध्यात्मिक तत्त्व ज्ञान की प्राप्ति महापुरुषो की परम्परा से प्राप्त करनी होगी। कृष्णजी ने भी कहा है कि मुझे भी ज्ञान उस परम्परा से प्राप्त हुआ है। तत्त्व दर्शियो ने सत्-असत् को जैसा देखा है वैसा ही मैं आपको बता रहा हूँ। सत्य प्रत्येक पदार्थ मे मौजूद है। किसी मे आशिक है, किसी मे पूर्ण है, केवल प्रकट करना बाकी है। बालक, बूढे सभी की बात को मान्यता दीजिये। एक बार कबीर एव उसका आठ वर्षीय पुत्र कमाल कही जा रहे थे। कबीर आगे थे और कमाल कुछ पीछे। रास्ते मे कबीर को एक स्वर्णाभूषण पडा दिखाई दिया। कबीर के मन मे विचार आया, इस आभूषण को देख कमाल की नीयत ना डोल जाये। यह सोच कबीर ने उसे पाव से मिट्टी से ढक दिया और आगे बढ गया। पीछे आ रहे कमाल ने देखा कि पिताजी ने रुक कर मिट्टी से कुछ बनाया है। उसने पिताजी से पूछा कि यहाँ आपने क्या किया था ? कबीर ने पहले बहाना बनाया किन्तु कमाल के बार-बार पूछने पर उसे बताना पडा कि यहाँ एक स्वर्णाभूषण है। तुम्हारी नीयत न डोल जाये इसलिए मैंने उसे मिट्टी से ढक दिया। तब कमाल ने कहा कि आपने मुझे से झूँठ कहा और आप साधु होकर भी मिट्टी व सोने मे भेद समझते हैं। पुत्र की इस सीख से प्रेरणा ले कबीर ने दोहा बनाया—

बालहुते सिख लीजिए, उचित कहत जो होय ।
रविका जहाँ प्रकाश नहीं, दीप प्रकाशक होय ।।

इस प्रकार हम देखते है कि बालक मे भी ज्ञान मौजूद है। हमारे आचार्यो ने बताया है कि ज्ञान सब मे है। ज्ञान का सर्वथा अभाव किसी मे

नही है, किसी भी वस्तु मे सर्वथा भाव-या अभाव नही। इस भाव को भली भाति अभिव्यक्त करने हेतु ही सप्तभगी नय का सिद्धान्त बना है, कथचित्, किसी अपेक्षा से, यह कथन की शैली है। जयपुर वासी कहता है कि—जयपुर वाले झूठ बोलते है, इस कथन मे कहने वाला व्यक्ति (जो जयपुर का ही है) वह तो सत्य बोल रहा है। अत जयपुर वाले सत्य व झूठ दोनो साथ-साथ बोल रहे है, दोनो विरोध एक साथ हैं इसलिये कोई सर्वथा सत्यवादी या सर्वथा असत्यवादी नही होता, पूर्ण सत्य तो वाणी मे समा ही नही सकता। वस्तु को कथचित् जानता हूँ, पूर्ण नही इसीलिये स्याद्वाद का प्रयोग किया जाता है। प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा है कि –आप चन्द्रमा को देख रहे हैं, जानते हैं—पर वह भी आशिक है क्योकि तुम इसे जैसा है उसी रूप मे न जानकर छोटे रूप मे गैंद के आकार मे जान रहे हो। पूर्ण ज्ञान तभी है जब द्रव्य, गुण पर्याय सहित जैसा है, जितना है उतना ही जानो।

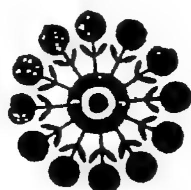
कवि बनारसीदास ने नाटक समयसार मे लिखा है एक व्यक्ति पहाड पर जन्मा, वही रहने लगा, कभी पहाड से नीचे नही आया। एक दूसरा व्यक्ति नीचे पृथ्वी पर जन्मा, वही बडा हुआ, कभी पहाड पर नही गया। एक दिन पृथ्वी वाले व्यक्ति को पहाड पर व्यक्ति दिखा, उसने सोचा—यह मानव जैसा कीडा कहाँ से आया ? पहाड वाले व्यक्ति ने भी सोचा यह मानव जैसा कीडा कहाँ से आया ? जब दोनो थोडी दूर आगे बढ पास मे आये तो ज्ञात हुआ कि यह भी मानव है, जितना बडा मैं हूँ उतना बडा ही यह है। उसी प्रकार जब तक व्यवहार व निश्चय दूर-दूर है तब तक वे मिथ्यावादी हैं और जब पास आ जायें, समीप रहे, समान रूप मे रहे तब वे दोनो सत्य हैं। न सर्वथा व्यवहार झूँठा है न सर्वथा निश्चय झूँठा है। व्यवहार झूँठा है तो पर्याय का कथन कैसे होगा क्योकि पर्याय का कथन व्यवहार से होता है। पर्याय व द्रव्य मे गौण व प्रमुख की दृष्टि से वर्णन किया जाता है। इसीलिये स्यात् शब्द का प्रयोग किया है। व्यवहार व निश्चय दोनो युगपत् रहते हैं, समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। एक विवाह हो रहा है, उसमे एक कन्या व एक वर प्रमुख हैं, दोनो का विवाह एक साथ होगा, यह सम्भव नही है कि पहले कन्या का हो बाद मे वर का, अथवा पहले वर का विवाह हो और बाद मे कन्या का, दोनो का, विवाह एक साथ होगा। पर्याय व द्रव्य एक साथ ही तो हैं, एक ही मे तो हैं, द्रव्य-पर्याय युगपत् है— ऐसे ही निश्चय व्यवहार भी युगपत् है। ऐसा नही है कि पहले व्यवहार होता है—और बाद मे निश्चय, अथवा पहले निश्चय और बाद मे व्यवहार होता है।

निमित्त कुछ लोग मानते हैं कि निमित्त आते हैं, कुछ लोग मानते हैं निमित्त की कोई आवश्यकता ही नही है। जो इसकी आवश्यकता नही मानते वे अपने ही लौकिक कार्यों के लिये कैसे निमित्त मिलाते हैं। दुकान मे पैसे कमाने हेतु तो निमित्त मिलाते हैं पर धर्म के लिये वे मानते है कि निमित्त कुछ नही करता। यह भी कथचित् सत्य है कि निमित्त कुछ नही करता परन्तु सर्वथा ही कुछ भी न करता हो यह भी उचित नहीं है, शास्त्र भी तो ज्ञान प्राप्ति का निमित्त है। यह सत्य है कि द्रव्यगत स्वभाव से ही क्रिया होगी, पर उदासीन सहारा निमित्त का है। एक छोटा बच्चा जो स्वय खडा नही हो सकता वह दीवार का सहारा लेकर खडा हो जाता है, यद्यपि वह खडा तो स्वय की उपादान शक्ति के कारण ही हुआ है पर दीवार भी तो उसके खडे होने मे सहायक रही। व्यवहार, निश्चय, निमित्त-उपादान अनादि से चले आ रहे हैं, पर जव आत्म-ज्ञान हो जावे तो न व्यवहार की आवश्यकता है न निश्चय की और न निमित्त की। व्यवहारनय, अशुद्ध निश्चयनय व शुद्ध निश्चयनय ये तो चम्मच हैं—एक स्टेनलेस स्टील का, एक चादी का और एक सोने का। इनसे खीर खाने वाले को खीर के स्वाद मे कोई अन्तर नही आयेगा, ये चम्मच मुह मे रह जायेंगे। इसी प्रकार ये तीनो नय ज्ञान परोसने वाले हैं। खीर के स्वाद की बात छोड चम्मचो के लिये लडाई–विवाद करना उपयुक्त नही है। द्रव्य सग्रह मे कहा है—

पुग्गल कम्मादीण कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

व्यवहार नय से जीव पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव कर्म का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध ज्ञान-दर्शन मात्र का कर्त्ता है।

इसलिये मैं आपसे इतना ही कहता हूँ कि सिद्धान्त का ग्रहण पवित्रता मे कीजिये, आत्मा के सामने तो तीनो ही नय अकिंचित हैं। ये तो ज्ञान प्राप्ति के साधन हैं।



जीवन : पुण्य-पाप का खेल

पर के प्रति कथचित् कर्तृत्व भाव भी मुमुक्षु के उद्देश्य प्राप्ति मे वाधक है। राग-द्वेष पूर्ण भावना ही वुरी है। पुण्य-पाप को छोडने पर कल्याण सम्भव है। उनको छोडकर शुद्ध आत्म-द्रव्य का चिन्तन कर, ध्यान कर।

समस्त आध्यात्मिक तत्त्वो का मूल उद्देश्य आत्मा का विकास करना है, अपनी व्यक्तिगत आत्मा का विकास करना है। हमारी आत्मा का विकास कोई दूसरा नही कर सकता, वह केवल मार्ग वता सकता है। तीर्थंकरों, सर्वज्ञो ने जिस मार्ग पर चल कर अपनी आत्मा का विकास किया और सर्वज्ञ वने, उसे उन्होने औरो को भी वताया। समयसार कलश मे लिखा है कि—हम दूसरे का सुधार कर सकते हैं अथवा कर दिया, यह भाव जव तक हमारी आत्मा मे है तव तक हम साधारण प्राणी ही है। पर के प्रति कथचित् कर्तृत्व भाव भी मुमुक्षु के उद्देश्य-प्राप्ति मे वाधक है। मुमुक्षु का शब्दार्थ है जो न पुण्य वाधता है और न पाप वाधता है—वह केवल निर्जरा करता है। यह कोई उपाधि या आरोपित करने योग्य शब्द नही है जैसे कि डॉक्टर की पत्नी के लिये 'डॉक्टरनी' शब्द आरोपित कर देते हैं। आज हम उपाधियो के वीच पर मे उलझने के कारण स्वय को भूल गये है। एक उदाहरण द्वारा इसको स्पष्ट करता हू। वादि-वृषभ आचार्य ने कहा है कि किसी भी चीज को समझने के लिये स्थूल उदाहरणो की आवश्यकता होती है। समयसार ग्रन्थ मे भी अस्सी गाथायें उदाहरणार्थ ही लिखी गई है। अत मैं भी आपको उदाहरणो के माध्यम से समझाता हूँ।

एक वार एक गाव मे दस जुलाहे अपना सामान पास के शहर मे वेचने गये। लौटते समय उनके गाव के पास की नदी वेग पर थी। किनारे

पर कोई नाव न थी, वे सब तैरना जानते थे। अत उन्होने तैरकर ही नदी पार करने का निश्चय किया और नदी मे कूद पडे। दूसरे किनारे पर पहुचने पर उनमे से एक जुलाहे के मन मे सदेह उत्पन्न हुआ। उसने कहा—हममे से कोई रह तो नही गया, खो तो नही गया, और इतना कहते हुये उसने अपने साथियो को गिनना प्रारम्भ किया, गिनती नौ तक ही पूरी हो पाई क्योकि वह स्वय को नही गिनता था। वार-वार गिना पर कोई अन्तर न हुआ। एक व्यक्ति खो गया यह देख सब जुलाहे जोर-जोर से रोने लगे। इतने मे उधर से एक विद्वान् पडित गुजरे, उन्होने इतनी चीख-पुकार का कारण पूछा। जुलाहो ने उसे वताया। पडित ने स्वय गिनना प्रारम्भ किया, जो गिनने वाला था उसे भी गिना, पूरे दस सदस्य थे। तव उस व्यक्ति को अपनी भूल अनुभव हुई। इसी प्रकार हम भी मन्द वुद्धि स्वय को भूल कर पर-विषय मे ही लग रहे हैं, अपने उद्धार के विपय मे कुछ भी नही मोचते। जवकि आचार्य कह रहे है कि—स्वय की ओर देखो, स्वय को पहचानो, स्वय को खोजो। प्राणी पुण्य-पाप, नो-कर्म, भाव-कर्म, द्रव्य-कर्म मे वध रहा है। वाइबिल मे भी वध का एक प्रकरण है।

मूलत कर्म एक है, उसके पुण्य और पाप दो भेद कर दिये है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने समयसार के चतुर्थ अध्याय की दूसरी गाथा मे कर्म वध की शुभाशुभता का वर्णन करते हुये कहा है कि—जैसे लोहे की वेडी वधनकारी है—वैसे ही मोने की वेडी भी वधनकारी है। इन दोनो मे से कोई भी वेडी वधी हो, मानव भलीभाति नहीं चल सकता। इसी प्रकार पुण्य व पाप है। पुण्य सोने की वेडी है और पाप लोहे की।

ससार मे सवसे उत्तम जेल ब्रिटेन मे है। उस जेल को फ्रास का एक व्यक्ति देखने गया। प्रत्येक कमरे मे रेडियो, टेलिविजन, टेलीफोन, फ्रिज, लाइब्रेरी सभी सुविधायें उपलव्ध थी। देख चुकने पर जेल अधिकारी ने आगन्तुक से जेल के वारे मे राय मागी। फ्रास के व्यक्ति ने हस कर कहा—सव सुविधाओ के उपरान्त भी वधन तो है ही। कैदी को सजा की अवधि तो पूर्ण करनी ही होगी।

पुण्य भी इसी प्रकार का वधन है अर्थात् इन्द्रिय जन्य सुख का कारण है और पाप इन्द्रिय-जन्य दुख का कारण है। पर है तो दोनो वधन ही। एक महाराष्ट्रीय कवि ने इसी प्रकार के भाव 'सोने का पिजरा' नामक कविता मे वहुत खूवसूरती के साथ प्रस्तुत किये हैं, जिसका भावार्थ है—एक सोने का

पिंजरा है जो अनेक मूल्यवान हीरे-जवाहरातो से सुशोभित हो रहा है। तोता उसमे आराम से रहता है। परन्तु कभी-कभी उसे पिंजरे का बधन दुःखदायी महसूस होने लगता है और वह अपनी चोच से पिंजरे का दरवाजा खोलना चाहता है। उसे स्वच्छन्द उडानें, उन्मुक्त विहार और नीम का कसैला स्वाद याद आने लगता है। इतनी सुख-सुविधाये होते हुये भी स्वतन्त्रता के आनन्दाभास से वह पिंजडा तोडकर बाहर निकलना चाहता है। सत्य है कौन ऐसा है जो स्वतन्त्रता को त्यागकर सुस्वादु व्यजन व सुविधाओ वाली जेल मे जाना पसन्द करेगा ? गुलाम जिन्दगी जीने से तो मर जाना बेहतर है, सब यही विचार करेंगे। कुत्ता भी यदि पुण्यात्मा है तो अत्यन्त सुख-सुविधा से रहता है पर बधन के साथ। पर पुण्य भी शाश्वत नही है। आचार्यों ने पाप-पुण्य को खेल-तमाशा बताया है।

एक बोध कथा है कि राजा भोज के राज्य मे एक अत्यन्त गरीब व्यक्ति रहता था। वह अपने परिवार का भरण पोषण करने मे असमर्थ था। गरीबी एव दुःखो मे घबराकर एक दिन वह आत्म-हत्या के विचार से नदी की ओर गया। नदी किनारे एक किसान अपने खेत से मक्का के सिरे चुन रहा था, उसने उस गरीब व्यक्ति को तीन सिरे दान स्वरूप भेंट किये। उन्हे प्राप्त कर वह उन्हे राजा भोज को भेंटकर धन प्राप्ति की आशा करने लगा। किन्तु मार्ग मे किन्ही बालको ने अवसर मिलने पर उन सिरो को निकाल कर उनके स्थान पर तीन अधजली लकडियाँ रख दी। वह व्यक्ति पोटली लेकर दरबार मे चला गया। वहाँ भेंट करते समय देखा कि पोटली मे मक्का के स्थान पर अधजली लकडियाँ थी। यह देखकर राजा व मत्रीगण क्रुद्ध हो गये और उसे दण्ड देने की बात करने लगे। वही कवि कालिदास बैठे थे। उन्होंने कहा—महाराज! इन तीन लकडियो मे कुछ तत्त्व छिपा है ये भारत के तीन महापुरुषो की ओर सकेत करती है। (१) भगवान् आदिनाथ ने अपने समस्त कर्म जला कर मुक्ति प्राप्त की, (२) हनुमान ने सोने की लका को जलाकर बुराइयो पर विजय प्राप्त की, और (३) अर्जुन ने खाण्डव वन को जलाया, किन्तु कोई आज तक ऐसा महापुरुष न हो सका जिसने विपन्नता को गरीबी को जलाया हो। राजा भोज ने सोचा—कालीदास सत्य कहते है। मै यदि सारी दुनिया की विपन्नता को दूर नही कर सकता तो मुझे कम-से-कम उस व्यक्ति की विपन्नता को तो दूर करना चाहिये और राजा ने उस व्यक्ति को धन-धान्य से सम्पन्न किया। पुण्य-पाप का, शुभाशुभ का, खेल कब, कहाँ और कैसे खेल जाये कुछ पता नही है।

कुछ आचार्यों ने पुण्य-पाप के बारे मे एक नई दृष्टि दी है। बहुत से लोग पुण्य को अच्छा व पाप को बुरा बताते हैं तो कुछ लोग दोनो को बुरा समझते हैं। परन्तु जैनाचार्य कहते हैं कि—यदि कोई आपको शिखरजी की यात्रा करवाकर लाता है, तो आप उसका गुणगान करते है कि इसके कारण मुझे यात्रा हो सकी। तब चौरासी लाख योनियो की यात्रा कराने वाले पाप-पुण्य को भी धन्यवाद दीजिये जिसने पचपरावर्तन कराया, स्वर्ग-नरक की यात्रा कराई। यह आपकी इच्छा है कि आप आगे उस यात्रा के पथिक बनते हैं अथवा नही। पाप ने नरक एव दु खो से परिचय कराया और पुण्य ने स्वर्ग व वैभवादि की यात्रा करवाई, अब आपकी इच्छा है कि आप अपनी आत्मा का कल्याण करते हैं—या पुन इन्ही यात्राओ के पथिक बनते है। न पाप बुरा है और न पुण्य बुरा है, अपनी-अपनी कथन शैली है। जो राग-द्वेष पूर्ण भावना है वह ही बुरा है। इसी से नाना विषयो मे फस कर व्यसनो मे फसने से दुर्गति होती है। इष्ट सयोग, अनिष्ट सयोग आदि अनादि है, उनको छोडकर शुद्ध-आत्म-द्रव्य का चिन्तन कर, ध्यान कर। पाप-पुण्य को छोडने पर ही कल्याण सम्भव है। पुण्य वही अच्छा है जो दुर्गति से बचावे। वह पुण्य किस काम का जो व्यसनो मे फसाकर बर्बाद करे, वह पुण्य फिर भी उपादेय है जिससे धर्म आदि मे वुद्धि बनी रहे।

एक दिन एक साधु भोजन करने जा रहे थे। उन्होने देखा कि एक शराब की दुकान पर कुछ व्यक्ति परस्पर अत्यन्त प्रेम के साथ शराब पी रहे हैं। उन्होने सोचा कि अरे। इतना प्रेम तो मुझ सन्यासी मे भी नही है। भोजन करने के बाद जब वे वापस लौटे तो उन्होंने देखा कि वे व्यक्ति एक–दूसरे की छाती पर बैठकर कपडे फाड रहे थे। तब फिर वे सोचने लगे कि ऐसा प्रेम किस काम का जो स्वपर को दु ख मे डाल दे।

धन-वैभव के कारण विलास मे, व्यसनो मे फँसना अत्यन्त हानि-कारक है। धन है, इसलिये उसका उपयोग व्यसनो मे करना, धन का व पुण्य का गलत उपयोग है और उसी धन का प्रयोग जो धार्मिक प्रभावना के लिए करता है, वही उसका सदुपयोग है।

इस देश को बरबाद करने मे शराब का बहुत बडा हाथ है। आशाधर सूरि ने सागार-धर्मामृत मे कहा है कि—एक बूद शराब बनाने मे इतने निगोदिया जीवो की हिंसा-हत्या होती है कि यदि उनके पख हो और उडने लगें तो उन्हे तीन लोक मे बैठने को स्थान नही मिले।

मुझे नौजवानो से खास-तौर से कहना है कि—ऐसे व्यसनो से बचे रहे जो परिवार व बुद्धि दोनो को खत्म करते हो। भारत जैसी धर्म-भूमि में आज शराब घुस गई है—जबकि की पाश्चात्य देशो मे इसको दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है। नौजवानो से यही कहना है कि यदि अब तक शराब का सेवन किया भी हो तो अब आगे न करने का सकल्प कीजिये। आज हम देखते है कि पढे–लिखे लोगो मे शराब–वृत्ति अधिक पाई जाती है।

एक कीर्तनकार था, उसने अपने पुत्र को कीर्तन विद्या के साथ सु-मस्कारो से भी परिमार्जित किया। एक दिन वे दोनो राज-दरबार मे कीर्तन करने गये। पुत्र सत्यवादी था। उसने कीर्तन करते हुये कहा कि—जो एक बूद शराब पियेगा वह नर्क जायेगा। राजा शराब पीता था, उसने सोचा यह तो मुझ पर कटाक्ष है। राजा ने उसको सजा दे दी। पिता ने सोचा व्यवहार–कुशल न होने के कारण ही पुत्र बधन मे पड गया। वह थोडा चालाक था, उसने एक तरकीब सोची, बधन मे पडे पुत्र को बताई। फिर राजा के पास जाकर कहने लगा—राजन्। आपने मेरे पुत्र की बात पूरी नही सुनी यदि आप पूरी बात सुनते तो कभी सजा नही दे सकते थे, आप पुन उसकी सुनें। राजा मान गया। दुबारा कीर्तन हुआ। पुत्र ने कहा—जो एक बूद शराब पीता है वह नर्क मे जाता है और जो पूरी बोतल पीता है वह स्वर्ग मे जाता है। राजा पूरी बोतल पीता था वह खुश हो गया। तात्पर्य यह है कि सदिग्ध बोलकर, भ्रमित कर लोगो को खुश करने वाले बहुत हैं, पर मैं आपसे स्पष्ट रूप से कहता हू कि— शराब बिलकुल न पीवें, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक न खोयें। इससे आध्यात्मिक व लौकिक दोनो ही मार्गो पर अनेक कठिनाईया आती हैं। मुफ्त मे भी कोई आपको शराब पिलावे तो कभी न पीजिये। एक–दो बार मुफ्त पिला कर आपको वह व्यसनी बना देगा।

जापान व अमेरिका की अधिकाश महिलाओ के स्तन–दुग्ध मे, शराब व मानादि का प्रयोग करने से अनेक भयकर रोगो के कीटाणु पाये गये हैं, पर गाय के दूध मे कीटाणु नही मिलते, क्योकि ये पशु शाकाहारी है।

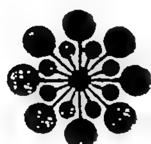
यदि आप कोई दान देना चाहते हैं तो यही दान दीजिये। प्रतिज्ञा कीजिये कि मैं, शराब नहीं पीऊगा। महात्मा गाधी ने भी कहा था कि मैं

देश को व्यसनो से बचाऊ गा, शराब को बन्द कर दू गा। पर उनके बाद हमारी सरकार ने ही शराब की दुकानें खोलकर इसे प्रोत्साहन दिया है। उनकी दृष्टि शराब से अधिक धन प्राप्ति की ओर थी। किन्तु हुआ कुछ उल्टा, शराब की खपत के साथ-साथ दगे-फसाद, अराजकता फैलने लगी, तोड-फोड आदि से अत्यन्त हानि उठानी पडी और इन दगे-फसादो को रोकने के लिये पुलिस आदि की व्यवस्था बढानी पडी। इस प्रकार शराब से प्राप्त आय, उससे उत्पन्न खतरो की सुरक्षा कार्यों मे ही व्यय हो गई।

मेरा आपसे यही कहना है कि आप सभी व्यसनो से बचिये, प्रतिज्ञा कीजिये कि किसी भी परिस्थिति मे शराब नही पीयेंगे।



व्यसन मनुष्य को स्वभावत नाश की ओर ले जाते हैं और शील सृजन की ओर। एक मरुस्थल है, दूसरा सुहावना उद्यान। एक शवयात्रा है, दूसरी शिवयात्रा है, एक उसकी स्वाभाविकताओ का क्षरण है, दूसरा जीवन का मुक्ति वरण। विकल्प मनुष्य के हाथ है, वह चाहे जिसे चुने। धर्म मनुष्य को शिवयात्रा की ओर मोडना चाहता है। जो इस मर्म को नही समझ सका उसे शवयात्रा की राह से भला कौन रोक सकता है ? बाढ पर आयी नदी की असयत धार किनारे काटती है, ठीक उसी प्रकार व्यसन मनुष्य के जीवन-तटो को काट देते हैं।



वस्तु-स्वभाव का ज्ञान ही सुख का स्रोत

स्वय की पुण्याई, दैव व पुरुषार्थ के बिना कुछ नही मिल सकता। आध्यात्म का आधार ही राह सुझा सकता है। जो वस्तु-स्वभाव को जानता है वह दु.खी नही होता।

ज्ञान होते हुये भी व्यसनो मे फस जाये तो वह ज्ञान–ज्ञान नही है। बिना चारित्र के ज्ञान–ज्ञान नही है, ज्ञान का व्यभिचार है। आत्मा का ज्ञान-चेतन स्वभाव कभी नष्ट नही होता।

सृष्टि अनादि है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् है। पदार्थ ध्रुव है, पर्याय उत्पाद-व्यययुक्त है। शाश्वत सत्य बाहर नही आत्मा मे ही है, उसकी प्राप्ति मे ज्ञान एक साधन है।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे तत्त्वो का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। सूत्र ऐसे है मानो राई मे छेद कर सागर भर दिया हो। कहावत है— 'गागर मे सागर'। पर यह भी तत्त्वार्थ सूत्र के लिये उपयुक्त नही लगती। गागर तो बहुत बडी होती है। ये सूत्र तो राई मे सागर समेटे हुये हैं।

ग्रन्थ मे आचार्य ने कहा है—सुख-दुःख, जन्म-मरण सब जीव के उपकारक हैं। हम सोचते हैं, क्या कभी दुःख भी उपकारक हो सकता है ?

मरण भी उपकारक हो सकता है ? भागवत् मे एक स्थान पर कथा है कि भगवान् का दरवार लग रहा था, सब लोग वैठे थे। भगवान् ने सबसे अपनी इच्छानुसार वरदान मागने के लिये कहा। सबने अपनी इच्छानुसार धन-धान्य-पुत्रादि मागे। किन्तु एक व्यक्ति ने कुछ नही मागा। भगवान् ने पूछा— तुम क्यो नही मागते ? उसने कहा—मुझे कुछ चाहिये ही नही। भगवान् के पुन आग्रह पर उस व्यक्ति ने कहा—भगवन् ! यदि आप देना ही चाहते है तो मेरी सारी जिन्दगी दु खमय बनी रहे, ऐसा वरदान दीजिये। सब दरवारी, भगवान् हैरान हुए कि यह क्या माग रहा है ? उसने कहा—जव दु खी रहता हू, तभी धर्म-ध्यान व भगवान् का स्मरण करता हू, अत सारी जिन्दगी धर्म ध्यान व भगवान् का स्मरण करता रहू इसी कामना से मैं दु ख का अभिलाषी हू। इसलिये आचार्य ने कहा कि केवल सुख व जन्म ही उपकारक नही है, दु ख व मरण भी कथचित् उपकारक हैं।

यह ससार अत्यन्त दु खमय है। सर्वत्र कष्ट एव दु ख है। एक घनघोर भयानक जगल मे एक हिरण-हिरणी व उसके दो वच्चे चर रहे थे। चरते-चरते सध्या होने लगी। तिनके खाकर जीने वाले, सदैव भयभीत रहने वाले वे प्राणी, सुरक्षित स्थान मे रात विताने हेतु पूर्व दिशा की ओर चल दिये। कुछ दूर जाने पर देखा एक शिकारी बाण खीचे चला आ रहा है। सामने सकट देख वे दक्षिण की ओर भागे। कुछ दूर चलने पर देखा उधर एक जाल विछ रहा था, उधर भी सकट देखकर वे पश्चिम की ओर भागे, उधर भयानक आग लगी हुई थी। प्राणो की रक्षा हेतु वे उत्तर की ओर भागने लगे किन्तु वहाँ भी देखा एक व्यक्ति सात शिकारी कुत्तो सहित आगे वढा चला आ रहा है। हिरण परिवार थक गया था, पैर काप रहे थे। हिरण कहता है— हिरणी चारो ओर के दु खो से बचना है तो जल्दी पैर वढाओ, इधर से भाग चलो। हिरणी कहती है—मैं भी जल्दी आगे वढना चाहती हू, पर ये दोनो वच्चे भय के मारे पाव से लिपट जाते हैं तो मैं भाग नही पाती, क्या करू, कैसे भागू, किधर भागू ? इसी प्रकार ये चौरासी लाख योनिया अत्यन्त दु खमय हैं। दुनिया मे कोई ऐसा प्राणी नही है जो सुखी हो। किसी भी व्यक्ति से पूछें, वह अपने दु ख का वर्णन करने लगेगा। सव अनेक विधि दु खी हैं। प्रपच के दु ख नानाविधि हैं। गरीव भी दु खी है, अमीर भी दु खी है। कभी भूकम्पादि से सकट उत्पन्न हो जाता है, कभी वाढ-सूखे आदि से।

ससार के दु खो का चिन्तन करने से अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न होने

लगता है। बारह-भावनाओ का विचार करने से विरक्ति होने लगती है। इसलिये उमास्वामी ने कहा कि—इस शरीर का, जगत् का, हेय दृष्टि से चिन्तन करना चाहिये, यह वैराग्य को स्थिर करता है। प्रपच से विरक्त होने के लिये, दु खमय ससार मे लिप्त न रहने के लिये, जगत् व काया की अस्थिरता का चिन्तन करना चाहिये। धार्मिक व्यक्ति के लिये यही उचित है। आज मानव की उस हिरणी से भी कई गुणा बदतर स्थिति है। आज हम स्वतन्त्रता की बातें करते हैं। गरीबी व दु ख दूर करने की बातें करते हैं, पर पाप-पुण्य के खेल को कौन मिटा सकता है? उनको तो भोगना ही पडेगा। जब तक प्राणी स्वय शुभ-अशुभ के बारे मे विचार नही करेगा, उसे अपने किये हुये कर्मों के फल को भोगना होगा, वे अटल हैं, उन्हे कोई नही टाल सकता। **स्वय की पुण्याई, दैव व स्वपुरुषार्थ के बिना कुछ नहीं मिल सकता। कर्म शृ खला को काटने के लिये स्व-पुरुषार्थ ही एक मात्र साधन है।** राम के लिये राज्याधिकारियो ने राज्याभिषेक का मुहूर्त निकाला, पर दैव ने एक अलग मुहूर्त निकाल रखा था। मानव का निकाला मुहूर्त असफल रहा, दैव का मुहूर्त सफल रहा। सत्य है, कौन किसके दु ख को मिटा सकता है, केवल आध्यात्म का आधार ही राह सुझा सकता है। अत **आध्यात्म मे ही लौट कर आना होगा,** सम्यग्दर्शन पर विश्वास करना होगा, आत्म-विश्वास के साथ स्वय को दीपक की भाति अज्ञान के अधकार से जूझना होगा। जैसे दीपक रात भर अधकार से लडता है वैसे ही हमे भी अज्ञान रूपी अधकार (अज्ञान-तिमिरान्धाना) से लडना होगा, तभी अजर अमर हो सकते है अन्यथा नही। व्यावहारिक ज्ञान जैसे–सडक के बायें ओर चलो, यह ज्ञान, ज्ञान नही है, अपितु अभीक्ष्ण ज्ञान ही ज्ञान है।

आ० सोमदेव सूरि ने इस ससार का बहुत सुन्दर शब्दो मे वर्णन किया है, जिसका भावार्थ है—**यह सुन्दर दिखाई देने वाली दुनिया एक नाट्यशाला है। कर्म, पुण्य-पाप इसके निर्देशक हैं। इनके निर्देशन मे प्राणी नाना तरह के नाटक करता है, भूमिकायें निभाता है और सर्वज्ञ परमात्मा इसके दर्शक हैं।**

जब तक यथार्थ-ज्ञान नही होगा, दु ख दूर नही हो सकता, प्राणी दु खी ही रहेगा। अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका के प्रारम्भ मे ही लिखा है कि ससार–बढाने की शिक्षा देने वाले, सासारिक कार्यों की शिक्षा देने वाले आचार्य तो प्रत्येक घर मे बैठे हैं, पर आध्यात्मिक-ज्ञान, तत्त्व-ज्ञान

प्राप्त कर मुक्त होने की शिक्षा देने वाले आचार्य नही मिल पाते। प्रत्येक प्राणी दूसरे के प्रति, अज्ञान से बुरे भाव कर पाप कमाता है। आध्यात्मिक प्राणी सोचेगा, सब आत्माये समान हैं, दूसरे का भला-बुरा सोचना अज्ञान है, मैं किसी का क्या कर सकता हूँ? इस प्रकार पुण्य-पाप ही सब करते हैं।

एक छोटे से भोले-भाले बालक के पास एक बहुत सुन्दर मिट्टी का खिलौना था। बालक को उस खिलौने से बहुत प्यार था। एक दिन वह खिलौना हाथ से छूट कर टूट गया। बालक रोने लगा। समीप ही उसके माता-पिता खडे थे, वे यह सब देखकर मुस्करा रहे थे, क्योकि वे जानते थे कि खिलौना मिट्टी का है, टूटना इसका स्वभाव है। पर बालक इस स्वभाव को नही जानता है, इसलिये रो रहा है। बालक अज्ञान के कारण, स्वभाव न जानने के कारण दुखी था। उसके माता-पिता ज्ञानी थे, वे उसके स्वभाव को जानते थे इसलिये दुखी नही थे। **जो वस्तु-स्वभाव को जानता है वह दुःखी नहीं होता।** तभी तो कहा है 'वस्तु स्वभावो-धम्मो'। सम्यग्दृष्टि, धार्मिक वृत्ति वाला जीव मौत आने पर भी घबरायेगा नही, रोयेगा नही। वस्तु स्वभाव को जानता हुआ, धर्म का स्मरण करता हुआ जायेगा, और मिथ्या-दृष्टि मरते समय भी भगवान् का नाम स्मरण नही करेगा। वह मेरे मरण के पश्चात् दुनिया दुखी होगी, इस दुख से ही दुखी होता हुआ मरेगा।

कवि रत्नाकर की एक कविता का भावार्थ है—एक महिला अत्यन्त बीमार थी। डॉक्टर वैद्य सबने बहुत प्रयत्न किये पर सब व्यर्थ। वे भी रोग का ही इलाज कर सकते थे, मौत का नही। आयुक्षय हो गया तो मरण निश्चित है। बीमारी का कोई इलाज नही, मौत की बाट जोहती महिला रोये जा रही थी। मेरे इन बालको का क्या होगा? इसी विचार से दुखी हो रोते-रोते शरीर त्यागा। पुन स्त्री शरीर प्राप्त हुआ, कालान्तर मे युवा-वस्था मे विवाह हुआ, बच्चे हुये, फिर मरणोन्मुख हुई तो रोने लगी—हाय इन बच्चो का क्या होगा? अरे इन बच्चो की चिन्ता करती है, पिछले जन्म मे जो बच्चे छोडकर आई उनका क्या हुआ? यह क्रम तो चलता रहता है।

अत इस प्रपच के दुखो का स्वरूप का चिन्तन करने के बाद दृढ-श्रद्धा, आत्मविश्वास के साथ आध्यात्मिक परोपकारी, सेवाभावी प्राणी ही अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरे के लिये भी कल्याण मार्ग प्रशस्त करेगा। अज्ञान को हटाना ही उपादेय है। यदि दीपक हाथ मे हो तो कुये मे नही गिर सकता, काटो पर पैर नही रख सकेगा, पर यदि अधेरा होगा तो शायद गिर

सकता है। प्रकाश है, ज्ञान है, तो मानव दु खो मे वच सकता है। वादि-वृषभाचार्य कहते हैं कि—यदि दीपक रहते हुये भी कुये मे गिर जाये तो वह दीपक किसी काम का नही, इसी प्रकार **ज्ञान होते हुये व्यसनो मे फस जाये तो वह ज्ञान-ज्ञान नहीं हैं।** महात्मा गाधी ने भी कहा है—**बिना चारित्र के ज्ञान, ज्ञान नहीं है, ज्ञान का व्यभिचार है।** सत्य-ज्ञान वही है जो आत्म-कल्याण की ओर प्रेरित करे, आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करे।

सोमदेवसूरि के अनुसार—यह दुनिया एक नाटकशाला है। यह अकृत्रिम है, शाश्वत है, कुदरती है, इसे किमी ने नही वनाया है। सर्वज्ञ परमात्मा इससे प्रेक्षक हैं, देखने वाले है। वहुत से लोग कहते हैं कि दुनिया अकृत्रिम कैसे है ? ईश्वर ने इसे वनाया है। अच्छा, थोडी देर के लिये मान लिया कि ईश्वर ने सृष्टि-निर्माण किया। ईश्वर ने निर्माण किया अर्थात् उनमे कर्तृत्व गुण था, वे स्वय थे—अर्थात् उनकी आत्मा थी। वे रहते कहा थे—रहने के लिये स्थान होना वहुत आवश्यक है अर्थात् 'आकाश' भी है। यहा दो तत्त्व हो गये, आत्मा-चेतन व आकाश अचेतन (जड)। आत्मा की गति के लिये 'धर्म-द्रव्य' व स्थिरता के लिये 'अधर्म-द्रव्य' भी होने चाहिये। कर्तृत्व गुण था तो उनमे और भी गुण होने चाहिये। जव ये सव सृष्टि-निर्माण के पूर्व ही मौजूद थे, सव तत्त्व पहले ही मौजूद थे, तो स्पष्ट है कि सृष्टि अनादि है—न प्रारम्भ है न नाश है। केवल परिवर्तन-परिणमन होता रहता है, करवट वदलती रहती है। खण्ड रूप प्रलय होती रहती है, पर सम्पूर्ण-सृष्टि नष्ट नही होती। भीषण अग्नि काड होते हैं, शहर के शहर जल जाते हैं पर क्या कभी आकाश जलता है ? वह अजर-अमर है। जव ईश्वर है तो और पदार्थ क्यो नही थे ? सृष्टि अनादि है, अक्रम है, सत् है। सत्-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत्। पर्याय परिणमन होता रहता है। पर्याय की दृष्टि से उत्पाद व विनाश होता रहता है, पदार्थ ध्रुव रहता है। अगुली टेढी हो गई इसका सीधापन नष्ट हो गया, टेढापन उदय हो गया पर अगुली खत्म नही हुई, अगुली ज्यो की त्यो मौजूद है। इसी प्रकार वालावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आती-जाती रहती है, दूसरा जन्म धारण कर लेता है पर आत्मा नष्ट नही होती, वह अजर-अमर है। पदार्थ नष्ट नही होते केवल (अवस्थाओ मे) परिवर्तन होते है। (पचास्तिकाय-१५ व) गीता मे भी कहा है—'नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सत्'। पदार्थ शाश्वत है, परिणमनशील है। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी कहा है—मिट्टी से घडा वना, घडे के टूटने पर फिर मिट्टी से पुन घडा, इस प्रकार—निर्माण-ध्वस मे मिट्टी 'मिट्टी' ही वनी

रही, वह समाप्त नही हुई। जिस पदार्थ का जो स्वभाव है वह समाप्त नही होता, वह शाश्वत है, सत्य है। लोक शाश्वत है, पर्याय परिवर्तनीय है। आत्मा का ज्ञान–चेतन–स्वभाव नष्ट नही होता, पर्याय नष्ट होती है। आत्मा मे अनन्त शक्ति है।

श्रीकृष्ण ने कहा है कि तीन लोक मे केवल ज्ञान ही पवित्र है, उस पवित्र ज्ञान को जिसने प्राप्त कर लिया वही अजर–अमर है।

सोमदेव सूरि ने कहा है कि, सुख-दुःख के देने वाले कर्म हैं, पाप-पुण्य है। इन कर्मों से मुक्त होने पर ही आत्मा परमात्मा बनता है। जीव ही पापात्मा व पुण्यात्मा कहलाता है। विशिष्ट पात्र के समान यह जीव नाना प्रकार के नाटक–व भूमिकायें करता है। जीव पुण्य-पाप से विरक्त होने के बाद ही शाश्वत सत्य को प्राप्त कर सकता है। शाश्वत–सत्य कही बाहर नही है, वह अपनी आत्मा मे ही है। शाश्वत–सत्य को प्राप्त करने के लिये ज्ञान एक साधन है।

कणाद महर्षि के जीवन की घटना है। वे एक दिन तत्त्व चिन्तन करते हुये चले जा रहे थे कि एक गड्ढे मे गिर गये और तब भी चिन्तन मे ही मग्न। उधर से गुजर रहे एक देवता ने उन्हे निकाला। उनके तत्त्व–चिन्तन की निमग्नता देख वे बहुत खुश हुये और एक वरदान मागने के लिये कहा। तब कणाद ऋषि ने वरदान मागा कि "मेरे नेत्र शास्त्रो का अध्ययन करते ही जायें, उन्हे कभी इस काम मे बाधा न आवे। चलते समय मुझे शास्त्रो से आँखें हटा पृथ्वी की ओर देखना होता है, इसलिये आप ऐसा वरदान दीजिये जिससे मेरे पैरो मे भी दो आँखें हो जायें, जिससे वह पृथ्वी देखते हुये चलें और मैं पढता रहूँ"।

पुण्य-पाप से विरक्त हो, ज्ञान प्राप्ति की ऐसी प्रबल आकाक्षा एव प्रयास ही अमर–पथ का पाथेय है।

• • •

श्री कृष्ण और उनका जीवन दर्शन

महापुरुष कभी किसी जाति विशेष के नही रहे, प्राणी मात्र के प्रति उनका दया-भाव व समताभाव रहा है।

ससार के प्रत्येक प्राणी मे परमात्मा के समान शक्ति है, आवश्यकता है विकास की। अज्ञान से सशकित होने से ही दु ख होता है। भ्रम-बुद्धि को छोडना ही उत्तम है।

लडाई किसी सम्प्रदाय के कारण नही होती, मिथ्या बुद्धि के कारण होती है। धर्म सदा मैत्री कराता है।

केवल चर्म धोने से ही कर्म नही धुलते। क्रोध मान-माया-लोभ आदि छोडने से ही सम्यग्दृष्टि बन सकता हैं।

भारत का इतिहास पढते हैं तो ज्ञात होता है कि अनादि से यह भारत भूमि महापुरुषो की जन्मस्थली रही है। इस धरती के कण-कण मे महापुरुषो का जन्म स्थान रहा है। जैसे प्रत्येक पेड-पौधे छाया देते है, फल देते हैं, उनके पत्तो से औषधि, निर्माण होती है, अर्थात् उनका उद्देश्य ही उपकार करना होता है, उसी प्रकार महापुरुषो का जीवन भी उपकारमय होता है, उनके उपकार की सीमा नही है। हम उनके उपकारो को पुस्तको आदि की सीमा मे सीमित नही कर सकते। एक ही पेड के नीचे कभी खू खार शेर आकर बैठता है, तो कभी दयामयी गाय आकर बैठ जाती है, कभी कौवा तो कभी तोता, पेड सबको समान रूप से छाव प्रदान करता है वह किसी से भेद-भाव नही रखता। इसी प्रकार महापुरुषो का जीवन, उनके विचार भी भेद-भाव रहित, प्राणीमात्र के कल्याण के लिये होते हैं। मानव

अपनी शक्ति के अनुसार उन महापुरुषो के विचारो को पुस्तको मे समेटने का प्रयास करते है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे कहा है कि सर्वज्ञ की दिव्य-ध्वनि को पुस्तको मे समेटते है, मानो महान् विशाल-समुद्र को छोटे से गिलास मे, घडे मे समेट रहे हो। महापुरुषो के जीवन की घटनायें, उनके अनुभवो द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त अत्यन्त मूल्यवान है। उन महापुरुषो के द्वारा बताया गया मार्ग हमारे लिये युगो-युगो तक प्रेरणादायक रहेगा। पशु-पक्षी, पेड-पौधे, पदार्थ किसी जाति विशेष के लिये नही होते, प्राणीमात्र के लिये होते हैं, उसी प्रकार महापुरुष भी कभी किसी जाति विशेष के लिये नही रहे, प्राणिमात्र के प्रति उनका दयाभाव समताभाव रहा है।

स्वर्ण के गहनो, आभूषणो मे आकार-प्रकार शिल्प आदि का भेद हो सकता है पर सबमे निहित स्वर्ण एक सा ही रहेगा। उसी प्रकार शरीरगत आकार आदि का भेद भले ही हो पर सब प्राणियो मे ज्ञान-चैतन्य एकसा है। चीटी से लेकर हाथी तक सब मे शुद्ध निराकार ज्ञानमय जीव है। चीटी एक घ्राणेन्द्रियमात्र से सू घकर डिब्बे मे बन्द मिष्ठान का पता पा जाती है, अर्थात् उसमे भी ज्ञान है। चीटी एकेन्द्रिय से अपने अभीष्ट का ज्ञान करती है तो मनुष्य तो पचेन्द्रिय है। उसके ज्ञान का तो अन्त ही नही है। मछली को समुद्र मे आने वाले तूफान का चौबीस घटे पूर्व आभास हो जाता है और वह अपनी सुरक्षा के लिये काफी गहराई मे जाकर बैठ जाती है। तूफान शान्त होने पर स्वय ही ऊपर आ जाती है। यह ज्ञान वह कही सीखती नही है, ज्ञान उसमे पहले से ही अनुश्रूत है। ससार के समस्त प्राणियो मे, कृमि कीटो मे ज्ञान हैं, ये भी परमात्मा के समान शक्तिशाली हैं, पर विकास की आवश्यकता है। विकास की दृष्टि से मनुष्य बुद्धिमान है, और सर्वज्ञ के पूर्ण विकसित ज्ञान का अन्त नही है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान की ही सीमा नही माप सकते फिर सर्वज्ञ के ज्ञान की तो सीमा ही नही है।

चार सूरदास थे, मति-श्रुत ज्ञानी। एक बार चारो मित्रो ने विचार विनिमय कर यात्रा करने का कार्यक्रम बनाया और निकल पडे। पास मे पैसा नही था, भोजन का साधन नही था। भूख लगने पर नगर के राजमहल की ओर बढे और येन-केन प्रकारेण महल मे प्रवेश कर लिया। राजा से बात की। हम यात्रा के लिये निकले है, हमे भूख लगी है, भोजन चाहते हैं। राजा ने कहा—आज तो मैं भोजन करा दू गा पर मार्ग मे आगे क्या होगा ? सूरदास बोले—हमारे पास मतिज्ञान-श्रुतज्ञान है, जिसके आधार पर हम

अपनी कलाओ को दिखाकर भोजन प्राप्त कर लेगे। कलावान् कही भी जी सकता है। हममे से एक रत्न-परीक्षक है, एक अश्व परीक्षक है, एक नर परीक्षक है और एक नारी परीक्षक है। राजा ने सर्वप्रथम रत्न परीक्षक की परीक्षा लेनी चाही। पर सूरदासो ने कहा कि पहले हमे भोजन करा दीजिये, हम वहुत भूखे हैं। राजा ने रसोइये को आज्ञा दी इनको भोजन कराओ, साथ मे एक छटाक घी भी देना। सूरदासो ने भोजन कर लिया। तत्पश्चात राजा ने रत्न परीक्षक की परीक्षा ली। एक थाली मे असली व नकली रत्न मिलाकर रख दिये। रत्न परीक्षक सूरदास ने कुछ ही समय मे असली व नकली हीरे छाटकर अलग-अलग कर दिये। राजा ने पूछा--तुमने असली-नकली का भेद, आखो के न रहते हुये भी कैसे पहचान लिया? राजा आश्चर्य चकित था। रत्न परीक्षक ने कहा कि जो रत्न भारी थे वे असली थे तथा जो रत्न हल्के थे वे नकली थे, मैंने इसी आधार पर जाच दिये। अव अश्व परीक्षक की वारी आई। राजा के अश्वालय मे एक अश्व को पानी में वैठने की आदत थी। अत परीक्षक से पूछा गया कि ऐसा क्यो है? परीक्षक ने कहा कि इसने भैंस का दूध पिया है उसके पीने के कारण इसको पानी मे वैठने की आदत पड गई है। तथ्य की सत्यता ज्ञात कराने पर निरीक्षक की वात सही निकली। अश्व की मा जल्दी ही मृत्यु को प्राप्त हो गई थी अत उसका पालन भैंस के दूध द्वारा किया गया था। राजा बहुत प्रसन्न हुआ। अव नर परीक्षक की वारी आई। राजा के स्वय के वारे मे वताने को कहा। अभयदान देने पर सूरदास ने वताया कि आप क्षत्रिय पुत्र नही हैं आप वनिया के पुत्र है। राजा ने कहा—ऐसा कैसे हो सकता है? राजमाता से पूछने पर ज्ञात हुआ कि स्वपुत्र की मृत्यु के पश्चात् एक वनिये के पुत्र को गोद लिया और वह तुम ही हो। राजा आश्चर्य चकित हो गया। मुझे स्वय को पता नही कि मैं वनियापुत्र हूं और यह सूरदास जान गया कैसे? उसने सूरदास से जाच का आधार पूछा? सूरदास ने कहा कि— आपने हमे भोजन के साथ एक-एक छटाक घी के लिये कहा, वह वनियेपन की निशानी है, क्षत्रिय कभी इस प्रकार माप-तौल की वात नही कर सकता था।

तात्पर्य यह है कि मति-श्रुत ज्ञान का इतना चमत्कार है तो सर्वज्ञ ज्ञान के वारे मे क्या कह सकते हैं।

अव मैं आज के प्रतिपाद्य विषय के वारे मे कहता हू। भगवान कृष्ण का जन्म मथुरा मे हुआ। इनमे पूर्व जन्म लेने वाले, इनके सव भाई-वहिनो को

मार दिया गया था। इसका जन्म कारावास मे हुआ। अन्य भाई-बहिनो की जैसी परिणति न हो इस कारण इनके जन्म की वात गुप्त रखी गई। जैसे खान से स्वर्ण की प्राप्ति होती है वैसे इतने वडे महापुरुष का जन्म कारावास मे हुआ। उत्तर पुराण के अनुसार इनके पिता सगीत के महान् कलाकार थे, जनता मत्रमुग्ध हो उनसे सगीतपान करती थी। पुत्र भी आगे जाकर बासुरी वादक हुये। कृष्ण जी वडे हुये, ज्ञान विज्ञान वढता चला गया। महापुरुषो का जीवन छिप नहीं सकता। श्री कृष्ण वज्रवृषभनाराच सहनन धारी थे। एक वार रुक्मणी को विचार आया कि कृष्ण शक्तिशाली है या नहीं ? किसी सन्दर्भ से रुक्मणी के विचार को भाप कर श्रीकृष्ण ने उसी समय अपनी अगुली व अगूठे के मध्य एक रत्न को पीसकर उससे तिलक लगा दिया, रुक्मणी की शका का निराकरण हो गया।

एक वार पाडव-कौरव द्यूतक्रीडा मे रत थे। धर्मराज युधिष्ठिर कौरवो मे फस गये, राज्य खो वैठे और अन्त मे द्रौपदी को भी दाव पर लगा वैठे। अपनी भूल के कारण राज्य खो दिया, बनवास भोगा। छोटी सी भूल छोटा सा राज भी अत्यन्त दु ख का कारण है। रामचन्द्रजी भी उस हिरण के राग के कारण सीता को खो वैठे थे। **महापुरुष अपने जीवन के दृष्टान्त से हमे सिखाते हैं कि पर-पदार्थ का राग दु ख का कारण है।** कौरवो ने राज्य पर आधिपत्य जमा लिया। पाडवो ने १४ वर्ष तक वनवास भोगा।

वनवास के बाद श्रीकृष्ण पाडवो के दूत बनकर कौरवो के पास गये और पाडवो के लिये पाच गाव मागे। पर कौरवो ने सूई की नोक के बराबर जमीन देने से भी इन्कार कर दिया। श्रीकृष्णजी ने वहुत समझाया पर कौरव न माने। घनघोर युद्ध की तैयारिया होने लगी। युद्ध प्रारम्भ होने वाला था कि अर्जुन ने शस्त्र नीचे फेंक दिया। ओह ! ये सब मेरे सम्बन्धी हैं, भाई हैं इन पर तीर कैसे चलाऊ ? तब श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को सम्बोधित किया—अरे अर्जुन ! यह मोह तुझे सता रहा है और वह मोह ही तुझे डुबो देगा। तूने शस्त्र त्याग दिया तो लोग यह नही सोचेंगे कि तूने दया के कारण, प्यार के कारण, अहिंसा के लिये शस्त्र त्यागा है, अपितु सब यह कहेगे कि—कायर है, इसलिये युद्ध के लिये तत्पर नही है। गृहस्थियो के लिये विरोधी हिंसा का त्याग नही है, सन्यासी के लिये त्याग है। जैनो के राजनीति ग्रन्थ 'यशस्तिलकचपू' (सोमदेवसूरि कृत) मे लिखा है कि—अबला पर, बच्चे पर असहाय, वृद्ध, रोगी व निहत्थे पर शस्त्र मत चलाओ। पर यदि कोई शस्त्र लेकर तुम्हारे पास गलत इरादे से आता है तो उस पर तुम

शस्त्र चला सकते हो। पर शत्रु सता रहा हो तो भी विनम्रता मत छोडो। धनुष झुकता है तो वाण दूर तक जाता है, यदि धनुष न झुके तो वाण दूरगामी नही हो सकता। शत्रु के साथ विनम्र व्यवहार करो--कोई लकडहारा जगल से लकडियाँ काटकर सिर पर रखकर लाता है। लकडियाँ बहुत इठलाती हैं कि हम इसके सिर पर चढी बैठी हैं, पर घर जाकर वे लकडियाँ चूल्हे मे फूक दी जाती है। शत्रु को सिर पर बैठाओ पर नीचे उतारने के बाद वह पुन न उठ सके ऐसा पराक्रम करो। चक्रवर्ती खारवेल, सम्राट चन्द्रगुप्त आदि अहिंसक राजा थे, परन्तु समय पडने पर विरोधी हिंसा, राज्य आदि की सुरक्षा हेतु युद्ध आदि मे तत्पर रहते थे। अर्जुन ने अहिंसा की भावना मे धनुष नही छोडा। मोह के कारण छोड़ा, मोह कायर बनाता है। श्रीकृष्णजी के समझाने पर अर्जुन ने युद्ध किया। घनघोर युद्ध हुआ हजारो नौजवान मारे गये, चारो ओर करुण-क्रन्दन मच रहा था। अभिमन्यु (श्रीकृष्णजी के भानजे व अर्जुन के पुत्र) भी इस युद्ध मे मारे गये। अभिमन्यु की मृत्यु से श्रीकृष्ण आकुल हो उठे। भयकर विनाश लीला देखकर उनके मनमे करुणा उत्पन्न हुई। उन्होने सोचा युद्ध तुरन्त बन्द करना होगा अन्यथा वश समाप्त हो जायेंगे। हे धर्मराज युधिष्ठिर से बोले—तुम ऐलान करदो कि अश्वत्थामा मर गया। धर्मराज ने झूठ बोलने से इन्कार कर दिया। उसी समय अश्वत्थामा हाथी की मृत्यु हो गई। श्रीकृष्ण ने इस समाचार का ऐलान करवाया—'अश्वत्थामा हता गजा' गजा शब्द आते ही शख फूक दिया गज शब्द नही सुनने दिया। विरोधियो ने सुना कि हमारे अश्वत्थामा हत हो गये है तो वे घबरा गये। युद्ध समाप्त हो गया।

व्याकुल श्रीकृष्ण व अर्जुन ने जब कुन्ती को अभिमन्यु का मृत्यु का समाचार सुनाया तब कुन्ती ने उन्हे कहा—अर्जुन के हाथ मे गाडीव धनुष है श्रीकृष्ण के हाथ मे सुदर्शन चक्र है। इनके होते हुये मुझे बुढापे ने ग्रसित कर लिया। मैं भूखी रह रही हूँ, इतना तो मैंने सहन किया ,पर पोते के मरने का समाचार सुन रही हूँ, धिक्कार है मेरे जीवन को। तुम्हारे रहते यह सब अनर्थ हो गया।

तब श्रीकृष्ण ने कहा—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजाति प्रभु ।
न कर्मफलसयोग स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। ५-१४ ।।

जन्म-मरण स्वेद-खेद मे मैं कोई हस्तक्षेप नही कर सकता, ये सब पाप-पुण्य के खेल है।

श्रीकृष्ण गुणग्राही थे। छान्दोग्यउपनिषद् मे लिखा है कि—श्रीकृष्ण जी ने तीर्थंकर नेमिनाथजी से अहिंसा, तप आदि की शिक्षा प्राप्त की। उनकी गुणग्राह्यता के बारे मे एक बार एक देव के मनमे कुछ शका उत्पन्न हुई, उसने श्रीकृष्ण की परीक्षा लेने की बात सोची और श्रीकृष्ण-बलराम के सामने मार्ग मे एक रोगी सडा हुआ कुत्ता प्रस्तुत किया। बलराम ने श्रीकृष्ण से कहा—तुम उधर से मत जाओ, इधर से निकलो उधर दुर्गन्ध आ रही है। श्रीकृष्ण ने कहा—दुर्गन्ध की ओर ध्यान मत दो, देखो इसके दात कितने सुन्दर हैं। हे बलराम! किसी के पास एक भी गुण हो तो दृष्टि उसके गुणो की तरफ रखो, उसके गुण ग्रहण करो, अवगुणो की ओर मत देखो। एक बार गाधीजी से एक व्यक्ति ने कहा कि—आपका अमुक दोस्त कह रहा था कि गाधीजी मे यह कमी है, अवगुण है। गाधीजी बोले अरे मुझ मे तो बीसियो कमिया हैं, उसे एक ही कमी का पता है। महापुरुष गुणग्राही होते हैं, छिद्रान्वेषक नही। केवडे का पेड टेडामेडा होता है, कीचड मे सना रहता है साप लिपटे रहते है परन्तु उसकी सुगन्ध के कारण सब कोई उस चाहते है। **प्रत्येक प्राणी मे कोई न कोई गुण अवश्य होता है। 'अयोग्य पुरुषोनास्ति'—कोई भी मानव अयोग्य नहीं हैं। अत जीवन मे ऊचे उठने के लिये गुणग्राही बनना चाहिये।**

युद्धादि के विनाश से बचकर श्रीकृष्ण व बलराम जगल मे गये। श्रीकृष्ण को प्यास लगी, बलराम उनके लिये पानी लेने गये। जगल मे जरद नामक व्यक्ति ने हिरण समझकर उधर बाण फेंका। वह बाण श्रीकृष्णजी को आकर लगा, जिससे वह घायल हो गये। जरद घबराया! श्रीकृष्णजी ने उसे क्षमा किया और आशीर्वाद दिया कि तू स्वर्ग मे जा। उसके प्राणो की रक्षा हेतु उससे कहा कि—तू शीघ्र ही यहा से चला जा अन्यथा बलराम आयेंगे तो वे तुझे छोडेंगे नही। कुछ देर मे ही उनकी मृत्यु हो गई। एक महापुरुष जिनका जन्म कारावास मे हुआ और मृत्यु जगल मे, जहा कोई सम्बन्धी रोने वाला भी नही था। बलराम पानी लेकर आये। कल्पनातीत घटना, श्रीकृष्ण की मृत्यु को देख अत्यन्त दु खी हुये। बलराम राग के कारण अनेक दिन तक उनके शव को लेकर फिरते रहे, अन्त मे एक पर्वत पर जाकर रख दिया। श्रीकृष्ण जैसे महापुरुष ने युद्ध मे दूत बनकर, सारथी बनकर अनेक कष्ट सहे। 'पर देश को नाऽसतो विद्यते भावो, नाऽभावो विद्यते सत्'—जो सत् है वह असत् नही हो सकता, जो असत् है वह सत् नही हो सकता, का धार्मिक, दार्शनिक सिद्धान्त दिया।

युद्ध भूमि में भी श्रीकृष्ण अर्जुन के साथ आत्मा परमात्मा की, द्रव्य गुण-पर्याय की, तत्वज्ञान की चर्चा करते रहे। यह भारत की क्षत्रिय परम्परा रही है कि दु.ख कष्टादि के बीच भी धर्म नही छोडते। हम कही भी रहे पर ज्ञान-चेतना, आध्यात्मिक चेतना जागृत रहनी चाहिये। जो मनुष्य आध्यात्मिक होगा वह ज्ञान चेतना को नही छोडेगा, उसमे परमात्मा के समान शाति का स्त्रोत वहता रहेगा।

श्रीकृष्ण व युधिष्ठिर के जीवन मे अनेक कष्ट आये। मानव-मन कितना निम्न श्रेणी तक पहुँच जाता है कि स्वय के भाइयो के लिए लाक्षागृह वनवाता है, अपने ही भाईयो को जीवित जलाने की वात कौरवों के मन मे आती है। इतिहास मे एक भातृ-प्रेम रामचन्द्रजी का है और एक भातृ-प्रेम कौरवो का है। अनेक कष्ट सहन करने के वाद पाडव तपस्या कर शुक्लध्यान के द्वारा मुक्त हो आत्मा से परमात्मा वन गये। निर्वाणकाड मे इसका उल्लेख है।

मानव जीवन अत्यन्त सघर्षमय है, सघर्षो का कोई अन्त नही। श्रीकृष्णजी ने युद्ध भूमि मे भी धर्म को, आध्यात्म को नही छोडा, हम भी कलह, दु ख, भाई-वन्धुओं की लडाई मे धर्म न छोड़ें। जो धर्म मे जागृत होगा वह अपनी आत्मा को ससार मे नही फसायेगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने अष्टपाहुड मे लिखा है कि **छोटी सी सूई यदि धागे सहित होती है तो वह खोती नहीं है बिना धागे के सूई खो जाती है।** ऐसे ही तत्वज्ञान के छोटे-छोटे सूत्र इस आत्मा के साथ होगे तो आत्मा जगत् मे भ्रमित नही होगी। विना तत्वज्ञान के यह आत्मा जगत् मे भ्रमण करती रहती है।

एक महिला सिनेमा के परदे पर तूफान-आधी वर्षा देखकर सोचने लगी—मेरी छत पर कपडे सूख रहे हैं वे उड जायेंगे, भीग जायेंगे उन्हे चलकर उठालूँ, और वह सिनेमा घर से उठकर शीघ्रता से घर की ओर चलदी। शीघ्रता के कारण एक मोटर से टकरा गई और मर गई। सत्य है—नकली को असली समझ भ्रम-वुद्धि से हम दु खी होते हैं, अपना नाश कर लेते है। ससार मे भ्रम-वुद्धि के कारण सव जीव दु खी हैं। विपरीत अभिनिवेश—रस्सी को सर्प समझने से ही भटकते हैं। जिनको सत् का, द्रव्य गुण पर्याय का, तत्व का, असत् का ज्ञान नही ,वे ससार मे भटक जाते हैं। जिसने इनका अनुभव किया है, वे अजर-अमर हैं। अज्ञान से सशकित होने से ही दु ख होता है, भ्रमवृद्धि को छोडना ही उत्तम है।

दो दोस्त थे, प्रगाढ मित्र, पर किसी मित्र के द्वारा बहकाने पर वे भ्रम के कारण आपस मे लड बैठे और परस्पर मित्र से शत्रु बन गये। ससार मे भाईयो मे, घर गृहस्थी मे, समाज मे, जाति मे भ्रम के कारण, समता के अभाव मे ही युद्ध होते है। आध्यात्मिक विद्या के बिना समता भाव उत्पन्न नही हो सकता। कौरव पाडव एक कुल के, भाई-भाई होकर लडते रहे, **लडाई किसी सप्रदाय आदि के कारण नहीं होती, मिथ्या-बुद्धि के कारण होती है। धर्म कभी नहीं लडाता है, वह मैत्री कराता है जो लडाई कराये, वह धर्म नहीं अधर्म है।** धर्म कैसे धर्म का विरोधी हो सकता है? सत्य कैसे, सत्य का विरोधी हो सकता है? अग्नि कैसे अग्नि की विरोधी हो सकती है?

एक व्यक्ति ने शका की कि धर्म कहा है? आत्मानुशासन मे इसका उत्तर दिया गया है कि—धर्म आत्मा मे है, मन मे है। जब तक मन मे धर्म है तब तक वह शत्रु को मारना भी हेय समझता है, वह स्वय अपने दुष्कर्मो से मर जायेगा, हम क्यो मारे? पर मन से धर्म के हटने पर पिता द्वारा पुत्र की पुत्र द्वारा पिता की हत्या भी सभव है। अजातशत्रु ने अपने पिता श्रेणिक को जेल मे डाल दिया था. ऐसे अनेक उदाहरण हैं। अधर्म दोनो का नाश कर देता है। धर्म कही किताबो मे, जगल पर्वत मे, नही है, कही बाहर नही है, आत्मा मे है, इसी के सहारे दुनिया सुरक्षित है। सुरक्षा के लिए वीतराग धर्म की आवश्यकता है। जिस प्रकाश मे अधकार अश मात्र भी नही है, जिस ज्ञान मे अज्ञान का अश मात्र भी नही हो, वही सत्य है, सच्चा ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है। एक लड्डू मे सरसो के दाने के समान जहर का अश भी मारक है।

एक बार युधिष्ठिर वगैरह तीर्थ यात्रा के लिए जा रहे थे, वे श्रीकृष्ण के पास गये और यात्रा मे साथ-साथ चलने का आग्रह किया। श्रीकृष्ण स्वय नही गये, एक तुबी का फल दिया और कहा—तुम इसे तीर्थ यात्रा करवा लाओ। यात्रा से लौटने पर युधिष्ठिर ने तुबीफल श्रीकृष्ण को वापस लाकर दिया और बताया—कि हमने सब तीर्थों पर एक-एक बार स्नान किया पर इस फल ने सैकडो बार स्नान किया है। हर यात्री आपके द्वारा प्रदत्त फल है, यह जानकर इसे साथ लेकर स्नान करता था। श्रीकृष्ण ने कहा—अच्छा अब इसको खाओ। सबने काटकर एक-एक टुकडा मुह मे रखा और थू-थू करने लगे, बहुत कडवी है, बहुत कडवी है कहने लगे। इतना स्नान करने पर भी उस तुबी का कडवापन नही गया। **अत केवल चर्म धोने से कर्म नहीं धुलते। क्रोध-मान माया-लोभ, मिथ्यात्व आदि छोड़ने से ही सम्यग्दृष्टि बन**

सकते हैं ।

दुनिया मे ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख, मुसलमान सभी हैं, कोई बुरा नही है, बुरा वही है जिसकी नियत बुरी है । गुणभद्राचार्य ने कहा है कि धर्म प्रत्येक आत्मा मे है । जब आत्मा स्वच्छ होगी, निर्मल होगी तभी कल्याण होगा । आचार्यों ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिये दर्शन दिया, दृष्टि दी ।

श्रीकृष्ण ने भी एक जीवन-दर्शन दिया । वैर-अज्ञानता मे है, इसी से मानव जीवन दु खी है । धर्म प्रत्येक आत्मा मे है, कृमि-कीट मे भी आत्मा है ।

इस देश को क्षत्रियो ने अध्यात्म विद्या दी, ब्राह्मणो ने उसका प्रसार किया । श्रीकृष्ण भी क्षत्रिय थे । जो क्षत होने से बचावे वही क्षत्रिय है । राजा जनक, भगवान महावीर सभी क्षत्रिय थे । मन क्षय न हो, आत्मा स्वच्छ-निर्मल हो यही धर्म है । जो शरीर साथ लाये थे, वह भी साथ नही जायेगा, उसे भी छोड जायेंगे तो गैर से लडाई किस बात की । जिस शरीर का पोषण किया, वह भी धोखा देता है तो अन्य कौन धोखा नही देगा ?

अष्टावक्र जब राजा जनक के दरबार मे पहुचे तो उनके आठ वक्रीय (टेढे) शरीर को देख सब हँसने लगे । अष्टावक्र बोले—ये सब हँसने वाले चमार है- क्योकि ये मेरे चमडे की कीमत आक रहे हैं, मेरी नही । सत्य है—

चंदन पडे चाम घर, प्रतिदिन कूटे चाम ।
चंदन बेचारा क्या करे, पडे नीच के धाम ।।

चमार चन्दन की लकडी से चमडा कूटता है क्योकि उसकी दृष्टि मे चन्दन का कोई महत्त्व नही है, चमडे का महत्त्व है ।

हम सब भी इसी प्रकार चमार हैं । इस हड्डी-चमडे की सेवा मे ही लगे रहते हैं, परमात्मा के लिये क्षण भर भी समय नही निकालते । हम किसी के रूप का, चमडे का उपहास न करें, चमडे को लक्ष्य रखकर चलने-वाला चमार हैं । आत्मा को लक्ष्य रखकर चलने वाला परमात्मा है । अत हमे आत्मा की ओर लक्ष्य रख परमात्मत्व की ओर बढना चाहिये ।

• • •

चैतन्य शाश्वत है, ध्रुव है....

जो अपने उद्देश्य से भटक जाते है, उनका जीवन भटक जाता है। जीवन की भटकन से बचने के लिये विपरीत श्रद्धान व विपरीत अभिनिवेश को छोडना होगा। बिना समता के दृष्टि को निर्दोष नही बनाया जा सकता, उसमे वीतरागता नही आ सकती।

आत्मा है, पर उसका सस्कार नही किया तो, उसका मूल्य नही है। आचार्यों ने हमे जिनबिम्ब, मन्दिर व शास्त्र रूपी चाबी दी है, इसे खोना नही, इससे मोहरूपी ताला खोलकर आत्मा को स्वतन्त्र करना है।

मानव जीवन का महानतम लक्ष्य है, समता-भाव की प्राप्ति। इस समता-भाव के कारण तीर्थंकर सर्वज्ञ बन गये। समता का उत्कृष्ट उदाहरण है कि तीर्थंकर के समवशरण मे पशु-पक्षी सभी निरापद बैठे थे। समता-भाव पाने के लिए ही हम पूजा-पाठादि करते है। समता, सकीर्णता को तोडकर विशाल-दृष्टि उत्पन्न करती है। विचार-बुद्धि जैसे-जैसे सम्यक् होती जाती है, सकीर्णता दूर होती जाती है। विना समता के, सकीर्णता के कारण वीतरागता नही आ सकती।

हे सयमी! अपने लक्ष्य को बनाये रखो। शहर छोडकर जङ्गल मे चले जाने से या जङ्गल छोड देने से कल्याण नही होगा। अपितु दृष्टि को निर्दोप बनाने से, वीतरागता से ही कल्याण होगा। सकीर्णता के नाश से दृष्टि को निर्दोप बनाया जा सकता है। आज मानव सकीर्ण होता जा रहा है, वातावरण कलहकारी होता जा रहा है। यह युग ही कलियुग है अर्थात्

कलहयुग अशान्तियुग। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि "हे मनुष्य! तेरा जीवन पशु-पक्षी से भी गया-बीता होकर बीत रहा है। खाद्य वस्तु को देखकर कुत्ते आपस मे लडने लगते है, उस खाद्य वस्तु के खत्म होते ही उनकी लडाई भी खत्म हो जाती है, पर मानव परस्पर लडकर तो स्वय मिट जाये पर उनकी लडाई नही मिटेगी। दो भाई आपस मे लडकर मिट जायें पर लडाई नहीं मिटेगी। कलह का अन्त नही है, वीतरागता ही कलह का नाश कर सकती है।"

एक कार-चालक, अपनी गाडी को भीड मे भी विना किसी को वाधा पहुचाये, सडक के नियमो का पालन करते हुए, इष्ट स्थान पर पहुचता है। इष्ट स्थान पर पहुचना उसका ध्येय है। इसी प्रकार गृहस्थ को भी अपना जीवन शक्तित त्याग, गृहस्थ-जीवन के नियमो के साथ-साथ धर्म-ध्यान का पालन करते हुए उस इष्ट स्थान की ओर बढना चाहिये, अपने उद्देश्य से कभी भटकना नही चाहिये। जो अपने उद्देश्य से भटक जाते हैं उनका जीवन भटक जाता है। जीवन की भटकन से वचने के लिये विपरीत-श्रद्धान, विपरीत-अभिनिवेश को छोडना होगा।

जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छ द्रव्यो मे से जीव द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त ध्याना है। आत्मा, जीव कूटस्थ नित्य नही है, परिणमनशील है। उसका पर्याय वदलता है। जैसे एक ही शरीर मे वालक रूप, युवारूप व वृद्धरूप देखते हैं, यह उसका पर्याय परिणमन है। पर्याय भी सत्य है, द्रव्य भी सत्य है। पर्यायार्थिक नय से पर्याय सत्य है और द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य सत्य है। वौद्ध-मतावलम्वी केवल परिशुद्ध पर्यायार्थिक-नय को मानते है। जो कर्ता है वह उसका भोक्ता नही है क्योकि तव तक पर्याय परिवर्तित हो चुकी होती है। साख्य-मतावलम्वी मानते है कि कर्ता ही भोक्ता है दूसरा नही। ये नित्यवादी हैं। पर **कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा हम पर्याय को भी मानते हैं, ध्रुवता को भी मानते हैं** (समयसार सर्वविशुद्धाधिकार ३४७-३४८)। **पर्याय की दृष्टि से जो कर्ता है वही भोक्ता नहीं है; क्योकि जिस पर्याय मे कार्य किया उसका भोग दूसरी पर्याय मे होगा और द्रव्य की दृष्टि से दोनो पर्यायो मे द्रव्य वही मौजूद था, द्रव्य वही था इसलिये वही कर्ता है और वही भोक्ता है।** आत्मा का स्वभाव कूटस्थ नित्य नही है, द्रव्य व पर्याय दृष्टि मे आत्मा ध्रुव भी है, परिणमनशील भी है। हम कहते हैं कि दुनिया वदल गई है। द्वादशाग मे लिखा है, पर्याय वदलेगी तो फिर हम दुनिया को कूटस्थ नित्य कैसे देखना चाहते है? घास-दूध मे (गाय के माध्यम से)

परिवर्तित नही होगा तो हम उसका सेवन कैसे कर सकेंगे ? यह व्यवहार-जगत कैसे चलेगा ? वस्तु मे पर्यायो का परिणमन असख्यात रूप है। कोयला काला है, जलकर सफेद राख मे परिवर्तित हो जाता है। काली-मिट्टी मे खाद आदि डालते है, पीला चना बोते है, उससे हरा पौधा उत्पन्न होता है, हरा चना उत्पन्न होता है और सूखने पर फिर पीला चना। पर्याय-परिणमन होता रहता है। स्वर्ण विभिन्न रूपो मे परिणत होता है किन्तु अपना स्वर्णत्व नही छोडता, उसी प्रकार आत्मा नाना पर्याय धारण कर भ्रमण करने के बाद भी चैतन्यता नही छोडता। चैतन्यता शाश्वत है, ध्रुव है, चौरासी लाख योनियो मे भी उसकी चैतन्यता शाश्वत रहती है। अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है– "चित्स्वभावाभावा" अर्थात् चैतन्य स्वभाव है इसका कभी अभाव नही होता। इसलिये पर्याय को देखकर घबराना नही चाहिये, परिणमन तो होगा। परिणमन नही होगा तो खाद-खाद ही रह जायेगी। गुलाब मे, खुशबू कैसे आयेगी ? द्रव्य-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है। परिणमन से दुनिया की चकाचौंध मे नही डूबना चाहिये। आत्मा का लक्ष्य मुक्ति है, उसके लिये प्रयास करना होगा, क्रिया करनी होगी, तभी दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त होगा।

धर्म ही शाश्वत है। धर्मात्मा कही भी धर्म नही छोडते अर्थात् चाहे जगल मे हो, चाहे दफ्तर मे हो, कही भी हो, पर धर्म नही छोडते। समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि निष्कलक की गर्दन कट गई पर फिर भी उसने धर्म नही छोडा, श्रद्धा नही छोडी।

लक्ष्य की प्राप्ति के लिये स्वय पुरुषार्थ करे। पुरुषार्थ से ही काल लब्धि होगी, कार्य करने से ही होनहार होगा, होनहार कोई सडक पर नही बैठा है, इसके लिए आत्मा का सस्कार करना होगा। हम कपडे का, शरीर का, वर्तन का सभी का सस्कार करते हैं, उसका मैल हटाते है, आत्मा का भी सस्कार करना चाहिये, मलिनता हटानी चाहिये। मन्दिर सुन्दर है पर उसमे मूर्ति नही है कुआँ है पर पानी नही है, पेड है पर उस पर फल नही है तो उनका कोई मूल्य नही। आत्मा है पर उसका सस्कार नही किया तो उसका मूल्य नही है। **बिना आत्मा के शरीर का कोई मूल्य नहीं है, और बिना धर्म के वैभव का मूल्य नहीं।** सब वैभव है, पर धर्म नही है तो सब व्यर्थ है।

पिता जैसे उत्तराधिकार रूप मे पुत्र को तिजोरी की चाबी प्रदान करता है वैसे ही **हमारे आचार्यों ने हमको जिनबिम्ब, मन्दिर, शास्त्र रूपी चाबी दी है इसे खोना नहीं है इनसे मोहरूपी ताला जो आत्मा पर लगा हुआ**

पनपने लगे तब ही उसे नियन्त्रित कर ले। यदि मन पवित्र है, स्वच्छ है तो वह कही भी उडान भरे, कोई भी डर नही। आचार्य कहते हैं—पवित्र मन ही श्रेष्ठ है। स्रोत के मूल मे जल स्वच्छ होगा तो प्रवाह भी स्वच्छ होगा। जिसका मन स्वच्छ है पवित्र है, उसका जीवन, आत्मा—सर्वस्व पवित्र है, वह उपकारक है। एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मन बढे, धन बढे धन बढ, मन बढ जाय।
मन बढते सब बढ़त है, बढत-बढत बढ जाय ॥

अर्थात् मन पवित्र है तो धन भी बढता है, धन बढता है तो मन भी उदार होता जाता है और वह उपकारक सिद्ध होता है।

धन बहुत है, पर साथ मे मन उदार नही है तो उस धन का कोई मूल्य नही। धन यदि परोपकारी-कल्याणकारी काम मे न आये तो वह धन का दुरुपयोग है। धन जितना खतरनाक है उतना खतरनाक कोई नही। जैसे शस्त्र सुरक्षा के साधन के साथ स्वघातक व परघातक भी सिद्ध होता है वैसे ही धन का सदुपयोग भी हो सकता है और व्यसनो के द्वारा दुरुपयोग, नाश भी होता है। किसी भी दान-परोपकार के कार्य मे धन के साथ-साथ मन की श्रद्धा भी होती है। मन्दिर बनता है तो केवल कला व धन से नही बनता, उसके निर्माण मे 'श्रद्धा' भी साथ है। जो मनमे होता है वही (अशतः ही सही) व्यक्त होता है। मन विकृत भी होता है तो पवित्र-उन्नतशील भी होता है। उजाले के ज्ञान के लिये अधेरे का ज्ञान होना भी आवश्यक है, हीरे के ज्ञान के लिये काच का ज्ञान भी आवश्यक है, दोनो पक्षो का ज्ञान होगा तभी भेद ज्ञान होगा। पवित्र मन का ज्ञान अपवित्र मन के परिचय से होगा। कवि ने कहा है—

मन घटे, धन घटे, धन घट, मन घट जाय।
मन घटते सब घटत है, घटत घटत घट जाय ॥

अर्थात् मन विकृत हो जाय, उसमे हिंसा की, दूसरे के नुकसान की भावना उत्पन्न हो तो वह अवनत मन है। जैसे पानी का प्रवाह सदैव नीचे की ओर ही रहता है वैसे ही अवनत मन आत्मा को पतनोन्मुखी बनाता है। पवित्र मन आत्मा को विकास मार्ग पर ले जाता है। हमारे तपस्वियो, महर्षियो ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है—प्रवृत्ति दो प्रकार से है - धर्म रूप व अधर्मरूप। धर्म-अधर्म बाहर नही मन मे हैं। जब मन अवनत होता जाता है तो धन भी घटता जाता है और जब मन और धन दोनो ही घट जाये तो जीवन का सर्वस्व समाप्त हो जाता है, सब घट जाता है। फिर तो उसका नाम

लेने वाला भी कोई शेष नही रहता। राम व रावण समकालीन है, पर रावण के एक दुष्कार्य के कारण कोई रावण का नाम लेना भी पसन्द नही करता। कोई अपने बच्चे का नाम 'रावण' रखना पसन्द नही करता जबकि हर कोई अपने बच्चे का नाम 'राम' रखना चाहते है, पूरे भारत मे 'राम' के विभिन्न रूप रामस्वामी, रामैय्या आदि मिलते हैं। रावण का मन घट गया, अवनत हो गया तो उसकी स्वर्णिम लका भी खत्म हो गई, आज उसका नाम अपवित्र समझा जाता है। जबकि शब्द अक्षर मे कोई भेद नही है पर रावण के जीवन के पीछे उसका एक दुष्कर्म है—और राम के जीवन के पीछे पवित्रता है, उच्चादर्श व आचरण है। पत्थर पर उत्कीर्ण राम का नाम भले ही मिट जाये पर मनो मे अकित राम का नाम नही मिट सकता। हमने उन्हे देखा नही पर फिर भी उनके प्रति श्रद्धा है क्योकि वे एक पवित्र इतिहास छोडकर गये हैं। हजारो चक्रवर्ती, वैभवशाली सम्राट हुये हैं पर जो तप-त्याग, तपस्या व पवित्र आचरण वाले लोग हुये है, उन्ही को लोग पूजते हैं, आदर से उनका नाम लेते हैं।

भारतीय सस्कृति के मूल मे, जड मे, पवित्र मन, पवित्र विचारधारा का आधार है। मन्दिर पर रखा स्वर्ण-कलश शिखर के ऊपर चढकर सोचे कि मैं सर्वोपरि हू, तो उसको यह नही भूलना चाहिये कि वह सीढी दर सीढी चढकर ऊपर शिखर पर पहुच सका है, नीचे से ऊपर पहुचा है। यदि अपना जीवन स्वर्ण-शिखर समान सर्वोच्च बनाना है, तो एक-एक गुण को अपनाते जाना चाहिये, आचरण को धीरे-धीरे उन्नत बनाना होगा। यदि आचरण गलत होगा तो शिखर स्थित मानव भी नीचे आ गिरेगा।

धर्म स्वय मे पूर्ण है, उसका एक अश भी उपयोगी है। अग्नि की एक छोटी सी चिनगी भी प्रकाशक है, अग्नि सवर्धन मे सक्षम है। क्षणभर के लिये धर्मपालन करना भी उपयोगी है। लौकिक कार्यो के लिये हम कितना कष्ट उठाते हैं फिर धर्म के लिये क्यो नही कुछ समय निकाल सकते? भगवान का नाम लेने के लिये कोई कठोर कर्मकाण्ड की आवश्यकता नही है, भगवान का नाम लेने के लिये चर्म धोना इतना आवश्यक नही है जितना मन पवित्र करने की आवश्यकता है—

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पच नमस्कार सर्वपापै प्रमुच्यते॥

मनुस्मृति मे कहा गया है—'न लिङ्गधर्मकारण', धर्म लिङ्गी नही है, बहिरग मे क्रियाकाण्ड का टीका चिह्न आदि लगाने का समय न मिले तो भी

है **उसे खोल कर आत्मा को स्वतन्त्र करना है।** ये सब साधन मौजूद है, पर पुरुषार्थ करना है, कोई दूसरा आपको सम्यग्दृष्टि नही बना सकता।

मुल्तान दिगम्बर जैन समाज, जयपुर द्वारा निर्मित यह भव्य मन्दिर धर्म का आयतन है। ऐसे भव्य जिनालयो के लिये समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि—

"दृष्ट जिनेन्द्रभवन भवतापहारी" अर्थात् ऐसे भव्य जिनमन्दिर भवताप हरने मे माध्यम है। यह मन्दिर इन मुल्तानवासियो की धर्मश्रद्धा का द्योतक है। सत्य है--मानव कही भी रहे, कही भी जाये, पर धर्म नही छोडना चाहिये।



धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिसा सजमो तवो।
देवावि तस्स पणमति, जस्स धम्मे सयामणो।।

अर्थ —**धर्म परम मंगल है :**

कौनसा धर्म ?

अहिंसा धर्म ! आत्मा की वीतरागता ही अहिंसा है। जब तक आत्मा अपने स्वभाव मे स्थिर रहता है तब तक वह अहिसक है, परभाव मे स्थित होने पर वह हिंसक है।

संयम धर्म ! इन्द्रिय और कषाय निरोध।

तपरूप धर्म ! ज्ञान ही तप है।

साधू केवल ज्ञान प्राप्ति के लिये ही तप, व्रत और उपवास आदि किया करते है।

जिस मनुष्य का मन उक्त धर्म में सदा तल्लीन रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

परोपकार ही कल्पवृक्ष है

धर्म स्वय मे पूर्ण है, उसका एक अश भी उपयोगी है। उजाले के ज्ञान के लिये अधकार का ज्ञान होना भी आवश्यक है। दोनो पक्षो का ज्ञान होगा तभी भेद ज्ञान होगा।

भारतीय सस्कृति का मूलाधार पवित्र मन व पवित्र विचारधारा ही है। अवनत मन आत्मा के परिणामो को पतनोन्मुखी वनाता है।

भगवान् के नाम उच्चारण करने योग्य उपक्रम नही कर सकते, पर चिन्तन मनन तो कर सकते है। धर्मात्मा के लिये मनन, चिन्तन व अन्तरग जाप आवश्यक है। जीवन को सुसस्कार, आचरण व आदर्श प्रदान करो। एक अच्छाई का वीज भी कल्पवृक्ष बन जायेगा।

कुये के मूल मे जल का स्रोत होता है अतः उसका प्रवाह चलता रहता है, जल स्वच्छ व निर्मल रहता है, यदि वर्षा का जल कही एकत्रित हो जाता है, वह प्रवाहमयी नही रहता, वह जल स्थायी कुछ समय के लिये ही रहता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य के मन मे, अन्त मे धर्म है तो वह शाश्वत है। स्वय के मन को ठीक रखने के लिये मन्दिर, ग्रन्थ प्रवचन, तत्त्वज्ञान आदि सब साधन हैं। आध्यात्मिक तत्त्ववेत्ताओ ने कहा है कि सच्चा भाग्यशाली वही है जिसके मन मे धर्म है, जिसका मन पवित्र है। किसी वहिरग वस्तु के सयोग से वह भाग्यशाली नही है। मन चचल है, इसकी गति घोडे के वेग से भी तीव्र है। मन वेगवान् सही पर स्वच्छ निर्मल होना चाहिये। आकाश मे पतग उडती है, जब हवा कम होने लगती है और पतग नीचे गिरने लगती है तो उसकी डोर खीचकर उसे तान लिया जाता है, सतुलित कर लिया जाता है, इसी प्रकार जब भी मन पतनोन्मुख होने लगे तो उसे सन्तुलित कीजिये, जव भी मन मे विकृतिया

पनपने लगे तब ही उसे नियन्त्रित कर ले। यदि मन पवित्र है, स्वच्छ है तो वह कही भी उडान भरे, कोई भी डर नही। आचार्य कहते है—पवित्र मन ही श्रेष्ठ है। स्रोत के मूल मे जल स्वच्छ होगा तो प्रवाह भी स्वच्छ होगा। जिसका मन स्वच्छ है पवित्र है, उसका जीवन, आत्मा—सर्वस्व पवित्र है, वह उपकारक है। एक हिन्दी कवि ने कहा है—

मन बढे धन बढ़े धन बढ, मन बढ जाय।
मन बढते सब बढत है, बढत-बढ़त बढ जाय ॥

अर्थात् मन पवित्र है तो धन भी बढता है, धन बढता है तो मन भी उदार होता जाता है और वह उपकारक सिद्ध होता है।

धन बहुत है, पर साथ मे मन उदार नही है तो उस धन का कोई मूल्य नही। धन यदि परोपकारी-कल्याणकारी काम मे न आये तो वह धन का दुरुपयोग है। धन जितना खतरनाक है उतना खतरनाक कोई नही। जैसे शस्त्र सुरक्षा के साधन के साथ स्वघातक व परघातक भी सिद्ध होता है वैसे ही धन का सदुपयोग भी हो सकता है और व्यसनो के द्वारा दुरुपयोग, नाश भी होता है। किसी भी दान-परोपकार के कार्य मे धन के साथ-साथ मन की श्रद्धा भी होती है। मन्दिर बनता है तो केवल कला व धन से नही बनता, उसके निर्माण मे 'श्रद्धा' भी साथ है। जो मनमे होता है वही (अंशतः ही सही) व्यक्त होता हैं। मन विकृत भी होता है तो पवित्र-उन्नतशील भी होता है। उजाले के ज्ञान के लिये अंधेरे का ज्ञान होना भी आवश्यक है, हीरे के ज्ञान के लिये काच का ज्ञान भी आवश्यक है, दोनो पक्षो का ज्ञान होगा तभी भेद ज्ञान होगा। पवित्र मन का ज्ञान अपवित्र मन के परिचय से होगा। कवि ने कहा है—

मन घटे, धन घटे, धन घट, मन घट जाय।
मन घटते सब घटत है, घटत घटत घट जाय ॥

अर्थात् मन विकृत हो जाय, उसमे हिंसा की, दूसरे के नुकसान की भावना उत्पन्न हो तो वह अवनत मन है। जैसे पानी का प्रवाह सदैव नीचे की ओर ही रहता है वैसे ही अवनत मन आत्मा को पतनोन्मुखी बनाता है। पवित्र मन आत्मा को विकास मार्ग पर ले जाता है। हमारे तपस्वियो, महर्षियो ने अपने अनुभव के आधार पर कहा है—प्रवृत्ति दो प्रकार से है - धर्म रूप व अधर्मरूप। धर्म-अधर्म बाहर नही मन मे हैं। जब मन अवनत होता जाता है तो धन भी घटता जाता है और जब मन और धन दोनो ही घट जाये तो जीवन का सर्वस्व समाप्त हो जाता है, सब घट जाता है। फिर तो उसका नाम

लेने वाला भी कोई शेप नही रहता। राम व रावरण समकालीन है, पर रावरण के एक दुष्कार्य के कारण कोई रावरण का नाम लेना भी पसन्द नही करता। कोई अपने वच्चे का नाम 'रावरण' रखना पसन्द नही करता जवकि हर कोई अपने वच्चे का नाम 'राम' रखना चाहते है, पूरे भारत मे 'राम' के विभिन्न रूप रामस्वामी, रामैय्या आदि मिलते हैं। रावरण का मन घट गया, अवनत हो गया तो उसकी स्वर्णिम लका भी खत्म हो गई, आज उसका नाम अपवित्र ममझा जाता है। जवकि शव्द अक्षर मे कोई भेद नही है पर रावरण के जीवन के पीछे उसका एक दुष्कर्म है—और राम के जीवन के पीछे पवित्रता है, उच्चादर्श व आचरण है। पत्थर पर उत्कीर्ण राम का नाम भले ही मिट जाये पर मनो मे अकित राम का नाम नही मिट सकता। हमने उन्हे देखा नही पर फिर भी उनके प्रति श्रद्धा है क्योकि वे एक पवित्र इतिहास छोडकर गये हैं। हजारो चक्रवर्ती, वैभवशाली सम्राट हुये हैं पर जो तप-त्याग, तपस्या व पवित्र आचरण वाले लोग हुये हैं, उन्ही को लोग पूजते हैं, आदर से उनका नाम लेते हैं।

भारतीय सम्कृति के मूल मे, जड मे, पवित्र मन, पवित्र विचारधारा का आधार है। मन्दिर पर रखा स्वर्ण-कलश शिखर के ऊपर चढकर सोचे कि मैं सर्वोपरि हू, तो उमको यह नही भूलना चाहिये कि वह सीढी दर सीढी चढकर ऊपर शिखर पर पहुच सका है, नीचे से ऊपर पहुचा है। यदि अपना जीवन स्वर्ण-शिखर समान सर्वोच्च वनाना है, तो एक-एक गुरण को अपनाते जाना चाहिये, आचरण को धीरे-धीरे उन्नत वनाना होगा। यदि आचरण गलत होगा तो शिखर स्थित मानव भी नीचे आ गिरेगा।

धर्म स्वय मे पूर्ण है, उसका एक अश भी उपयोगी है। अग्नि की एक छोटी सी चिनगी भी प्रकाशक है, अग्नि सवर्धन मे सक्षम है। क्षरणभर के लिये धर्मपालन करना भी उपयोगी है। लौकिक कार्यो के लिये हम कितना कष्ट उठाते हैं फिर धर्म के लिये क्यो नही कुछ समय निकाल सकते? भगवान का नाम लेने के लिये कोई कठोर कर्मकाण्ड की आवश्यकता नही है, भगवान का नाम लेने के लिये चर्म धोना इतना आवश्यक नही है जितना मन पवित्र करने की आवश्यकता है—

अपवित्र पवित्रो वा सुस्थितो दु स्थितोऽपि वा।
ध्यायेत्पच नमस्कार सर्वपापै प्रमुच्यते ॥

मनुस्मृति मे कहा गया है—'न लिङ्गधर्मकारणं', धर्म लिङ्गी नही है, वहिरग मे क्रियाकाण्ड का टीका चिह्न आदि लगाने का समय न मिले तो भी

भगवान का नाम ले सकते हो। वहिरग लिङ्गी मत वनो पर अन्तरग मन वनाये रखो। भगवान के नाम उच्चारण के लिये स्नान-सध्या की अनिवार्यता नही है। उच्चारण करने योग्य उपक्रम नही कर सकते पर चिन्तन-मनन तो कर सकते है। वाल्मिकी रामायण मे एक स्थान पर शका उत्पन्न की गई है कि सीता ने राम से विलग रह एक क्षण के लिये भी राम का नाम नही लिया। भारतीय परम्परा मे पति का नाम लेना वर्जित समझा जाता है, इसलिये यदि सीता ने राम का नाम उच्चारित नही किया तो क्या राम का स्मरण, मनन नही किया होगा? क्या राम के प्रति श्रद्धा नही होगी? अत जाप वहिरग व अन्तरग भेद से दो प्रकार के हैं। केवल उच्चारण से कोई धर्मात्मा नही होता, इसके लिये मनन-चिंतन, अन्तरग जाप आवश्यक है। जिसका मन पवित्र है, श्रद्धायुक्त है, विकसित है उसका जीवन विकासमय है। धर्म, मन की पवित्रता के लिये साधन है, इसका उपयोग करना चाहिये। मानव ससार मे कितना भी भटक जाये, लौटकर उसे आत्मा की शरण मे आना होगा, श्रद्धा व विश्वास मे लौटना होगा। विना श्रद्धा व विश्वास के कोई कार्य सम्भव नही। सशयी, सशयात्मा कही भी सफल नही हो सकता—'सशयात्मा विनश्यते'। आचार्य कु दकु द ने कहा है कि—किसी के पास कितना ही धन हो, यदि उसे श्रद्धा विश्वास नही होगा तो वह एक कौडी भी दान स्वरूप नही दे सकता, और किसी के पास कौडी भी नही है पर श्रद्धा व विश्वास है तो उसकी भावना खूब दान देने की हो सकती है। परोपकार के लिये देने को धन, सतति-पुत्र, धार्मिक भावना आदि पूर्व जन्म के सुकृत के फलस्वरूप ही प्राप्त होते है। इसीलिये वर्तमान मे व्यसनो से वचने के लिये आग्रह है। महाभारत मे लिखा है—इस कलियुग मे व्यसनरहित मानव ऋषि मुनि के समान हैं।

दान-आदि के द्वारा सेवाभाव जीवन मे श्रेष्ठ है। स्वत जीने वाले तो पशु-पक्षी के समान हैं। वुध महाचन्द्र कवि ने लिखा है—वनवास मे, एक पेड की छाव मे राम व सीता ने भोजन वनाकर पहले एक अतिथि को भोजन कराया, तत्पश्चात् स्वय किया। ऊपर पेड पर एक पक्षी-युगल ने यह सव देखा, उनके मन मे भावना आई कि हम कितने पापी हैं कि हमारे यहा कोई अतिथि नही आता, हम किसी को कुछ दान नही करते, इस प्रकार स्वय को धिक्कारते हुये वे मूर्च्छित होकर नीचे चूल्हे की अग्नि मे गिर गये और जलकर मर गये। मरकर उन्होंने स्वर्ग मे देवगति प्राप्त की। दान की अनुमोदना मात्र से उन्हे स्वर्ग प्राप्त हुआ तो उसको क्रिया रूप देने मे तन-मन-धन से करने मे क्या फल प्राप्त होगा, उसको तो गणधर परमेष्ठी ही वता सकते हैं। वुरे काम के लिये नही, भले कार्य के लिये अनुमोदना देनी ही चाहिये। दानादि की पवित्र

भावना पूर्व सुकृत के फलस्वरूप ही प्राप्त हो सकती है । इसलिये महाराष्ट्र के एक विद्वान् ने कहा है कि **बच्चो को विरासत मे आदर्श सुआचार व बुद्धि प्रदान करो, जिससे भविष्य मे वे स्वावलम्बी बनें ।** केवल धन ही प्रदान करोगे तो न जाने वे उसका कैसा उपयोग करें ? **केवल धन ही नहीं, सुसस्कार, आचरण व आदर्श भी प्रदान करो, जिससे वह भी अपनी आगे आने वाली पीढी को सुसस्कृत बना सकें ।**

मनुष्य का मन उन्नत होना चाहिये । बहिरग मे उन्नति का लक्षण 'परोपकार' है । शास्त्र, कुये आदि सब परोपकार के बाह्य साधन हैं, इनका निर्माण एक व्यक्ति करता है किन्तु इससे लाभ अनेक प्राणी उठाते हैं । किसान एक बीज झुककर बोता है, वही दाना हजार दानो को पारितोषिक रूप मे लेकर खडा होता है । **एक अच्छाई का बीज भी कल्पवृक्ष बन जायेगा अर्थात् लाखो का परोपकार करेगा । कल्पवृक्ष वही है जो समाज मे, देश मे लाखो लोगो का उपकार करता है ।** मन को उन्नतशील बनाने हेतु पवित्र कीजिये, आपकी कीर्ति बनी रहे, और उसके प्रकाश ससार मे अनुसरण करे । एक कवि ने कहा है—

सूरत से कीरत बडी, बिना पंख उड जाय ।
सूरत तो जाती रही, कीरत कभी न जाय ।।

सूरत तो चली जायेगी पर आपने जो पवित्र कार्य का, धर्म का, परोपकार का बीज बोया तो उसके छाव मे सब चलेंगे । आप सब स्व-पर उपकार मे लीन हो, अपना कल्याण करें ।



सामाजिक संगठन के लिये महती आवश्यकता–'वात्सल्य-भाव'

आत्मा अलिङ्गग्रहण है, इसका वहिरग चिह्न नही है। वहिरग चमत्कार धर्म नही है। चमत्कार तो क्षणिक है।

वात्सल्य–भाव ग्रहण करने पर ही धार्मिक कहला सकेंगे, अन्यथा नही। धर्म–अहिंसा सबके मूल मे वात्सल्य–भाव है।

जो आत्मा ज्ञान रथ मे आरूढ रहती है उसी की आत्मा मे जिनेन्द्र–भगवान् की, परमात्मा की प्रभावना होती है, वही सम्यग्दृष्टि होकर मुक्तिगामी होती है। विना ज्ञान के श्रद्धा स्थिर नही रह सकती।

वीतरागता, ससारी आत्मा के लगे हुये मोह ताले को खोलने वाली, सबके लिये मोक्षमार्ग प्रशस्त करने वाली एक मात्र सिद्ध–कु जी है।

भगवान् ऋषभ से भगवान् महावीर तक वीतराग शासन चला, उस वीतराग शासन की कुछ विशिष्टतायें रही, कुछ प्रमुख सिद्धान्त रहे। उन सिद्धान्तो को शब्दो के द्वारा कठस्थ कर लेते हैं, उनके अर्थों को रट लेते हैं अथवा उनको ज्ञानसात कर लेते है। उन अनेक सिद्धान्तो का दो दृष्टियो से कथन किया गया। (१) व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से, (२) सामाजिक विकास की दृष्टि से। सम्यग्दर्शन के आठ अग है—नि शकित, निकाक्षित

निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य व प्रभावना। आचार्यों ने आत्मा के व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से तथा सामाजिक विकास की दृष्टि से इनका कथन किया है। इनमे से नि शकित, निकाक्षित, **अमूढदृष्टि व स्थितिकरण व्यक्तिगत विकास के लिये हैं और निर्विचिकित्सा, उपगूहन, वात्सल्य व प्रभावना सामाजिक सगठन व विकास के लिये हैं।** कथन शैली आचार्यों की अपनी रही और सिद्धान्त सर्वज्ञ वीतराग भगवान् तीर्थङ्करो के। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—**सयुत्थान प्रतिश्रद्धा।** 'युत' शब्द का अर्थ हाथी भी है, हाथी जब समूह रूप मे रहता है तब उस पर कोई आक्रमण नही करता, वे बाधा रहित भ्रमण करते रहते हैं। इसी प्रकार यदि मानव समाज मे सगठित रूप मे रहेगा तो अनेक बाह्य कष्टो से मुक्त रहेगा। अपने साधर्मी के प्रति सद्भाव भी सम्यग्दर्शन का लक्षण है, अपने साधर्मी भाई के प्रति वात्सल्य होना चाहिये। प० दौलतराम ने छहढाला मे कहा है—धर्मी सो प्रीतिकर। प्रीति धर्मी ही कर सकता है, धार्मिक नही कर सकता। तीन शब्द हैं—धार्मिक, धर्मात्मा व धर्मी, तीनो मे अन्तर है। जैसे अवलोकन, अनुभव व अनुभूति ये तीन प्रकार हैं, अवलोकन देखने सुनने तक सीमित है, अनुभव है और अनुभूति मे जो निहित है उसका शब्दो मे व्यक्त नही कर सकते। इसी प्रकार धार्मिक वह है जो धर्म पर, धर्म के सिद्धान्तो पर विश्वास करे, उनका अस्तित्व स्वीकार करे। धर्मात्मा वह है जो श्रद्धा के साथ रुचि के साथ पूजा पाठ करे, स्वाध्याय करे, भक्ति मे मग्न हो और धर्मी वह है जो पूर्णतया आगोपाग निहित हो, जो सम्यग्दर्शन के आठो अगो को व्यवहार मे आत्मसात् कर ले। शास्त्रो को पढने वाला व्यक्ति धर्मी नही है वह धर्मात्मा है। कोई भी धर्म-धर्मी, धर्मात्मा व धार्मिक के बिना स्थित नही रह सकता।

यूनान मे पादरियो का एक समूह था। उन्होने एक व्यक्ति को धर्म परिवर्तित कराकर ईसाई बना लिया। पादरीगण इस बात से बहुत खुश थे कि हमने अपनी सख्या मे एक की वृद्धि कर ली। उनके पास जगह-जगह से धन्यवाद व बधाई के पत्र एव सर्टिफिकेट आ रहे थे। एक दिन वह व्यक्ति (जो धर्म परिवर्तित कर ईसाई बना था) वहाँ से भाग निकला। जिसके कारण वे सर्टिफिकेट मिले वह व्यक्ति ही नही है तो उन सर्टिफिकेट्स का क्या फायदा? उस व्यक्ति की खूब खोज करवाई, पर वह कही न मिला। काफी समय बाद एक दिन वह सडक पर खडा दिखाई दिया। उसका हाल-बेहाल था, कपडे फट रहे थे, शरीर घायल था, बाल बढ रहे थे, भूखा था।

पादरी उसे लेने गये। बहुत स्नेह के साथ उसे अन्दर लाये, उसकी सेवा-सुश्रूषा की, भोजन कराया। अत्यन्त स्नेह के साथ उसका हाल चाल पूछा और जीवनभर उसे स्नेह से रखने की बात कही।

जब लोक मे सामान्य व्यक्तियो मे सब मे वात्सल्य-भाव मौजूद है, तो जो वात्सल्य भाव एक सम्यग्दृष्टि मे होता है उसकी तो सीमा ही नही है। वात्सल्य-भाव, केवल शब्दो के उच्चारण मात्र से नही आता। वात्सल्य-भाव स्वय मे अतिमूल्यवान है। वात्सल्य के बिना सम्यग्दृष्टि नही हो सकती। वात्सल्य कोई व्यक्तिगत रूप मे सीमित नही है, यह व्यापक है, इसमे किसी प्रकार की कांक्षा नही होती। धर्मी को 'गौ-वत्स' शब्द से भी अभिहित किया गया है। गाय बिना-भेद भाव के सबको समान रूप मे, वात्सल्य-भाव से दूध प्रदान करती है, वैसे धर्मी भी सबके प्रति वात्सल्य-भाव रखता है।

अमेरिका मे एक व्यक्ति गायें पालता था। उसका दूध पीता था, बेचता था। बाद मे उनको मार देता था और उनका मास बेच देता था। एक बार एक गाय को मारने के लिये शस्त्र ले कर गया तो वह गाय उसे वात्सल्य से चाटने लगी। उस व्यक्ति के मन मे तत्काल विचार आया—कि यह पशु होकर मुझसे इतना स्नेह, वात्सल्य करती है और मैं इसे मारना चाह रहा, हूँ। धिक्कार है मुझे, मैं तो पशु से भी निकृष्ट हो गया हूँ। उसी क्षण मे उसने वह व्यवसाय त्याग दिया।

गायो मे, निष्काम वृत्ति है—इसीलिये गाय की चर्या का बहुत महात्म्य है। इसीलिये गाय की चर्या को साधु की चर्या के साथ जोडा गया है। साधु का आहार-चर्या को 'गोचरी' कहा है अर्थात् जैसे गाय चरती है—वैसे ही साधु भोजन करते है। गाय घास चरती है तो ऊपर-ऊपर से, वह घास की जडे नही खोदती, भैंस घास चरती है तो वह जड़ सहित उखाड लेती है। गाय पानी पीती है तो तालाव नदी के किनारे खडी होकर और भैंस पानी मे घुस कर पीती है। गाय की वृत्ति सात्विक है इसलिये उदाहरण उसी का दिया गया है। आचार्य जिनसेन ने महापुराण मे पृ० १४१-१४३ पर कहा है कि प्रणाम भी गौ-आसन से करना चाहिये। जैसे गाय घास देने वाले के रूप-गुण-आभूषण आदि को न देखकर केवल घास को देखती है उसी प्रकार साधु को भी आहार करते समय केवल हाथ के ग्रास की ओर दृष्टि रखनी चाहिये, अन्य बाह्य वस्तुओ की ओर नही। इस प्रकार हम देखते हैं कि गाय के गुणो को साधु की चर्या के साथ, नमस्कार विधि के

साथ, वात्सल्य-भाव के साथ जोडा है। गाय के अन्य गुण छोडकर केवल **वात्सल्य-भाव ग्रहण करने पर ही धार्मिक कहला सकेंगे अन्यथा नहीं। वात्सल्य-भाव के अभाव मे तो मनुष्य-मनुष्य भी नहीं कहला सकेगा, नागरिक भी नहीं कहला सकता।**

मूलाचार ग्रथ मे लिखा है कि रत्नो मे हीरा श्रेष्ठ है वृक्षो मे चन्दन पशुओ मे गाय व धर्म मे अहिंसा श्रेष्ठ है। अहिंसा की छत्र छाया मे ही प्राणी जी सकता है। हिंसा मे नही जी सकता। अहिंसा की गहनता के बारे मे भारत के प्रत्येक कवि, साहित्यकार, पडित सभी ने गीत गाये हैं, चाहे अहिंसा का पालन न किया हो। बनारस के भारतेन्दु कवि की एक कविता के भाव हैं कि हे भगवान्! सब सम्प्रदायो को कोई न कोई सिद्धान्त दिये पर हमको यह अहिंसा का सिद्धान्त क्यो नही दिया, यह दूसरे धर्मवालो को क्यो दे दिया, जिसके कारण सब जीवो को जीने का अधिकार मिलता है। कर्नाटक के सर्वज्ञ नामक कवि (जो कि ब्राह्मण हैं) ने अहिंसा पर एक कविता लिखी है जिसके भाव है—

"यदि किसी ग्रन्थ मे ऐसा उल्लेख हो कि हिंसा करनी चाहिये, तो वह शास्त्र चूल्हे मे फूंकने लायक है और जिस ग्रन्थ मे अहिंसा का वर्णन है तो वह ग्रन्थ सिर पर रखने योग्य है।" **धर्म मे से वीतरागता, अहिंसा को निकाल दें तो उस धर्म की स्थिति उसी प्रकार की होगी जैसी देह मे से सिर निकालने पर देह की रहती है।** धर्म-अहिंसा सबके मूल मे वात्सल्य-भाव है। माँ बच्चे को कोई उद्दण्डता करने पर पीटती है पर उसके हृदय मे कोई दुर्भावना नही होती, वह पिटाई भी उस बच्चे की भलाई की भावना से, वात्सल्य से करती है। कपडे को पीटते हैं—उसको साफ करने के लिये, उसका मैल हटाने के लिए, वैसे ही माँ वात्सल्य-भाव से अपने बच्चे के दुर्गुण हटाने के लिये पिटाई करती है। वात्सल्य-भाव समाज को एक सूत्र मे बाधने हेतु है। अलग-अलग मोती बिखर रहे हो तो वह माला नही कहला सकती, उन मोतियो की माला बनाने के लिए एक सूत्र चाहिये। इसी प्रकार वात्सल्य, उपगूहन आदि अग मोती हैं, इनको आचरण के सूत्र मे परस्पर पिरोने से माला बनेगी।

सम्यग्दर्शन के आठ अग की आचार्य कुन्दकुन्द ने आध्यात्मिक रूप से विवेचना की है और रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे सामाजिक दृष्टि से विवेचना की गई है। सब सिद्धान्तो को मनन करके समझना चाहिये। हमारे यहाँ

'रथ' का आत्मा वाचक अर्थ मे प्रयोग किया है। रथ मे 'जीवित प्राणी' बैठते है, इसी रथ से 'अरथी' शब्द बना है। अ + रथ अर्थात् जिसमे जीवित प्राणी न हो, निषेधात्मक अर्थ मे अर्थी का प्रयोग किया है। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—ज्ञान रूपी रथ मे बैठकर, मनरूपी मार्ग पर चलाओ। हम 'मनोरथ' शब्द का प्रयोग करते हैं—उसका अर्थ इष्ट वस्तु की प्राप्ति है। इस प्रकार ज्ञान रूपी रथ मे आरूढ हो मन रूपी मार्ग पर चलाओ, मार्ग से विमुख होने पर दुर्घटना की सभावना रहती है। आचार्य ने कहा है कि जो **चैतन्य आत्मा को ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ कर मन रूपी मार्ग पर चलाता है, एक क्षण के लिये भी नहीं भटकता, ज्ञान रथ से पृथक् नहीं होता, उसी की आत्मा मे जिनेन्द्र भगवान् की प्रभावना होती है, वही सम्यग्दृष्टि होकर मुक्तिगामी होती है।**

समन्तभद्र स्वामी ने 'रथ' की प्रभावना को व्यवहारिक रूप से समझाया और कहा कि—केवलज्ञान रूपी रथ मे बैठने से पूर्व प्राणी को सम्यग्ज्ञान रूपी रथ मे बैठना होगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने आत्मा' की दृष्टि से समझाया है। जो स्वय ज्ञान रथ मे बैठा होगा वह अज्ञान की, लौकिक दु खो आदि की बात कैसे कर सकता है ?

ज्ञान–हीन मनुष्य पशु–समान है। लौकिक व्यवहार मे भी हम कहते हैं कि 'ज्ञान की बात करो', अर्थात् वह मार्ग से भटक रहा है, अत उसे कहते हैं कि ज्ञान की बात करो। दीपक साथ होते हुये भी दुर्घटना हो जाये, वह दीपक किस काम का ? 'पाणु कुरवेण दीपेन'। ज्ञान होते हुये भी गढ्ढे मे गिर जाये—पथ भ्रष्ट हो जाये तो वह ज्ञान–ज्ञान नही है। जो मार्ग से भटक गया है, वह कैसे इष्ट स्थान पर पहुँच सकता है ?

अपने किसी स्वार्थवश कोई व्यक्ति पहले राजा को जानता है फिर उसकी सेवा करता है। इसी प्रकार पहले जीव राजा को जानो फिर उस पर श्रद्धा करो। विना ज्ञान के श्रद्धा स्थिर नही रह सकती। श्रद्धा जितनी शीघ्र उत्पन्न होगी उतनी ही शीघ्र समाप्त भी हो जायेगी। खरीदार जिस वस्तु को खरीदना चाहता है उसे भी पहले वस्तु का ज्ञान होता है तव खरीदता है। स्वर्ण चाहने वाला स्वर्ण को जानेगा—पहचानेगा तभी खरीदेगा, नही तो सम्भव है कि स्वर्ण के वदले पीतल खरीद ले। विना ज्ञान के अध श्रद्धा भी हो सकती है। वलि मे धर्म समझना अध श्रद्धा है। इसलिये कुन्दकुन्दाचार्य ने पहले ज्ञान को

सर्व प्रथम स्थान दिया। जव लौकिक जगत् मे भी कुछ खरीदते हैं तो पहले उसका ज्ञान होता है, तभी खरीदते हैं तब तीन लोक मे पूज्य उस आत्मा की प्राप्ति, बिना ज्ञान के केवल श्रद्धा से कैसे प्राप्त कर सकते हैं ?

देवागम ग्रन्थ मे समन्तभद्राचार्य ने लिखा है कि बहिरग चमत्कार धर्म नही है, चमत्कार क्षणिक है। भगवान् है, धर्म है, पर वह शक्तिशाली है, विध्वसक नही, उपद्रवी नही। जिसकी ज्ञान ही क्रिया और वीतरागता ही स्वभाव है उसी को मैं भगवान् मानता हूँ। वीतरागता सिद्ध कुजी है। 'सिद्ध कुजी' का अर्थ है वह चावी जिससे सब ताले–तिजोरियाँ खुल जायें, प्राचीनकाल मे ऐसी चावियाँ होती थी, ऐसा उल्लेख है। **वीतरागता भी ससारी आत्मा के लगे हुये मोह–ताले को खोलने वाली एक मात्र सिद्ध कुजी है, सबके लिये बिना भेद-भाव के, छोटे बडे, अमीर–गरीब सबके लिये मोक्ष-मार्ग की यही एक चावी है।**

धर्म आत्म–कल्याण के लिये है, शरीर रचना से वह वधित नही है। मेढक, तिर्यच गति, साथ मे पूजा के लिये आठ–द्रव्य भी नही, समवशरण मे पहुँचा भी नही, फूल चढाया भी नही, भक्ति के कारण, भावो के कारण वह स्वर्ग पहुँच गया। **वीतराग धर्म मे तिर्यंचो के लिये भी आत्माधिकार है।** यहाँ शरीर के अधिकार की लडाई नही, चैतन्य अधिकार की वात है। उस मेढक के पास आत्मा की आवाज थी, आत्मा की भावनायें थी इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने उसे **'महानुभाव'** शब्द से सम्बोधित किया है, उसकी आत्मा को सम्वोधित किया है।

एक व्यक्ति शीघ्रता से कही जा रहा था। रास्ते मे एक नर-मुडी पडी थी। वह व्यक्ति उससे टकराकर गिर गया। उस नर-मुड पर वह बहुत क्रोधित हुआ। उस समय उस नर-मुडी मे से आवाज आई–अरे, मेरा भी तेरे जैसे सुन्दर रूप था, तेरे गुलाव जैसे गालो से ही गाल थे। आज जो हालत मेरी हुई है, कल तेरी भी यही हालत होगी। मेरे आँखें होती तो मैं एक ओर हो जाता, पर तेरे तो आँखें थी, तू ही थोडा बचकर जाता। मानव को कभी दुरभिमान नही करना चाहिये, विनम्रता नही छोडनी चाहिये। यह धर्म तरण–तारण है। कौन किसको सम्यग्दृष्टि कहे, किसको मिथ्यादृष्टि कहे, इसको नापने का कोई वाह्य–मापक नही। **कुन्दकुन्दाचार्य ने** समयसार–प्रवचनसार मे **आत्मा को 'अलिङ्गग्रहण' कहा है, इसका कोई बहिरङ्ग चिह्न नहीं है।** तीर्थंकर ने जो व्यापक दृष्टि दी है उसको नही छोडना

चाहिये, हम उनके अनुयायी ही व्यापक दृष्टि नही रखेंगे तो कौन रखेगा ? सम्यक्दृष्टि, सकीर्णता से दूर, विशाल दृष्टिवाला होता है, वह सबके कल्याण की बात करता है, इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने इसे 'सर्वोदय तीर्थ' कहा। भगवान् ! आपका तीर्थ सबके उदय के लिये है। एकेन्द्रिय वृक्ष भी उपकार करता है तो पचेन्द्रिय मनुष्य को किसी के प्रति छोटी दृष्टि नही रखनी चाहिये, उसे विशाल, परोपकार दृष्टि रखनी चाहिये। उमास्वामी ने परोपकार का महात्म्य समझकर कहा है 'परस्परोपग्रहो जीवाना', उन्होने प्राणीमात्र के लिये सूत्र बनाया। धवला, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गोम्मटसार आदि सभी ग्रथो मे परोपकार के बारे मे कहा है। उपकार जैसी कोई बात नही होती तो आचार्य कैसे ये सूत्र बनाते तथा ग्रथ प्रदान कर कैसे उपकृत करते ? धर्मात्मा मे परोपकार की भावना होती है, उपकार दूसरे पर नही स्वय पर कर रहा है। हाथ मे लाठी लेकर चलते हैं, गिरने से बचने के लिये, हम लाठी पर उपकार नही कर रहे, वह लाठी हम पर उपकार कर रही हैं। धर्मात्मा स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भावना रखता है। भगवती आराधना मे कहा है कि स्वहित मे भी परहित निहित है। स्वय के लिये निर्मित मन्दिर, ग्रथ हजारो लोगो के लिये लाभकारी सिद्ध होते है। हमे एकागी, एकान्त दृष्टि को छोड व्यापक दृष्टि के साथ जीना चाहिये। व्यापक दृष्टि–युक्त प्राणी ही सम्यग्दृष्टि हो सकता है। वीतराग व समताभाव, पुस्तक पढने से नही आता, पुरुपार्थ से स्वय की आत्मा मे प्रकट होगा। केवल क्रिया काड से समताभाव नही आ सकता। ग्रथ के पन्ने पलटने से कागज जीर्ण हो गये पर कर्म जीर्ण नही हुये। बाजार से चावल खरीद कर चढावे उससे सम्यग्दृष्टि खरीदना चाहे, क्या यह सम्भव है ?

समता भाव स्व-साध्य है, प्रयत्न करना अपने हाथ मे है।



ज्ञान आत्मा में है, शास्त्रों में नहीं...........

जो आत्मा की आराधना छोडे वह अपराधी है । अपराध व प्रतिक्रमण साथ-साथ नही चल सकते । मोक्षार्थी के लिये क्रियाकाड को छोडकर शुद्धआत्माराधना मे लीन होना सर्वोपरि है ।

आत्मा का भोजन तो ज्ञान है "ज्ञानमृत भोजन" । ज्ञान आत्मा मे है, शास्त्रो मे नही । आत्मा मे ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग सदा प्रवाहमयी है । स्वदोष-शमन से ही जल जैसी प्रवाहमय शीतलता होगी ।

विना पुरुषार्थ, भक्ति व श्रद्धा के मन्दिर मे जाना लाभप्रद नही है । ज्ञान है, पर उसके अनुसार क्रिया-आचरण नही है तो वह उपयोगी नही है । ससार व बध मे कारण है 'मोह और निर्जरा का कारण है 'निर्मोह' । निर्मोही 'अल्प-ज्ञान' भी कीमती है, मोह-सहित अथाह ज्ञान की भी कोई कीमत नही है ।

आर्ष मार्ग के अनुसार शास्त्रों का अवलोकन अध्ययन उचित दृष्टि देने मे समर्थ है । अक्रम-वद्ध किया हुआ अध्ययन मनुष्य को इष्ट स्थान मे नही ले जा सकता । समयसार का नवा अध्याय है 'मोक्षाधिकार', इसमे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि प्रतिक्रमणादि विषकु भ है तथा अप्रतिक्रमणादि अमृतकु भ हैं । यह मोक्षाधिकार है, इसका उद्देश्य है, आत्मा मे ही, आत्म-आराधना मे ही रत रहो क्योंकि इस अधिकार मे मुमुक्षु-दृष्टि से विचार किया गया है । मोक्ष प्राप्ति के लिये शुद्धोपयोग आत्म-आराधना की श्रेणी ही उपयोगी है । आख खोल कर वैठ गये तो झझट ही झझट है । इसलिये वाह्य-क्रियायें विषकुम्भ है,

क्रियाकाड मोक्ष मे पहुचाने मे सक्षम नही है। **मोक्षाधिकार मे पहुचने पर फिर उसी के अनुसार क्रिया करनी होगी। जिस कक्षा मे बैठे हो उसी के अनुसार परिश्रम व क्रिया, करनी होती है, तभी सफलता प्राप्त होती है।** तो जो जीव, अजीव, आस्रव आदि के अधिकार से मोक्षाधिकार मे पहुच गया तो उसी के अनुसार क्रिया करनी होगी। आचार्य कहते हैं कि जब तक इष्ट की सिद्धि नही हो तब तक अपने मे ही लीन बैठे रहो जैसे भगवान बाहुबली बैठे थे। प्रतिक्रमण भी करते रहे और उसके साथ अपराध भी करते रहे तो ससार शृ खला का अन्त नही। इसलिये आत्माराधना मे लीन रहे, पर इसका तात्पर्य यह नही है कि निचली श्रेणी मे भी पूजा पाठ प्रतिक्रमणादि न करें। जैसे नीची क्लास मे रहकर ऊपर की क्लास की भावना रखते हैं नीची क्लास मे उसी क्लास की शिक्षा भी ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार आत्माराधना की प्रारम्भिक श्रेणियो मे पूजा पाठ प्रतिक्रमणादि करना चाहिए। यदि नाव मे ही बैठे रहेगे तो नदी मे इधर उधर ही घूमते रहेगे, किनारे लगकर नाव का आश्रय छोड देना चाहिये। मोक्षार्थी के लिये क्रियाकाण्ड को छोड शुद्ध-आत्माराधना मे लीन होना सर्वोपरि है। निर्मल, निरपराध शुद्ध आत्मा ही आराधना मे लीन होता है। इसलिये आचार्य कहते हैं कि प्रतिक्रमण ही अन्तिम लक्ष्य नही है, क्या इसी श्रेणी मे रहना है? प्रतिक्रमण से ऊपर उठो। अच्छे व्यसनो को भी छोडो। एक पढा-लिखा व्यक्ति स्लेट से पढना नही चाहता, वह स्लेट का साथ छोड देता है। इसी प्रकार मोक्षार्थी प्रतिक्रमणादि का साथ छोड आत्माराधना मे लीन होता है।

गृहस्थी अपराध भी करता रहे और प्रतिक्रमण भी करता रहे यह उचित नही, अपराध व प्रतिक्रमण साथ-साथ नही चल सकते। एक म्यान मे दो तलवारे कैसे रह सकती है? अपराधादि विषकुम्भ है इनको छोडना होगा। जैसे हाथी स्नान करके वापिस धूल-धूसरित हो जाता है वैसे ही हम भी अपराध करते रहे पूजा करते रहे तो कोई लाभ नही है यह सिलसिला अन्तहीन है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है "ससिद्धिराधसिद्ध' समयसार (६/१७) मे 'राध' शब्द का अर्थ है शुद्ध आत्मा-आराधना मे निरतर लीन रहना। जो **आत्मा की आराधना छोडे वह अपराधी है। अप + राध = अपराध।** जितने अश मे आत्मा से रुचि बढेगी उतनी ही सम्यग्दृष्टि बढेगी और जितनी बहिरग मे रुचि बढेगी उतनी ही मिथ्या-दृष्टि बढेगी। हम भरत चक्रवर्ती का उदाहरण देते हैं, क्यो? क्योकि वे गृहस्थी की सारी क्रियायें करते थे, किन्तु आत्मा-

राधना को नही छोडते थे। एक वार वे अतिथि सविभाग के लिए द्वार पर खडे थे। गोचरी के लिए आये दो चारण ऋद्धिधारी मुनिराज को उन्होने पडगाहा और उन्हे महल के अन्दर लिवा ले चले। महल बहुत विशाल था, कभी इधर से गुजरे कभी उधर से गुजरे, कभी नीचे उतरना पडा, कभी ऊपर चढना पडा, तव आहार व्यवस्था वाले कमरे मे पहुचे। तव भरत चक्रवर्ती बोले मुनिराज! ये महल जिसमे मैं रहता हू यह इतना टेढा है तो ससार कितना टेढा होगा? आज आपके पधारने से मेरा मन सरल हो गया। महाराज! आप तो ज्ञानामृत का भोजन करने वाले हैं। इस भौतिक जगत के भोजन मे आपको आनन्द ही नही आ रहा होगा। मैं आपको क्या खिलाऊँ?" मुनिराज के आहार के पश्चात् जव भरत चक्रवर्ती स्वय भोजन करने बैठे तो भोजन करते समय गरदन झुका आख वन्द कर कुछ सोचने लगे। सवने समझा कि राजा को नीद आने लगी है। जव राजा ने आख खोली तो परिजनो ने कहा क्या नीद आने लगी थी? भरत चक्रवर्ती ने जवाव दिया नही! मैं यह विचार कर रहा था कि **यह भोजन तो शरीर के लिये हैं, आत्मा का भोजन तो ज्ञान है 'ज्ञानामृत भोजन'**, अर्थात् वे आत्माराधना नही भूलते थे। आराधना जिसका एकाग्र लक्ष्य है वह सिद्धि से ससिद्धि तक उसे नही छोडता।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया कि— लक्ष्य कैसे वनाया जाये? यह कैसे सभव हो कि उस लक्ष्य से भटका नही जावे? उस व्यक्ति को दूसरे दिन किसी ने भोजन पर आमन्त्रित किया। थाली मे नाना तरह के व्यजन, अनेक विशिष्ट व्यजन परोसे और भोजन के लिये वैठा दिया, साथ मे कहा कि देखो भाई यह तुम्हारे ऊपर एक तलवार घोडे के वाल से बाध रखी है, ध्यान रखना कि नीचे न गिर जाय। उस व्यक्ति ने भोजन कर लिया। तब मेजवान ने पूछा क्यो भाई! भोजन कैसा लगा? मेहमान ने कहा—"कैसा भोजन! कौनसा-भोजन! मुझे तो कोई आनन्द नही आया। मेरा तो ध्यान उस तलवार पर अटक रहा था, कही यह गिर नही जाये!" इसी तरह आत्मार्थी ससार के कार्य करते हुये भी उसमे लिप्त नही होते।

इस ससार, पापादि मे डूव नही जाये इसके लिये (पाप से वचने के लिये) आत्मा का ध्यान जरूरी है। सूत्रपाहुड मूलाचार मे कहा है कि— सुई वहुत छोटी होती हैं, यदि उसमे धागा वधा हो तो वह गुम नही होती। इसी प्रकार इस आत्मा के धर्म ध्यान का सूत्र साथ लगा हो तो ससार मे अधिक भटकेगा नही उसे शीघ्र ही इष्ट की प्राप्ति हो जायेगी।

एक वुढिया थी, वह सिलाई कर रही थी। सिलाई करते समय उसकी

सुई गिर गई, वहुत ढू ढा, सध्या हो गई पर सुई नही मिली। इतने मे एक व्यक्ति वहा आया और वोला—क्या ढू ढती है माई ? वुढिया वोली मेरी सुई गिर गई वह ढू ढती हूँ। वह व्यक्ति वोला तो अधेरे मे क्या ढू ढती है, रोशनी मे ढू ढ, यह कह वह व्यक्ति चला गया। वुढिया उस व्यक्ति के कहे अनुसार झोपडी के वाहर रोशनी मे ढू ढने लगी, पर सुई तो नही मिली। इतने मे एक दूसरा व्यक्ति आया और वोला माई क्या ढू ढती है ? वुढिया वोली—वेटा सुई गिर गई थी, वही ढू ढती हू। वह व्यक्ति वोला—सुई कहाँ गिरी थी ? वुढिया ने वताया कि सुई तो झोपडी मे गिरी थी। जव झोपडी मे सुई गिरी थी तो वाहर कैसे मिलेगी ? वुढिया वोली—तो पहले आने वाले व्यक्ति ने कहा रोशनी मे ढू ढ, इसीलिये मैं रोशनी मे ढू ढ रही थी। वुढिया को ढू ढना तो रोशनी मे ही चाहिये, पर जहाँ गिरी है वही पर रोशनी करेगी तव ही तो खोई हुई सुई मिलेगी, जहाँ सुई है ही नही, गिरी ही नही, वहाँ कैसे मिलेगी ? **हम भी उस वुढिया की भाति अपनी आत्मा को शास्त्रो मे ढू ढते हैं। आत्मा अन्तर मे है, रोशनी—ज्ञान आत्मा मे है, शास्त्रो मे नहीं। शास्त्र तो इसको प्रकाशित करने के प्राप्त करने के, साधन हैं।**

आत्माराम के लिये कही भी बैठकर क्षणभर के लिये ही सही, विकृत व नीच-विचार मन से दूर कर, यह ध्यान कर कि कही अशुद्ध मे तो परिणति नही हो रही है, लीन हो जाना चाहिये। प० टोडरमलजी ने कहा है कि—(रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे) एक व्यक्ति कुछ भी क्रिया नही कर रहा पर आत्मा-परमात्मा की वात अत्यन्त श्रद्धा, रुचि के साथ सुन रहा है, शर्त है केवल श्रवण नही अत्यन्त श्रद्धा व रुचि भी साथ है, तो वह 'भव्य' है, भावी मोक्षगामी है। प्रगाढ श्रद्धा, रुचि भविष्य मे मोक्षप्रदाता है। जो प्रतिदिन जिनेन्द्र-भगवान के दर्शन-पूजन, भक्ति करता है वह आसन्न-भव्य है। 'भव्य' नही होते तो भगवान की पूजादि मे मन ही नही होता। नेमिचन्द्राचार्य ने यह वात कही कि जो प्रतिदिन जिनेन्द्र भगवान की पूजादि करता है वह आसन्न भव्य है, अन्यथा उसकी रुचि हो ही नही सकती थी, देव-दर्शन की भावना जागृत ही नही हो सकती थी।

प० दौलतरामजी ने छहढाला मे कहा है—पशु, नर, नारक, सुर—सभी गतियो मे मैं भ्रमण कर आया हू। अव काललब्धि आयी है तो आपके चरणो मे आया हूँ। मन्दिर मे झाडू मारने की नौकरी मिल गई हो पर **बिना पुरुषार्थ, भक्ति व श्रद्धा के मन्दिर मे जाना लाभप्रद नहीं है।** जैसे विभिन्न व्यापारादि से पैसा कमाना ही ध्येय होता है उसी प्रकार, माला, स्वाध्याय, ध्यान, भजन, धर्म-भक्ति के पीछे कोई आकाक्षा नही, वीतराग-भाव है तो ये मोक्ष

के कारण हैं। विषापहार स्तोत्र मे कहा है कि कोई माला जपता है, कोई कीर्तन करता है। सवको फल प्राप्त करना है, जैसे कि एक ही पेड से, अलग-अलग साधनो से (कोई पेड पर चढकर, तो कोई लकडी से, कोई पत्थर से तोडकर) फल प्राप्त करते हैं। पर इन सव क्रियाओ मे एकाग्रता होनी चाहिये, चितन होना चाहिये। आ० पूज्यपाद ने कहा है कि—श्रवण किये हुये सिद्धान्तो को अनुभव प्रतीति की दृष्टि से आत्मा के साथ सतत जुडाये रखना चाहिये। अग्नि पर दूध रखते हैं तो आंखो का सम्बन्ध उसके साथ जोडकर रखते हैं कि कही उफन न जाये। आचार्य कहते है (सलिल-शान्तिक चैव) हे भगवन्! आपने पूर्ण शीतलता प्राप्त करली है। जल भी शीतल गुण युक्त है। मैं भी आपकी जैसी पूर्ण शीतलता प्राप्त करना चाहता हू, उस पूर्ण शीतलता के प्रतीक का मैं जल चढाता हूँ।

जल का स्वभाव शीतलता है, यह शीतलता कभी समाप्त नही होती, नष्ट नही होती,। जल गर्म होने पर भी अग्नि पर डालते है तो अग्नि वुझ जाती है, इसका तात्पर्य है कि उसमे शीतलता अभी भी है। ऐसे ही जीव नाना रग-रागादि मे डूबने पर भी अपना स्वभाव नही छोडता अन्तर केवल व्यक्त, अव्यक्त व पूर्णता का है।

'अप' शब्द जलवाचक है, जैनशास्त्रो मे 'अप' 'अप्पा' शब्द को आत्म-वाचक अर्थ मे प्रयुक्त किया है। यह जैनो का परिभाषिक शब्द है क्योकि **जैसे जल सदा प्रवाहमय है वैसे ही आत्मा ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग से सदा प्रवाह-मय रहता है**। इसीलिये जिनेन्द्र भगवान के अभिषेक के समय— जल निर्वपा-मिति स्वाहा' कहते हैं कि जल चढाने से स्वदोष शान्त हो जायें और अन्तरग मे जल जैसी शीतलता उत्पन्न हो। परन्तु केवल जल चढाने से शाति नही मिलेगी। समन्तभद्राचार्य ने कहा कि—जब अन्तर के स्वदोष शात हो जायेगे तभी आत्मा में जल जैसी प्रवाहमय शीतलता उत्पन्न होगी। स्वदोष शमन से ही शाति-स्वच्छता आयेगी।

राहुल साकृत्यायन ने अपने एक लेख में लिखा है कि—राजकुमार महावीर राजमहल में बैठे थे। तभी सिह सेनापति वहा आये। वे वहुत चिन्तित दिखाई दे रहे थे। राजकुमार महावीर ने पूछा – तुम कैसे चिन्तित हो रहे हो? सिह सेनापति ने कुछ कारण वताया और कहा कि तुम्हारे वचनो से कुछ शाति मिलेगी। राजकुमार महावीर ने कहा—मेरी वाणी से नही, तुम्हारे अन्तरग की स्वच्छता से ही शाति प्राप्त होगी।

स्व-दोष शमन से ही शाति प्राप्त होगी। जल चढाना तो द्रव्य पूजा है। द्रव्यपूजा के साथ भावपूजा भी आवश्यक है। जब अपने भावो पर विजय प्राप्त कर लेंगे तभी शाति प्राप्त होगी। अपने मूल-भावो-परिणामो को प्राप्त कर उसी मे लीन रहू, यही भावना होनी चाहिये। ज्ञान होना व स्वरूप मे लीन होने मे अन्तर है। क्रोध आ रहा है तो वह जान रहा है कि क्रोध आ रहा है पर उसे छोड नही पा रहा। शराब पीने वाला जानता है कि शराब हेय है, त्याज्य है, हानिकारक है, पर फिर भी उसको छोड नही रहा। इसलिये ज्ञान के साथ-साथ स्वरूपाचरण, चारित्र को भी अत्यन्त महत्त्व दिया है। स्व-भाव मे लीन न होने पर ज्ञान कितना ही हो वह उपयोगी नही है। ज्ञान है पर उसके अनुसार क्रिया आचरण नहीं है तो वह उपयोगी नहीं। ज्ञान व क्रिया मे अन्तर है। जहाँ क्रिया है वहा तो ज्ञान है पर यह आवश्यक नही है कि जहाँ ज्ञान हो वहाँ क्रिया हो ही। गणेश प्रसादजी वर्णी ने कहा है— गल्पवादी मे क्रियावादी अच्छा है क्योकि वह मार्ग मे लग गया है। तट पर बैठकर नदी की तरगे गिने, कल्पनायें करे कि मैं ऐसे निकल जाऊँगा, ऐसे तैरूगा वह तट पर ही बैठा रहेगा और जो कूदकर तैरेगा वह नदी पार कर जायेगा। अल्प ही सही पर प्रामाणिक क्रिया है तो वह उपादेय है।

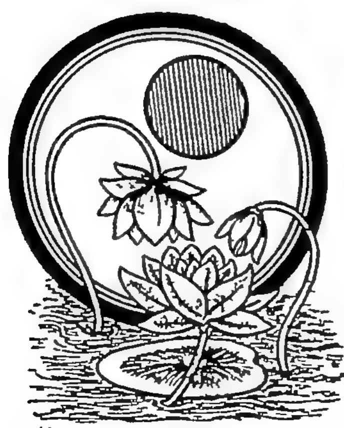
प्रमेय कमल मार्तण्ड मे कहा है— दो छात्र विद्याध्यन के लिये आये। गुरु ने पूछा कैसी शिक्षा ग्रहण करना चाहते हो? एक ने कहा—'दुर्जय' कठिन से कठिन, दूसरे ने कहा 'सुलभ' अत्यन्त सरल शिक्षा चाहता हू। आचार्य ने कहा दोनो ही उपयुक्त नही है। कैसे? आचार्य बोले—एक रोगी वैद्यजी के पास गया और बोला वैद्यजी मुझे तत्काल ठीक कर दो। वैद्यजी ने कहा कि— जाओ एक हजार वर्ष पुराने नागराज को ढूढो और उसके मस्तक से मणि निकाल कर अपने सिर पर रखलो तत्काल ठीक हो जाओगे। सर्पराज को ढूढना फिर उसके मस्तक से मणि निकालना अत्यन्त कठिन है, जब तक सर्प को ढूढेगा तब तक तो रोगी ही मर जायेगा। वैद्यजी ने अत्यन्त सरल उपाय बताया जाओ कौवे के दात गिनो। कौवे के दात ही नही होते तो गिने क्या? अत तात्पर्य यह है कि दुर्जय कठिन के नाम मे अप्राप्य की बात व सरल-सुलभ के नाम मे अर्थ की बातें अर्थहीन है, व्यर्थ हैं। मार्ग ऐसा होना चाहिये जिसमे तत्त्व भी हो और आत्मा को लाभ भी हो।

ससार का कारण अल्पज्ञान नही है, बध का कारण अल्पज्ञान नही है, निर्जरा का कारण अधिक ज्ञान नही है। ससार व बध मे कारण है 'मोह' और निर्जरा का कारण है 'निर्मोह'। अल्पज्ञानी भी 'निर्मोही' हो तो वह मोक्ष

जा सकता है, पर वहुत वडा ज्ञानी भी मोही होगा तो वह ससार मे ही भटकेगा, मोक्ष मे नही जा सकेगा। अष्टपाहुड मे कुन्दकुन्द देव ने कहा है कि तुप-मास के अल्पज्ञान के साथ मोह-विहीनता से शिवभूति मोक्ष चला गया। ज्ञान की कीमत तभी है जव मोह कम हो।

भगवान महावीर के समवशरण मे गौतम के गणधर वनने पर मक्खलगोशाल ने सोचा कि वेद-वेदात का ज्ञाता गौतम को तो गणधर वनाया पर मैं नौ पूर्व का ज्ञाता, मुझे गणधर नही वनाया। इसका मतलव है कि अज्ञान से मोक्ष मिलता है ज्ञान से नही और उसने इसी मत का प्रचार किया। जवकि निर्मोही मोक्षमार्ग है, मोही ज्ञानी होने पर भी मोक्षगामी नही है। ज्ञान थोडासा भी हो पर मोह रहित हो। एक छोटी सी अग्नि की चिनगारी (सूखी) रूई के ढेर पर पडती है तो उसे भस्म कर देती है पर गीली लकडी पर पडती है तो वुझ जाती है, इसी प्रकार मोह से गीली आत्मा पर ज्ञान कुछ असर नहीं करेगा, पर मोहरहित आत्मा होगी तो वह अल्पज्ञान भी मोक्ष का कारण वन जायेगा।

ज्ञानार्जन करने मे, शव्दो का भण्डार भरने से कुछ नही होगा यदि मोह का नाश न हुआ तो, निर्मोही-ज्ञान की कीमत है, मोह सहित अथाह-ज्ञान की भी कोई कीमत नहीं है।



पराधीन सपनेहु सुख नाहीं

कमिया, दोप सबमे है, कम या अधिक, व्यक्त या अव्यक्त। जिनके दोप व्यक्त हुये उन पर कानून के द्वारा मुकदमा चलता है। मनुष्य जन्म से गुणवान् है, सस्कार करते रहने से वह महापुरुप, महात्मा वन सकता है। मन ही बुराईयो की जड है तो मन ही वुराई दूर करने का साधन है।

आजादी के वाद हमने अधिकारो का ज्ञान तो कर लिया पर कर्तव्यो का ज्ञान नही किया।

कितनी भी सुविधाये हो पर वधन तो आखिर वघन है। जो अपराध हो गया उसका प्रायश्चित कीजिये। अपनी आत्मा पर, भगवान पर विश्वास कीजिये। स्वर्ग भी आपके हाथ मे है, नरक भी आपके हाथ मे है।

मादक वस्तुओ का सेवन मत कीजिये, ये वुराई की जड है।

यह ससार अनादि है। सब वस्तुयें अनादि है चाहे वे काटे हो चाहे फूल हो, चाहे ककर हो। पशु-पक्षी, कृमि-कीट, हाथी-घोडा जो भी जन्म लेते है वे खाते हैं, पीते हैं और मृत्यु की गोद मे सो जाते हैं। जो जन्मा है वह मरेगा। जव आयु खत्म होने को आयेगी तो उसे कोई नही रोक सकेगा।

भारत धर्म प्रधान देश है। इतिहासकारो ने भारत का जो इतिहास लिखा है उससे ज्ञात होता है कि भारत मे ऐसा भी युग था जव लोग घरो मे

ताले नही लगाते थे। मेगस्थनीज ने अपने चौसठ अध्यायी ग्रन्थ मे चार छ अध्यायो मे भारत का वर्णन किया है। उसमे लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य मे जनता को चोरी की आदत नही थी।

हम जब हिमालय मे गये थे तब वहा देखा कि वहा के लोग भी अपने घरो मे ताले नही लगाते थे। छोटे छोटे बीस-पच्चीस घरो के गाव थे। शायद वे ताले इसलिये न लगाते हो कि उनके पास कोई वैभव नही था, तो भी अन्न, कपडा, कुछ रुपये पैसे तो होते ही है। वहा के लोग कहते थे कि—जब तक हमारे गाव बस सेवा से जुडे हुये नही थे तब तक चोरी का नाम नही था, तब हम मुख्य सडको पर स्थित दुकानो पर भी ताले नही लगाते थे, केवल पशुओ से उनकी सुरक्षा हेतु रस्सी आदि से कुण्डी को बाध देते थे।

एक भारतीय व्यक्ति बल्ब बनाने की तकनीक जानने हेतु जापान गया। वहा उसने एक बहुत कीमती घडी खरीदी। एक दिन वह किसी कार्यवश बाहर गया हुआ था। वहा एक रेस्टोरेन्ट मे उसने जलपान किया। लौटकर जब वह अपने कार्यालय मे आया तो ध्यान आया कि वह घडी रेस्टोरन्ट मे ही भूल आया। पास ही उसकी सहकर्मी एक जापानी लडकी बैठी हुई थी। उसने पूछा क्या हुआ ? भारतीय ने कहा—मैं वहा अपनी घडी भूल आया। क्या करू ? अब तो वह नही मिल पायेगी। लडकी बोली—क्यो नही मिल पायेगी ? भारतीय ने कहा—कोई भी उठा लेगा, इसलिये नही मिल पायेगी। यह सुन वह लडकी रोने लगी कि आपने मेरे देशवासियो को चोर समझ लिया, यह सोचकर मैं दु खी हू, पर आप विश्वास कीजिये, आपकी घडी जहा पर रख कर आप भूल गये हैं वही पर ज्यो की त्यो रखी हुई मिलेगी। वह लडकी और भारतीय वहा पहुचे, होटल मालिक से बात की। अन्दर जाकर देखा तो घडी उसी स्थान पर ज्यो की त्यो पडी हुई थी।

ये सब इतिहास सम्मत बाते हैं। इतिहास पढने मे ज्ञात होता है कि पहले भारत भी सम्पन्न बहुत था, उस समय दुराचार, व्यसन, चोरी आदि भी नही होती थी।

मनुष्य-भव सबमे श्रेष्ठ है। ये कबूतर जेल मे आते हैं, जाते है पर इनको यहा कोई बन्धन नही है। गली-मुहल्ले मे कुत्ते भी यू ही घूमते रहते है, उन्हे कोई बन्धन नही है, पर यदि वे काटने लगते है तो उन्हे नगरपालिका की ओर से पकड लिया जाता है। यदि मनुष्य भी अपना जीवन दूसरे को

किसी भी प्रकार का कष्ट दिये विना व्यतीत करता है तो उसको भी ससार मे किसी प्रकार का वन्धन नही है। कमिया, दोष सवमे है, किसी मे कम किसी मे अधिक, किसी मे व्यक्त हैं, किसी मे अव्यक्त। जिसके दोष व्यक्त हो गये उन पर कानून द्वारा केस चलता है।

मनुष्य अन्य प्राणियो की तुलना मे गुणो का भडार है, जन्म से ही गुणवान है, वह वडा होकर शिक्षा-सस्कार से और भी गुणवान वन सकता है। जैसे—लोहा, मिट्टी मे पडा रहा तो जग लग जायेगी, यदि उसकी सुई वनादें तो उसकी कीमत आकी जाने लगेगी, ताला वनादे तो कीमत वढ जायेगी, और कोई औजार वना दिया तो वह और भी मूल्यवहान हो जायेगा। अर्थात् जैसे जैसे उसमे सस्कार करते जायेगे, वैसे वैसे उसकी कीमत वढती जायेगी। उसी प्रकार हम भी अपनी आत्मा पर अच्छे-अच्छे सस्कार डालेंगे तो वह भी कीमती होता जायेगा। अच्छे सस्कारो के द्वारा आप भी अच्छे नागरिक वन सकते हैं। भारत आजाद हुआ, इस आजाद भारत मे हमने अपने अधिकारो का ज्ञान तो कर लिया, अधिकारो की वात तो की, परन्तु कर्त्तव्यो की वात नही की, कर्तव्य का ज्ञान नही किया। जिस दिन हमारे स्कूलो-कालेजो मे विद्यार्थियो को कर्तव्य-वोध की शिक्षा दी जायेगी तभी वे मनुष्य वनने योग्य होगे।

गाधीजी एक वार स्विटजरलैण्ड गये, वहा विश्व नागरिक सगठन नामक सस्था के अध्यक्ष के घर गाधीजी ने आतिथ्य स्वीकार किया। वैठे-वैठे उनमे चर्चा हो रही थी। उस अध्यक्ष ने पूछा—एक मनुष्य वहुत अच्छा हो, मार्गदर्शक वने, इसके लिये उसमे कौन-कौन से गुण होने चाहिये, गाधीजी ने कहा—सत्य भी होना चाहिये, शील होना चाहिये, असख्य गुण होने चाहिये पर सक्षिप्त मे चौवीस घटे मन मे भगवान का स्मरण करे वह पुरुष आदर्श पुरुष है, वही स्वय की उन्नति कर सकता है और साथ मे देश की, समाज की, परिवार की भी उन्नति कर सकता है।

शिक्षा देना व ग्रहण करना दोनो ही मुश्किल हैं। एक वया ने एक वदर को कहा—अरे तुम्हारे मनुष्यो के जैसे हाथ-पाव है तो क्यो ठड मे ठिठुर रहे हो, घर वनाकर क्यो नही रहते? वदर क्रोधित हो उठा—मुझे भी शिक्षा देती है, अच्छा! यह कहकर उसने वया का घौसला उजाड दिया। शिक्षा भी पात्र देखकर देनी चाहिये।

रत्नाकर कवि की कन्नड कविता का भावार्थ है—एक सोने का पिजरा है जो अनेक मूल्यवान हीरे-जवाहरातो से सुशोभित हो रहा हैं। उसमे एक तोता रहता है, उसे अनेक मिष्ठान्न, मेवा खिलाया जाता है, परन्तु उसे उस पिजरे का वधन दु खदायी महसूस होने लगता है। वह अपनी चोच से पिंजरे का दरवाजा खोलना चाहता है। उसे स्वच्छन्द उडानें—उन्मुक्त विहार याद आता है। जव एक तिर्यंच प्राणी भी वधन मे रहना पसद नही करता तो मनुष्य कव पसन्द करेगा ?

ब्रिटेन मे एक जेल है जिसमे प्रत्येक कमरे मे टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, पुस्तके, फ्रिज आदि की सुविधाये थी। एक फ्रास के व्यक्ति को उस जेल का निरीक्षण कराया गया। निरीक्षण के वाद अधिकारियो ने पूछा - आपको यह जेल कैसी लगी ? वह व्यक्ति मुस्कुराया और बोला—कितनी भी सुविधायें हो, वधन तो आखिर वधन ही है। इतनी सुविधायें देखकर उस फ्रासिसी व्यक्ति ने एक कैदी को पूछा—क्यो भाई, तुम यहा कैसा अनुभव करते हो ? इतनी सुविधाये देख मेरी इच्छा हो रही है कि मैं भी जेल मे आ जाऊ। यहा कोई काम नही करना होगा, केवल सुविधाये ही सुविधायें है। तव कैदी ने उत्तर दिया—"सव सुविधाये है पर फिर भी रात मे नीद नही आती क्योकि आखिर तो हम वधन मे हैं। अव तो यह निश्चय है कि दुबारा यहा नही आयेंगे।" इतनी सुविधाये होने पर वह तोता और वह व्यक्ति दोनो ही वधन का अनुभव करते हैं। वधन मे सुख-शाति नही हैं। इसलिये आप भी मन, वचन, काय से यह सकल्प कीजिये कि जो अपराध हुआ है, यहा से छूटने के वाद उसे नही दोहरायेंगे। अपना जीवन आदर्शरूप से बितायेंगे। यदि यह आप भगवान का नाम स्मरण कर जीवन शातिपूर्वक निभाते हैं तो आपका पिछला जो वुरा कर्म है वह भी मिट सकता है। यदि यहा से वाहर जाकर भी कोई परिवर्तन नही किया तो जीवन व्यर्थ है। अजन चोर, विद्युत चोर आदि वडे वडे चोर हुये हैं जिन्होने अपना जीवन सुधार लिया और अजन चोर तो मुक्त भी हो गया। इसलिये आपसे जो भी अपराध हो गया है, उसके लिये प्रायश्चित कर सकल्प कीजिये, यहा भी आदर्श जीवन व्यतीत करें। यह मत सोचिये कि यहा से वाहर जाकर आदर्श जीवन वितायेंगे, भविष्य मे नही वर्तमान मे भी आदर्श बनिये। स्वर्ग भी आपके हाथ मे है, नरक भी आपके हाथ मे हैं। यदि यहा अच्छा जीवन बितायेंगे तो अच्छी आदते हो जाने से वाहर जाकर स्वयमेव अच्छा जीवन वितायेंगे। यहा नही सुधरेंगे तो वाहर जाकर कैसे सुधरेगे ? क्या आप नही चाहते कि अन्य लोगो की भाति हम भी

सन्त न होते संसार में तो...
...जल जाता संसार

धर्म के दो तट हैं—साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका। इनकी विच्छति होगी तो धर्म तीर्थ का नाश हो जायेगा। समुद्र सिंधु है—विदुओ के योग से। यदि एक विदु सिंधु से पृथक् हो जाती है तो सूर्य उसे सुखा देता है। जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जायेगा।

नित्य प्रति स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रवल निमित्त कारण है। प्रतिदिन एक-एक शब्द भी अर्थ सहित, भावसहित मनन करे तो मानव सरस्वती का भण्डार हो जाये, दस वर्ष मे स्वय समयसार वन जाये। वाचन से पाचन महान् है।

वीतरागता के विना, मोहनीय को हटाये विना चारित्र स्थिर नही हो सकता।

आहार-दान व आशीर्वाद के समय क्रमश दाता का (गृहस्थ का) व साधु का हाथ ऊपर रहता है। जव तक यह सम्वन्ध है—तव तक समाज वधा हुआ है, दोनो का एक दूसरे पर अनुशासन है।

किसी भी सिद्धान्त का, व्यवस्था का या चीज का मनोवैज्ञानिक ढग से मनोयोगपूर्वक अन्वेपण नही करें, अनुसधान नही करें तो वह प्रभावित नही करती। हमारे सामने दो दृष्टि हैं—(१) साधु व (२) समाज।

ऋषभदेव तीर्थंकर से आज तक साधु व समाज की अव्याबाध, अविच्छिन्न रूप से परिपाटी चली आ रही है, कभी इसका ह्रास भी हुआ तो कभी उन्नति भी हुई। तिलोयपण्णति ग्र थ मे उल्लेख है कि चौवीस तीर्थंकरो के वीच मात वार मुनि दीक्षा का ह्रास हुआ, सात वार यह परिपाटी छूटी, इसलिये उस समय धर्म की व्युच्छिति हुई, कुछ विकृतिया आ गई। जव तक दीक्षा-शिक्षा की परिपाटी समाज मे चलती रहेगी, धर्म चलता रहेगा। समन्तभद्र ने कहा है 'न धर्मों धार्मिकैर्विना', धार्मिक के विना धर्म नही है।

रविषेणाचार्य ने वहुत वैज्ञानिक ढग से पद्मपुराण मे कहा है कि धर्म की व्युच्छिति कव क्यो और कैसे होती है ? क्या दीक्षा वद होने से धर्म नही रहेगा ? धर्म तो अनादि है, अखण्ड है। वस्तु स्वभाव नष्ट नही होता, पर उसके द्वारा, उसके आचरण से मुक्त होने की, जीवन सफल वनाने की परिपाटी खत्म हो जाती है। तव प्रश्न है उसकी व्यवस्था पुन कैसे हो ?

जव-जव आचार-विचार मे हीनता आने लगती है, दोप आने लगते है, आचार-विचार का विघात होने लगता है, तो मिथ्यादृष्टि जीवो का वाहुल्य होता है, मिथ्यादृष्टियो की सख्या वढती है। धर्म मे मलीनता आने लगती है, परिस्थितियाँ मलीन होने लगती हैं, समाज मलीन हो जाता है, धर्म मे ग्लानि हो जाती है तव पुनरपि उसे प्रक्षालित करने हेतु तीर्थंकर का जन्म होता है। मुक्तात्मा तो वापस आ नही सकती, कोई भव्य महान्-पुरुष रूप मे जन्म लेकर धर्म को प्रक्षालित करता है। अकलक देव ने कहा कि— अनुकम्पापूर्ण आचार्यों ने इस धर्मतीर्थ को चलाया।

तीर्थंकरो ने जिन सिद्धान्तो का, तत्त्वो का अनुभव किया और वताया, आचार्य ने उनका उपवृहण किया। आचार्य उनके वताये धर्म तीर्थ को आगे वढाते हैं। जैसे—गाडी वनाने वाला और कोई होता है और चलाने वाला और कोई होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर धर्म तीर्थ के कथचित् निर्माता हैं और आचार्य उसके चलाने वाले है। जैसे ड्राईवर के हाथ मे गाडी की सुरक्षा है गाडी मे बैठने वालो की सुरक्षा है, वैसे ही आचार्यों पर धर्म तीर्थ की व उस तीर्थ के सहारे चलने वाले समाज की सुरक्षा अवलवित है।

समुद्र मे सिंधु व विंदु दो चीज हैं। जव जल का भण्डार है तव सिंधु है। अनेक विंदु हैं तभी सिंधु बनता है। यदि एक विंदु सिंधु से पृथक् हो जाये तो सूर्य उसको सुखा देता है पर सिंधु के साथ रहने पर दो सूर्य भी उसे

स्वतन्त्र रहे, इच्छानुसार घूमे-फिरे, आदर का जीवन व्यतीत करे ? सरकार या हम कोई भी आपको कष्ट देना नहीं चाहते। सब मे मानवीयता है। सब प्राणियों मे से मनुष्य मे स्वाभिमान होता है और किसी मे नही होता। आप अपने स्वाभिमान को बनाये रखना चाहते हैं, आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहते हैं तो अपनी आत्मा पर भगवान पर विश्वास रखिये। आदर्श जीवन व्यतीत करने का सकल्प कीजिये। मादक पदार्थों का सेवन मत कीजिये, व्यसनो को छोडिए, ये बुराई की जड है, इससे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। शराब भी बुद्धि भ्रष्ट करती है, चोरी की भावना उत्पन्न कर देती है और उससे अन्य बुराइया उत्पन्न हो जायेंगी, क्योकि एक व्यसन अनेक बुराइयो व कष्ट को आमन्त्रण देता है।

आप कानून का पालन करे। मन से कानून का पालन करेंगे तो आदर्श जीवन व्यतीत कर सकेंगे। आप यहा हैं, आपका परिवार बाहर हैं सोचिये आपकी माँ को, भाई को, पत्नी को, बहिन को कितना दु ख होगा आपके इस जीवन से।

एक फ्रासिसी कहानी है—एक अमीर का बेटा था। वह अत्यन्त व्यसनी था। माँ उसे बहुत प्यार करती थी। वह जो चाहता था, वही उसे मगाकर देती थी। कभी उसे किसी भी कार्य के लिये नही रोका। व्यसनो मे फसे रहने के कारण सब सम्पत्ति खत्म हो गई। मकान जायदाद बिक गई और वे माँ-बेटे एक झोपडी मे रहने लगे। माँ ने तब कुछ नही कहा, न रोका। एक दिन उस लडके की प्रेमिका बोली - तू यदि मुझे अपनी माँ का कलेजा लाकर दे, तभी मानू कि तू मेरा सच्चा प्रेमी है। वह गया और अपनी माँ से जाकर कहा। माँ ने कहा तेरी मरजी बेटा! बेटे ने माँ का कलेजा चीरा और ले चला अपनी प्रेमिका के पास। राह मे शीघ्रता के कारण वह ठोकर खाकर गिर पडा। हाथ मे जो कलेजा था उसमे से आवाज आई—बेटा! तुझे कही चोट तो नही लगी ? सोचिये माँ का हृदय कैसा होता है। आपकी माँ को, परिवार के लोगो को, बन्धुजनो को कितना कष्ट होगा, कितना दु ख होगा। आप अन्दर यहा बैठे हो पर, बाहर वे सतोष से थोडे बैठे होगे। क्या आप अपने पारिवारिक-जनो को कष्ट देकर यहाँ आना पसन्द करते हैं। इस सब बातो पर व्यापक दृष्टिकोण से, दूरदर्शिता से विचार कीजिये व अन्तरग से यह सकल्प कीजिये—(मैं कह रहा हूँ इसलिये नही,) कि अपनी इच्छा से, उद्योग कर प्यार मे जीवनयापन करूगा। कोई अपराध नही करूगा। एक

अपराध के कारण यहा रहना पड रहा है, कष्ट भोगना पड रहा है, यही विचार उस अपराध का प्रायश्चित है।

आप सोचिये कि हमे क्यो कोई यहा लाकर रखता है। यहा आना ही अपने आप मे अपराध है। सरकार कितनी भी सुविधाये दे पर बधन तो आखिर बधन ही है।

आचार्य वादिवृषभ ने कहा है— बधन मे पडे रहने से मर जाना बेहतर है। सूखी रोटी खाकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है, बजाय सुविधायुक्त जेल के बन्धन मे रहने के।

अत्यन्त वात्सल्य-भावना से आशीर्वाद देता हू कि पुन आपको यहा न आना पडे, बन्धन मे न फसना पडे, ऐसा आदर्श प्रस्तुत करने मे सक्षम होवे। आपका भावी जीवन अच्छा बीते। दूसरे को भी समझाइये कि अपराध न करे, आदर्श जीवन व्यतीत करे।

जर्मन मे एक सगठन है जहा अपराध, आत्महत्या करने के इच्छुक फोन कर अपनी इच्छा बताते हैं। वे अपराधियो को, चोरी करने वालो को, आत्महत्या करने वालो को उनका मनोवैज्ञानिक अध्ययन कर उन्हे ऐसा करने से रोकते है, समझाते हैं, उनका मन परिवर्तन करते हैं।

यदि आप पढना जानते हो और यहा पढने की सुविधा प्राप्त हो तो आप महापुरुषो की जीवनिया पढिये, इससे मन स्वच्छ होगा। मन स्वच्छ होगा तो वचन भी स्वच्छ होगा। मन ही बुराइयो की जड है और मन ही इन बुराइयो को दूर करने का साधन है। यदि आप आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहते है तो सत्तू की भाति मन, वचन, काय से छानकर व्यवहार करें, विचार रखें, क्रिया करें। हमसे अच्छे पशु-पक्षी है जो लडते है तो कुछ क्षणो के लिये, द्वेष-पूर्वक कोई कार्य नही करते, ऐसी क्रियायें नही करते जिससे जेल भुगतनी पडे। मन को स्वच्छ बनाइये, वचन को स्वच्छ बनाइये।

हम यहा यही सद्भावना लाये है कि आप आदर्श जीवन बिताये व आगे कोई बुरा कार्य न करें।



सन्त न होते संसार में तो...
...जल जाता संसार

धर्म के दो तट हैं—साधु-साध्वी व श्रावक-श्राविका । इनकी विच्छति होगी तो धर्म तीर्थ का नाश हो जायेगा । समुद्र सिधु है—बिदुओ के योग से । यदि एक बिदु सिधु से पृथक् हो जाती है तो सूर्य उसे सुखा देता है । जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जायेगा ।

नित्य प्रति स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रबल निमित्त कारण है । प्रतिदिन एक-एक शब्द भी अर्थ सहित, भावसहित मनन करे तो मानव सरस्वती का भण्डार हो जाये, दस वर्ष मे स्वय समयसार बन जाये । वाचन से पाचन महान् है ।

वीतरागता के विना, मोहनीय को हटाये विना चारित्र स्थिर नही हो सकता ।

आहार-दान व आशीर्वाद के समय क्रमश दाता का (गृहस्थ का) व साधु का हाथ ऊपर रहता है । जब तक यह सम्बन्ध है—तब तक समाज बधा हुआ है, दोनो का एक दूसरे पर अनुशासन है ।

किसी भी सिद्धान्त का, व्यवस्था का या चीज का मनोवैज्ञानिक ढग से मनोयोगपूर्वक अन्वेषण नही करें, अनुसधान नही करें तो वह प्रभावित नही करती । हमारे सामने दो दृष्टि है—(१) साधु व (२) समाज ।

ऋषभदेव तीर्थंकर से आज तक साधु व समाज की अव्याबाध, अविच्छिन्न रूप से परिपाटी चली आ रही है, कभी इसका ह्रास भी हुआ तो कभी उन्नति भी हुई। तिलोयपण्णति ग्रथ मे उल्लेख है कि चौवीस तीर्थंकरो के वीच सात वार मुनि दीक्षा का ह्रास हुआ, सात वार यह परिपाटी छूटी, इसलिये उस समय धर्म की व्युच्छिति हुई, कुछ विकृतिया आ गई। जव तक दीक्षा–शिक्षा की परिपाटी समाज मे चलती रहेगी, धर्म चलता रहेगा। समन्तभद्र ने कहा है 'न धर्मो धार्मिकैर्विना', धार्मिक के विना धर्म नही है।

रविषेणाचार्य ने वहुत वैज्ञानिक ढग से पद्मपुराण मे कहा है कि धर्म की व्युच्छिति कव क्यो और कैसे होती है ? क्या दीक्षा वद होने से धर्म नही रहेगा ? धर्म तो अनादि है, अखण्ड है। वस्तु स्वभाव नष्ट नही होता, पर उसके द्वारा, उसके आचरण से मुक्त होने की, जीवन सफल बनाने की परिपाटी खत्म हो जाती है। तव प्रश्न है उसकी व्यवस्था पुन कैसे हो ?

जव–जव आचार–विचार मे हीनता आने लगती है, दोष आने लगते है, आचार–विचार का विघात होने लगता है, तो मिथ्यादृष्टि जीवो का वाहुल्य होता है, मिथ्यादृष्टियो की सख्या वढती है। धर्म मे मलीनता आने लगती है, परिस्थितियाँ मलीन होने लगती हैं, समाज मलीन हो जाता है, धर्म मे ग्लानि हो जाती है तव पुनरपि उसे प्रक्षालित करने हेतु तीर्थंकर का जन्म होता है। मुक्तात्मा तो वापस आ नही सकती, कोई भव्य महान्–पुरुष रूप मे जन्म लेकर धर्म को प्रक्षालित करता है। अकलक देव ने कहा कि—अनुकम्पापूर्ण आचार्यों ने इस धर्मतीर्थ को चलाया।

तीर्थंकरो ने जिन सिद्धान्तो का, तत्त्वो का अनुभव किया और बताया, आचार्य ने उनका उपवृहण किया। आचार्य उनके वताये धर्म तीर्थ को आगे वढाते है। जैसे—गाडी वनाने वाला और कोई होता है और चलाने वाला और कोई होता हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर धर्म तीर्थ के कथचित् निर्माता हैं और आचार्य उसके चलाने वाले हैं। जैसे ड्राईवर के हाथ मे गाडी की सुरक्षा है गाडी मे वैठने वालो की सुरक्षा है, वैसे ही आचार्यों पर धर्म तीर्थ की व उस तीर्थ के सहारे चलने वाले समाज की सुरक्षा अवलबित है।

समुद्र मे सिंधु व विंदु दो चीज हैं। जब जल का भण्डार है तब सिंधु है। अनेक विंदु है तभी सिंधु बनता है। यदि एक विंदु सिंधु से पृथक् हो जाये तो सूर्य उसको सुखा देता है पर सिंधु के साथ रहने पर दो सूर्य भी उसे

नही सुखा पाते। इसी प्रकार जो समाज से, धर्म से कटकर रहेगा वह सूख जायगा, चाहे वह कोई सामाजिक प्राणी हो, आध्यात्मिक प्राणी हो, तत्त्वज्ञानी हो, उसका अस्तित्व नही रहेगा।

आचार्यों ने हमे परिपाटी दी है—साधु-अर्जिका श्रमण व श्रमणिका, इसका नाम चतु संघ दिया। जहाँ ये चारो अस्तित्वशील हैं—धर्म तीर्थ प्रवाहमय रहेगा। जैसे नदी दो तटो के बीच वहती हुई समुद्र तक चली जाती है वैसे ही धर्म के दो तट है (१) साधु–साध्वी, (२) श्रावक–श्राविका, इनके साथ प्रवाहित होता हुआ धर्म सिद्धालय तक पहुँच जाता है। जब इनकी विच्छति होगी, तो धर्म–तीर्थ का नाश हो जायेगा।

मल्लिपेणाचार्य ने कहा कि साधु कौन है—

"देह निर्ममतात् गुरोर्विनयात् नित्य श्रुताभ्यासात् चारित्रोज्ज्वलात् मोहोपशमात् ससारनिर्वेदनात् अन्तर्बाह्य–परिग्रह त्यजनात्—"

'धर्मज्ञता साधुता साधो साधु जनस्य लक्षणमिद ससार विच्छेदन' अर्थात्–जिनकी देह के प्रति निर्ममता हो। जैनाचार्यों ने जिन सिद्धान्तो का कथन किया प्रत्येक मे तरतमता के भाव से लोकप्रमाण भेद हैं। देह निर्ममता के भी लोकप्रमाण तरतम भेद मिलते हैं। कोई निर्ग्रन्थ है, स्नातक है, यति है, मुनि है, अनागारी आदि। जैसे–**क्षपणक** वह है जो एक दिन आहार ग्रहण करे व एक दिन का उपवास करते हुये तपस्या मे लवलीन रहे। **यति** वह है जो क्षपक या उपशम श्रेणी चढे। यति कर्मों का क्षय करता है। **अनगार**–जिसका कोई आगार नही है और जो धर्म ध्यान मे लीन है। **मुनि**–वह है जो तत्त्वज्ञान के मनन मे जीवन व्यतीत करता है। **निर्ग्रन्थ**–वह है जो सैंतालीस मिनट वाद अर्थात् अन्तर्मुहूर्त मे केवलज्ञानी होने वाला हो। **ऋषि**–वह है जिसने कोई ऋद्धि प्राप्त करली हो।

इन पारिभापिक शब्दो व तरतमता के भेदो को न जानने के कारण अनेक भ्रम व भ्रान्त धारणायें उत्पन्न हो जाती है। साधुओ मे तपत्याग से तरतम भाव वना रहता है, पर हैं सभी साधु। एक घर मे पाच सदस्य हैं, पाचो घर का कार्य सम्भालते हैं, उद्योग करते हैं, पर कोई कम करता है कोई ज्यादा, क्योकि सव अपनी शक्ति के अनुसार करते है, पर उद्यमी तो सभी हैं। उसी प्रकार तपस्वियो मे तरतमता से भेद है पर हैं तो सभी साधु।

छोटे रूप मे तप–त्याग करने वाला भी साधु है और सर्वोत्कृष्ट रूप मे तद्‌भवमोक्षगामी साधु भी होते हैं।

आचार्य शातिसागरजी महाराज श्रवण बेलगोला जाते समय राह मे 'पुन्नुर' गुफा मे ठहरे। वहाँ उनसे एक व्यक्ति ने पूछा–आप मासोपवासी हैं ? आचार्य ने कहा—नही। आप ऐसे हैं, वैसे हैं करके अनेक प्रश्न पूछे। मुनिराज ने कहा—नही। तब वह व्यक्ति बोला–तब आपको मुनिमहाराज कैसे मानें ? आचार्य ने कहा— हमने कब कहा कि मानो। पर उन्होने सोचा कि यह भव्यजीव है, शका को लिये हुये है। इस शका का निवारण नही होगा तो यह गलत धारणा को ले बैठेगा। ऐसा सोचकर करुणामयी आचार्य ने पूछा–सामने यह काहे का वृक्ष है ? उस व्यक्ति ने कहा—यह आम का वृक्ष है। आचार्य ने कहा—जाओ उसमे से तीन–चार फल ले आओ। वह बोला–इस समय फल कैसे आ सकते हैं ? इस समय ऋतु ही नही है। तब आचार्य ने कहा—तो जब ऋतु आयेगी, काल आयेगा, समय आयेगा तभी वैसे साधु होगे, तभी वज्रवृषभनाराच सहनन वाले मुनिराज होगे।

ससार मे जैसे आम्रफल के तरतम भाव से अनेक भेद हैं, वस्तुओ के भेद हैं, वैसे ही साधु के निर्ग्रन्थ, स्नातक, यति, भदन्त अनेक भेद हैं और समाज मे भी भेद हैं। **भदन्त** का अर्थ है—भगवन्, जिन्होने पाचो इन्द्रियो का दमन कर लिया है। भ=भगवन् व दन्त=पाचो इन्द्रियो का दमन किया है जिसने, भदन्त इसका अत्यन्त सक्षिप्त रूप है। ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्द हैं जिनका शास्त्रो मे वर्णन किया गया है।

अत जिनकी देह के प्रति निर्ममता है, निर्ममता मे भी तरतमता है। किसी ने थोडा दान दिया, किसी ने अधिक और किसी ने बहुत अधिक, पर हैं तो सभी दानदाता, तरतम–भाव है। ममता के भी अनेक भेद है। कर्जा लेकर क्लेश से दान देना, व्रत करना, व्रत नही है, सहज–साध्य शक्तित त्याग करना ही व्रत है, तप है, त्याग है। देह के प्रति निर्ममता सभी मे मौजूद है, पर तरतमता है। विवेकपूर्वक थोडा भी त्याग शास्त्र सम्मत है।

गुरु की विनय–वादिवृषभाचार्य ने माता–पिता को भी गुरु बताया है। गुरु वह है जो शिक्षा दे, मार्ग बताये। माता–पिता लौकिक–व्यवहार के गुरु है तथा आचार्य–तीर्थंकर आदि आध्यात्मिक गुरु हैं। अन्तरग–बहिरग त्यागी भी गुरु हैं, इसलिये गुरु के प्रति विनय, आदर होना चाहिये। नित्य श्रुत का

अभ्यास-श्रुत ही आत्म-कल्याण का कारण है। प्रतिदिन शास्त्र का अर्थ सहित मनन करे। एक-एक पुस्तक से पुस्तकालय वनता है। **प्रतिदिन एक-एक शब्द भी अर्थ सहित, भाव सहित मनन करे तो यह मानव सरस्वती का भडार हो जाये।** एक पाच साल का वच्चा पडोस से एक चाकू चुरा लाया, माँ ने कहा—शावाश ! माँ के इस प्रोत्साहन से वीस वर्ष वाद वह वालक क्या वनेगा ? डाकू। जव माँ के इतने से प्रोत्साहन से एक वालक डाकू वन सकता है तो जिनवाणी माता के प्रोत्साहन से सर्वज्ञ क्यो नही वन सकता, जवकि यह तो स्वभाव-परिणति है और वह विभाव-परिणति है। जिनवाणी की उपासना प्रतिदिन करनी चाहिये। **नित्यप्रति स्वाध्याय सम्यग्दर्शन का प्रवल निमित्त कारण है। प्रति दिन शास्त्र स्वाध्याय शव्द-अर्थ-मनन सहित दृढ करे तो दस वर्ष मे स्वयं ही समयसार वन जायें।** श्रुत का प्रयोजन है—चारित्र-उज्ज्वलता।

चारित्र उज्ज्वलता—पढे हुये को आत्मासात् करना ही चारित्र है। जैसे-भोजन जव पचता है, तभी रक्तवर्धन होता है, पुष्टता आती है, वैसे ही स्वाध्याय से चारित्र-उज्ज्वल होता है। कुन्द-कुन्दाचार्य ने कहा है—**वाचन से पाचन महान् है।** ग्र थ कितने पढे यह महत्त्वपूर्ण नही है, महत्त्व इस वात का है कि उनको कितना आत्मसात् किया, उन पर कितना आचरण किया। चारित्र तभी टिकेगा जव महोपशमता होगी।

महोपशमता—दर्शन-मोह व चारित्र-मोह का उपशम हो तव चारित्र स्थिर होगा। वीतरागता के विना, मोहनीय को हटाये विना चारित्र स्थिर नही हो सकता। ससार विरक्त-गृहस्थी मे रह कर भी उसमे लिप्त न हो, ससार मे रहकर भी उसमे लिप्त न हो, जैसे जल से भिन्न कमल रहता है।

अन्तरग वाह्य-परिग्रह का त्याग-एक सरसो के दाने के वरावर भी राग की भावना न हो, वही श्रेष्ठतम है। दोनो परिग्रहो से पूर्णतया नि शेप त्याग की भावना होनी चाहिये तभी वह धर्मात्मा कहलायेगा व परमात्मा वन सकेगा।

आलस्य न करके पाच मिनट भी शव्द अर्थ-ज्ञान सहित केवल एक अक्षर भी मनन कर आत्मसात् कर लें तो कल्याण निश्चित है।

तीन सौ वर्ष पूर्व सिंधी-भाषा के एक कवि हुये हैं। एक दिन मध्याह्न मे वे सो रहे थे, थोडी देर वाद आँख खुली तो सुना कि वाहर एक

व्यक्ति 'सुम्रा-पालक-चुका' कहता हुआ जा रहा है। उन्होने समझा यह मुझे कह रहा है सुम्रा=मैं सोया था, पालक=पल भर के लिये, चुका=खो चुका, यानी मैं जो पलभर सो गया था वह पल मेरे जीवन मे व्यर्थ चला गया, मुझे कुछ कार्य करना चाहिये था। यही सोचकर उन्होने ग्रथ रचना प्रारम्भ की, उन्होने अपने एक ग्रथ मे कविता लिखी है—'तू आछो मै रात सजग नित सो जाऊँ' भावार्थ है—चन्द्रमा रात मे प्रकाश प्रदान करता है, सूर्य दिन मे पर साधु चौवीस घटे, दिन और रात रोशनी देते हैं। चाद-सूरज तो केवल वाहर ही रोशनी देते हैं, पर साधु तो दिल मे प्रकाश फैलाते हैं।

मैं मेरठ मे था, प्रात वहाँ प्रवचन हुआ। प्रवचन के वाद कुछ देर एकान्त अध्ययन मनन करना चाहता था। एक महिला आई और एक शका-निवारण चाहने लगी। वाद मे पूछने के लिये कहा, पर वह आग्रह करती रही तो मैंने कहा—'ससारी का सग न कीजे, दु ख अपने को रोये, आप तो फिरे विपत्ति के मारे, यति धर्म क्यो खोये ?' तव वह चतुर महिला वोली—अव एक दोहा मेरा भी सुन लीजिये—'सत न होते समार मे, तो जल जाता समार।'

कहने का तात्पर्य है कि जैसे सिधु-विदु का अविनाभावी सम्वन्ध है वैसे ही समाज व साधु का सम्वन्ध है। जहाँ साधु है, त्यागी हैं वह समाज आदर्श रूप होगा, वह देश को, सस्कृति को उन्नतिशील वनायेगा। इसलिये साधु का निर्माण करना चाहिये।

प० आशाधर सूरि ने सागारधर्मामृत मे कहा है कि—सज्जन पुरुषो को, धर्मात्माओ को दीक्षा के लिये प्रेरित करो। जैसे-वश मे वच्चा नही होता तो, वश को चलाने के लिये, व्यवस्था के लिये पुत्र को गोद लेते हैं, दत्तक वनाते हैं, इसी प्रकार समाज को चलाने के लिये, उसकी व्यवस्था वनाये रखने के लिये सज्जनो से त्यागी, साधु वनने की प्रार्थना कीजिये, उनकी पढाई आदि की व्यवस्था कीजिये, उनकी सेवा मे तत्पर रहिये, यह समाज पर उपकार होगा। यदि समाज को आदर्शरूप देखना चाहते हैं तो कुछ समय घर का राग छोडकर समाज की चिन्ता भी कीजिये, धर्म की चिन्ता कीजिये।

समाज व साधु का सिंधु व बिंदु जैसा सम्वन्ध है। आचार्य

देता है । गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से पूछा—हमे केवलज्ञान कव प्राप्त होगा ? भगवान् ने जवाव दिया, जव तुम्हारी राग-प्रवृत्ति खत्म होगी तव तुम्हे केवलज्ञान प्राप्त होगा । जव तक राग मन मे रहा तव तक केवलज्ञान प्राप्त न हो सका । जिन शासन का आधार तत्त्वज्ञान है, वाह्य ससार से राग छोडकर तत्त्व चिन्तन ही वीतरागता का तत्त्वज्ञान का मार्ग है। वीतरागता के लिए धर्म की आवश्यकता है । धर्म का परिपालन करने वालो के लिए दो मार्ग हैं—(१) गृहस्थ, (२) गृह-विरत । गृहस्थ-धर्म करने की भावना अथाह है पर शक्ति नही है । राग को शाश्वत नही माना पर कमजोरी के कारण राग का आश्रय ले रखा है ।

गृहविरत-गृहस्थी छोड पूर्णतया राग को निरस्त करने के लिये तपादि मे मग्न है ।

समन्तभद्र ने कहा है **'निनायोनिर्दयीभस्मसात् ...'** अर्थात् तपस्वी निर्दयी है । उन्होने भगवान् ऋषभ देव को भी निर्दयी वताया । निर्दयी इस अर्थ मे कि —उन्होने राग का, परिवार के प्रति जो राग था, उसका नाश किया है । परिवार के प्रति दयावान् रहकर राग का नाश नही किया जा सकता । हम परिवार व पारिवारिक लोगो के प्रति दयावान् होने के कारण ससार मे फस रहे हैं । भगवान् आदिनाथ ने वहिरग मे निर्दयी वन राग का नाश किया और अन्तरग मे निर्दयी वन कर्म शत्रुओ का नाश किया । हम ससार के प्रति राग के कारण दयावान् वनते हैं, समताभाव से दयावान् नही वनते, इसलिये जन्म-मरण मे भटकते रहते हैं । सव का मूल राग है ।

वीतराग मार्ग दुर्लभ भी है और सुलभ भी । समाज की रचना का, श्रमण-सस्कृति का आधार तत्त्वज्ञान है और उस तत्त्वज्ञान के मूल मे राग छोडने का भाव है । तत्त्वज्ञान राग छोडने के लिये ही है ।

आशाधर सूरि ने कहा है—जगत् का कोई वन्धु है तो वह वीतराग भगवान् है । घर-घर मे दुनियादारी, सासारिक प्रपच सिखाने वाले आचार्य तो मौजूद हैं पर उस प्रपच से निकल आत्म कल्याण को वताने वाले केवल जिनेन्द्र भगवान् हैं । इसलिये उसको जगत् का वन्धु कहा । लौकिक-व्यवहार मे कोई हम पर उपकार करता है तो हम कहते हैं यह हमारा वन्धु है । शरीर

के प्रपच चलाने के लिये कोई उपकारी है तो वह बन्धु कहलाता है और तो तीनलोक मे जो मूल्यवान् आत्मा है उसके मुक्त होने के लिये मार्ग बताने वाला बन्धु क्यो नही है ? वह केवल जैनो का ही बन्धु नही है अपितु प्राणी मात्र का जगत् का बन्धु है। उनके सिद्धान्त मार्ग प्राणी मात्र के लिये हैं। तभी तो तत्त्वार्थसूत्र मे कहा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'। **जिनेन्द्र भगवान् का वीतराग धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति व मार्ग बताता है।**

किसी के घर मे सतान नहीं होती तो वह चिंतित होता है, वश–वृद्धि के लिये बालक को गोद ले लेता है, वश को खत्म नही होने देता। इसी प्रकार आशाधर सूरि ने यतियो को कहा है कि जिनेन्द्र भगवान् का वश चलाना है तो तुम जिस गाव–शहर से जाओ वहा से सज्जनो को गोद लेते जाओ। गृहस्थो से कहा कि यदि इस मार्ग को बचाना है तो कुछ देर गृह–मोह छोड बुद्धिमानो, सज्जनो से साधु बनने की प्रार्थना करो। यतियो को जन्म देना गृहस्थियो का कर्तव्य है। उन यतियो के, साधुओ के ज्ञान–वृद्धि हेतु अध्ययन–मनन की व्यवस्था करो, उनकी सेवा करो। जैसे लाठी पकडने से स्वय का लाभ होता है, वैसे साधु स्वकल्याण के साथ समाज के उपकारक होते हैं। जिस समाज मे विद्वान्, त्यागी होगे वह समाज उतना ही आदर्श होगा।

एक यूरोपीय दार्शनिक को पेरिस शहर दिखाया गया। शहर दिखाने के बाद उससे शहर के बारे मे राय पूछी। दार्शनिक ने कहा—जिस देश मे, शहर मे धन, सुन्दर भवन, बलवान लोग, लडाकू सेना हो वह देश महान् नही है। मैं तो उस देश को आदर्श, महान् व श्रेष्ठ मानता हूँ जहा त्यागी, दानी, सच्चरित्र, परोपकारी सेवाभावी लोग रहते हो।

अपना समाज आज तक जीवित है वह इसलिये कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पच्चीस सौ वर्ष पश्चात् भी त्यागी वर्ग मौजूद है। जैसे बाडो मे पशुओ को रखा जाता है, वे बाड लाघकर कही नही जा सकते इसी प्रकार धर्मरूपी बाड मे ही पशुवृत्ति वाले मानव जीवित रह सकते हैं। मानव केवल अन्न खाने से जीवित नही रहता, अन्न तो पशु–पक्षी भी खाते हैं, पर शाति–सहित वह जीता है उसका आधार है तत्त्वज्ञान। आचार्यों ने तत्त्व का, ज्ञान का जितना भडार दिया उसका अश भी ग्रहण करले तो उद्धार हो जायेगा। ज्ञान भी परिपक्व होना चाहिये, केवल पढने से, प्रवीण होने से कुछ नही होगा। ज्ञान को आत्मसात् करना होगा, जीवन मे उतारना

शातिसागरजी कहते थे कि साधु व समाज का कैसा सम्वन्ध होता है—आहार ग्रहण करते समय साधु का हाथ नीचे होता है, दाता का ऊपर। आहार-ग्रहण के बाद दाता गृहस्थी का हाथ नीचे व साधु का आशीर्वाद रूप मे ऊपर रहता है. कभी दाता का हाथ ऊपर तो कभी साधु का हाथ ऊपर, जव तक यह सम्वन्ध है तव तक समाज वधा हुआ है, दोनो का एक दूसरे पर अनुशासन है। जव इसका सम्वन्ध टूट जायेगा तो समाज विखर जायेगा। आदर्श का अर्थ है दर्पण, जव दर्पण स्वच्छ होगा तो चेहरा साफ दिखाई देगा। साधु सस्था पवित्र होगी तो समाज आदर्श वनेगा समाज व धर्म को आदर्श वनाने हेतु गृहस्थ चिन्तन करे. इसी भावना से आज मैंने उपरोक्त तथ्य समझायें हैं, आप एक आदर्श समाज का निर्माण करने मे सफल हो यही भावना है।



पठनक्रम :

सुत्तत्थो खलु पढमो, दुदिओ णिज्जुत्ति मिस्सिदो भणिदो।
तिदिओ य णिरवसेसो, एसविहि होदि अणुजोगो ।।

अर्थ :

सर्वप्रथम सूत्र पाठ और अर्थ का सामान्य कथन करना, बाद में निर्युक्ति मिश्र अर्थ, तदनन्तर सर्व अर्थ का कथन करने की बात पठनक्रम में कही गई हैं। यही अनुयोग के सम्बन्ध में विधि-आर्ष पद्धति हैं। केवल सूत्रार्थ का प्रतिपादन करना, इसका नाम अनुयोग हैं। तात्पर्य यह हैं कि अनुयोगाचार्यों (श्रुतगुरु) को प्रथम सूत्रों का सामान्य अर्थावलोकन मात्र कथन रूप ही अनुयोग करना चाहिये। यही पहला अनुयोग कहलाता हैं।

जगत् का बन्धु–वीतराग भगवान्

राग–आग है। अनन्त काल से आत्मा के साथ राग लगा हुआ है, वह खत्म नही होता, वह ही इसे जर्जरित करता है। बाह्य ससार से राग छोडकर तत्त्व–चिंतन ही वीतरागता का, तत्त्वज्ञान का मार्ग है। मात्र पढने व प्रवीण होने से कुछ नही होगा। तत्त्वज्ञान को आत्मसात करना होगा।

आत्मा, न स्त्री है, न पुरुष है, न अमीर है, न गरीब है, न काला है, न गोरा है, आत्मा–आत्मा है, वही परमात्मा है।

ससार मे जितने भी पदार्थ है उनको सर्वज्ञ–भगवान् ने प्रत्यक्ष देखा है। उनका ज्ञान अनन्त है, उस अनन्त ज्ञान मे ससार के समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष झलकते हैं, सर्वज्ञ उन्हे प्रत्यक्ष देखते भी हैं व उनके स्वभाव को जानते भी हैं। उन वस्तुओ के स्वभाव को जानकर सर्वज्ञ ने मनुष्य को वीतरागता की ओर जाने का मार्ग प्रशस्त किया है।

ससार मे दु ख की जड मूल राग है। राग से ही दुनिया मे दु ख उपजते हैं और विनशते हैं। राम ने स्वर्ण मृग पर राग किया तो सीता को खोया और दु ख पाया। सीता ने भी स्वर्णमृग पर राग करने के कारण पति–विछोह आदि कष्ट पाये, रावण ने पराई–स्त्री सीता पर राग किया इसलिये मारा गया। **राग–आग है, दुनिया मे इसके समान आग नहीं है, आग तो फिर भी क्षणिक है, थोडी देर मे खत्म हो जाती है पर अनन्त काल से आत्मा के साथ राग है, वह खत्म नहीं होता। यह मानव को जर्जरित कर**

देता है। गौतम गणधर ने भगवान् महावीर से पूछा—हमें केवलज्ञान कब प्राप्त होगा ? भगवान् ने जवाब दिया, जब तुम्हारी राग-प्रवृत्ति खत्म होगी तब तुम्हें केवलज्ञान प्राप्त होगा। जब तक राग मन मे रहा तब तक केवलज्ञान प्राप्त न हो सका। जिन शासन का आधार तत्त्वज्ञान है, बाह्य संसार से राग छोडकर तत्त्व चिन्तन ही वीतरागता का तत्त्वज्ञान का मार्ग है। वीतरागता के लिए धर्म की आवश्यकता है। धर्म का परिपालन करने वालो के लिए दो मार्ग है—(१) गृहस्थ, (२) गृह-विरत। गृहस्थ-धर्म करने की भावना अथाह है पर शक्ति नही है। राग को शाश्वत नही माना पर कमजोरी के कारण राग का आश्रय ले रखा है।

गृहविरत-गृहस्थी छोड पूर्णतया राग को निरस्त करने के लिये तपादि मे मग्न है।

समन्तभद्र ने कहा है **'निनायोनिर्दयीभस्मसात् ...'** अर्थात् तपस्वी निर्दयी है। उन्होने भगवान् ऋषभ देव को भी निर्दयी बताया। निर्दयी इस अर्थ मे कि—उन्होने राग का, परिवार के प्रति जो राग था, उसका नाश किया है। परिवार के प्रति दयावान् रहकर राग का नाश नही किया जा सकता। हम परिवार व पारिवारिक लोगो के प्रति दयावान् होने के कारण ससार मे फस रहे हैं। भगवान् आदिनाथ ने बहिरग मे निर्दयी बन राग का नाश किया और अन्तरग मे निर्दयी बन कर्म शत्रुओ का नाश किया। हम ससार के प्रति राग के कारण दयावान् बनते है, समताभाव मे दयावान् नही बनते, इसलिये जन्म-मरण मे भटकते रहते है। सब का मूल राग है।

वीतराग मार्ग दुर्लभ भी है और सुलभ भी। समाज की रचना का, श्रमण-सस्कृति का आधार तत्त्वज्ञान है और उस तत्त्वज्ञान के मूल मे राग छोडने का भाव है। तत्त्वज्ञान राग छोडने के लिये ही है।

आशाधर सूरि ने कहा है—जगत् का कोई बन्धु है तो वह वीतराग भगवान् है। घर-घर मे दुनियादारी, सामाजिक प्रपच सिखाने वाले आचार्य तो मौजूद हैं पर उस प्रपच से निकल आत्म कल्याण को बताने वाले केवल जिनेन्द्र भगवान् हैं। इसलिये उसको जगत् का बन्धु कहा। लौकिक-व्यवहार मे कोई हम पर उपकार करता है तो हम कहते हैं यह हमारा बन्धु है। शरीर

के प्रपच चलाने के लिये कोई उपकारी है तो वह बन्धु कहलाता है और तो तीनलोक मे जो मूल्यवान् आत्मा है उसके मुक्त होने के लिये मार्ग बताने वाला बन्धु क्यो नही है ? वह केवल जैनो का ही बन्धु नही है अपितु प्राणी मात्र का जगत् का बन्धु है। उनके सिद्धान्त मार्ग प्राणी मात्र के लिये हैं। तभी तो तत्त्वार्थसूत्र मे कहा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'। **जिनेन्द्र भगवान् का वीतराग धर्म आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति व मार्ग बताता है।**

किसी के घर मे सतान नही होती तो वह चितित होता है, वश–वृद्धि के लिये बालक को गोद ले लेता है, वश को खत्म नही होने देता। इसी प्रकार आशाधर सूरि ने यतियो को कहा है कि जिनेन्द्र भगवान् का वश चलाना है तो तुम जिस गाव–शहर से जाओ वहा से सज्जनो को गोद लेते जाओ। गृहस्थो से कहा कि यदि इस मार्ग को बचाना है तो कुछ देर गृह–मोह छोड बुद्धिमानो, सज्जनो से साधु बनने की प्रार्थना करो। यतियो को जन्म देना गृहस्थियो का कर्तव्य है। उन यतियो के, साधुओ के ज्ञान–वृद्धि हेतु अध्ययन–मनन की व्यवस्था करो, उनकी सेवा करो। जैसे लाठी पकडने से स्वय का लाभ होता है, वैसे साधु स्वकल्याण के साथ समाज के उपकारक होते हैं। जिस समाज मे विद्वान्, त्यागी होगे वह समाज उतना ही आदर्श होगा।

एक यूरोपीय दार्शनिक को पेरिस शहर दिखाया गया। शहर दिखाने के बाद उससे शहर के बारे मे राय पूछी। दार्शनिक ने कहा—जिस देश मे, शहर मे धन, सुन्दर भवन, बलवान लोग, लडाकू सेना हो वह देश महान् नही है। मैं तो उस देश को आदर्श, महान् व श्रेष्ठ मानता हूँ जहा त्यागी, दानी, सच्चरित्र, परोपकारी सेवाभावी लोग रहते हो।

अपना समाज आज तक जीवित है वह इसलिये कि भगवान् महावीर के निर्वाण के पच्चीस सौ वर्ष पश्चात् भी त्यागी वर्ग मौजूद है। जैसे बाडो मे पशुओ को रखा जाता है, वे बाड लाघकर कही नही जा सकते इसी प्रकार धर्मरूपी बाड मे ही पशुवृत्ति वाले मानव जीवित रह सकते हैं। मानव केवल अन्न खाने से जीवित नही रहता, अन्न तो पशु–पक्षी भी खाते हैं, पर शाति–सहित वह जीता है उसका आधार है तत्त्वज्ञान। आचार्यों ने तत्त्व का, ज्ञान का जितना भडार दिया उसका अश भी ग्रहण करलें तो उद्धार हो जायेगा। ज्ञान भी परिपक्व होना चाहिये, केवल पढने से, प्रवीण होने से कुछ नही होगा। ज्ञान को आत्मसात् करना होगा, जीवन मे उतारना

होगा तभी ज्ञान की कीमत होगी। आचार-विचार और चारित्र तीनो ही महत्त्वपूर्ण हैं। विना चारित्र के ज्ञान का भी कोई महत्त्व नही है।

हमे भगवान् महावीर की परम्परा को अविच्छिन्न रूप से चलाने के लिये प्रयासशील होना चाहिये। इक्ष्वाकुवश की परम्परा थी कि—वाल्यकाल मे विद्याध्ययन, थोडे काल के लिये पिता के ऋण से मुक्ति पाने के लिये गृहस्थावस्था धारण करते और वृद्धावस्था आने से पूर्व ही सन्यास ले लेते थे। ऐसा कवि कालिदास ने भी वर्णन किया है, और जव मृत्यु आ जाये तो भगवान् का स्मरण करते हुये उस हड्डी के ढाचे को यमराज को सौंप जाते थे। हमे भी अपने जीवन का कुछ निश्चित भाग तो अवश्य ही धर्म-ध्यान मे लगाना चाहिए।

भगवान् महावीर ने धर्म मे स्त्री—पुरुप के भेद को नहीं माना। **आत्मा न स्त्री है न पुरुष है, न गरीव है, न अमीर है, न काला है न गोरा है। आत्मा-आत्मा है, वही परमात्मा है।** भगवान् महावीर ने केवल आत्मा को देखने के लिये कहा। मेढक भी भक्ति-भाव से तिर गया, धर्म ने उसके शरीर को नही देखा, आत्मा को देखा। भगवान् पार्श्वनाथ ने सर्प का शरीर, उसका जहरीलापन नही देखा, केवल उसकी आत्मा को देखा। हमारा मार्ग उदार दृष्टिकोण व वात्सल्य से वचेगा। एक कट्टर आर्य समाजी व्यक्ति (इन्दौर) ने वावू छोटेलाल स्मृति ग्रथ मे लिखा है कि—यदि कोई जैन, त्याग कर आगे वढे तो जैनधर्म, राष्ट्रधर्म-विश्वधर्म वन सकता है। विश्वधर्म वनने की शक्ति केवल जैनधर्म मे ही है, किसी अन्य धर्म मे नही है। उसमे इसके कारण भी प्रस्तुत किये हैं कि यह धर्म व्यक्ति-परक, ग्रन्थ-परक, विशिष्ट-कालपरक नही है, तीर्थंकर परम्परा अनादि से चली आ रही है, यह सार्वभौम धर्म है। इसके अनेकान्त आदि सिद्धान्त सवको अपनी छत्रछाया मे रहने का अधिकार देते हैं। जैसे वृक्ष विना किसी भेद-भाव के पशु-पक्षी, मानव सभी के लिये फल-प्रदाता है, वैसे ही जैनधर्म भी वीतराग भाव से विना किसी भेद-भाव के प्राणीमात्र के लिये फल-प्रदाता है।

आप सभी की वुद्धि धर्म-ध्यान मे लगी रहे यही मेरी भावना है। साथ ही विचक्षण श्री जी की भाँति समाज मे अनेक विदुषियाँ हो, समाज को राह दिखायें। विचक्षण श्री जी के उपकारो को समाज भूल नही सकता, आप अपने इष्ट को प्राप्त करें यही मेरी भावना है।



सत्गुरु सहज स्वभाव सुझायो

सासारिक क्रियाये टेढी है, कोई सीधी नही है। अन्तरग मे परमात्मा का ध्यान है तो सब सीधे है, सरल हैं, सहज हैं। मजबूरी से, लालच से, थोपने से, किया गया त्याग धर्म नही है।

शाति पर-पदार्थ मे नही है। इच्छाये-वृत्तिया, लालच-लोभ व आकाक्षा का अन्त नही है, उनके बढने से ही अशाति बढती है।

ज्ञान, जल की भाति प्रवाहमय है, दीपक की भाति स्व-पर प्रकाशक है। सयम भावपूजा व द्रव्यपूजा के बिना मन मे स्वच्छता-शुद्धता नही आ सकेगी। स्वय का पुरुषार्थ व भाग्य ही उपयोगी है।

अनन्तकाल से, जितनी भी मुक्तात्मायें हुयी, उनमे स्वभावत भेद नही है। जैसे खान से जितना सोना निकला उसके हजारो आभूषण बने, उन आभूषणो के आकार मे तो भेद है, कोई अगूठी है तो कोई माला है पर खास सोने मे कोई फर्क नही है, उसी प्रकार जितनी सिद्ध-मुक्तात्मायें हैं उनके जीवन चारित्र, व्यावहारिक बातो मे फर्क है, पर मुक्तात्माओ की वीतरागता मे, परमात्मत्व मे, स्वरूप मे कोई फर्क नही है। उनके जन्म स्थान आदि मे तो फर्क है, जैसे कृष्ण का जन्म कारागृह मे हुआ, तो हनुमान का जगल मे, बीच के जीवनक्रम मे फर्क और हो सकता है, जैसे सोने के आभूषणो के आकारो मे है, पर उसकी काति में कोई फर्क नही है। वैसे ही वीतरागी आत्माओ व भगवानो मे स्वरूपगत कोई भेद नही है।

एक गुजराती कहावत है—घी खिचडी एक, पापड तमाशा देख। अर्थात् खाना कितना ही वढिया हो, यदि साथ मे पापड हो तो खाने का आनन्द द्विगुणित हो जाता है। भोजन को रुचिकर वनाने के लिये ही चटनी-पापड का प्रयोग किया जाता है। दवा यदि कडवी होती है तो कुशल चिकित्सक उम दवा को शर्करागुठन के साथ देते है। इसी प्रकार कुशल साहित्यकार, विद्वान्, पडित भी दुरूह सिद्धान्तो को आलकारिक भापा से रुचिकर बनाते है। आलकारिक भापा, मानवो को सीधे-सरल रूप मे सिद्धान्तो को समझा देती है। आजकल व्यावहारिक रूप मे कहा जाता है कि—सीधे-पन का जमाना नही है। यह पूर्णत मत्य नही। सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चपू मे लिखा है कि मूल्य सीधेपन और सरलता का ही है। जगल मे टेढे पेडो को काटकर कोयला वनाया जाता है और सीधे पेडो से सुन्दर-सुन्दर चौकिया, आलमारिया अन्य वस्तुयें वनती है। सोचिये, सीधा वनना चाहिये या टेढा ? मोक्षमार्ग सीधा है। मोक्ष-स्व-भाव है, ससार विभाव है। सर्प जव अपने विल मे घुसता है तो सीधा होकर और जव वही सर्प वाहर चलता है तो टेढा होकर। ससार मे जितनी क्रियायें है सव टेढी हैं, कोई सीधी है ही नही, अन्तरग मे परमात्मा का ध्यान है तो सव सीधे है, सरल है, सहज है।

जो अभी उपासना मार्ग मे हैं, वे जैन है, 'जिन' नही है। उपासक व उपास्य भाव के लिये आचार्य पूज्यपाद ने कहा है नदी मे नहाने वाले, जल के द्वारा जल मे ही, जल को ही तर्पण करते है। सूरज के उपासक दीपक से तर्पण करते है, रोशनी से रोशनी को तर्पण, इसलिये एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया कि-भगवन्! जव तक क्रोधाग्नि नही होगी कर्म कैसे जलेंगे ? उत्तर मे कहा गया—हेमन्त ऋतु मे हिम गिरने से पेड के पत्ते-झड़ जाते हैं, वैसे ही क्षमा-भाव के कारण अन्तरंग मे शीतलता आती है, हिम गिरता है तो अन्तर के कर्मरूपी पत्ते भी झड़ जाते हैं। आत्मा का शीतल-शान्त स्वभाव कर्मो का नाश करने मे समर्थ है। इसलिये शीतल जल उस शान्त स्वभाव के प्रतीकरूप मे चढाते है। शीत भी उपकारक है। 'अप' शब्द जल वाचक है, अप से ही 'अप्पा' वना है, शीतलता के अर्थ मे प्रयुक्त किया जाता है, यह पारिभाषिक शब्द है। जल की भाति ज्ञान भी प्रवाहमय है, स्वप्न मे भी उसका प्रवाह चलता रहता है, एक क्षण को भी उसका प्रवाह, परिण-मन नही रुकता! मन्दिर मे भी वह एकाग्रस्थिर नही हो पाता। राजवार्तिक मे अकलक देव ने कहा है कि जितनी देर सहजता मे मन एकाग्र हो, उतनी ही देर ध्यान कीजिये, फिर अभ्यास मे उसका समय धीरे-धीरे वढाइये। धर्म

सहज-साध्य है, हठधर्म नही है। किसी भी प्रकार से हठ पकडने वाले की तो लोक मे भी निन्दा होती है। सहजता की ही प्रशसा होती है। जब लोक मे भी सहजता प्रशसनीय है तो आध्यात्म मे क्यो नही है? किसी के देखा-देखी झूठी प्रशसा के लोभ मे नाना-वेदनाओ के साथ दस उपवास करना और एक पूजापाठ, आनन्द, स्वाध्याय के साथ व्रत करने मे अन्तर है। भावना के साथ शक्तित त्याग ही उपयोगी है। प्रवचन- सार मे एक जगह लिखा है कि—एक व्यक्ति पेट भर के एक बार भोजन कर लेता है और फिर पूजा-पाठ मे निमग्न हो जाता है, दूसरे दिन तक भोजन का विकल्प भी उसके मन मे नही उठता, एक व्यक्ति दिन भर उपवास करता है, किसी प्रकार रात कटती है, भोर से ही बार-बार खिडकी खोलकर देखता है कि सूर्य निकल गया हो तो पारणा कर लूँ, बडी भूख लग रही है, नाना विकल्प उसके मन मे है, तो वह शरीर से भूखा है, उसका उपवास नही है। इन दोनो के व्रत मे कितना अन्तर है? उपवास किया है तो बिना किसी प्रकार के (भोजन के बारे मे) विकल्प के पूजा-पाठ, स्वाध्याय मे ही मन लगाना चाहिये। धर्म सहज साध्य है, इसमे विचित्रतायें जटिलतायें ढू ढने की आवश्यकता क्या है?

तीन व्यक्ति भूखे हैं। एक व्यक्ति ने स्वेच्छा से चौबीस घटे निर्जल-व्रत की प्रतिज्ञा की है और पूजा-पाठ मे लीन है। दूसरा जो अत्यन्त साधन सम्पन्न है किन्तु रोगी है, इसलिये चिकित्सक ने भोजन के लिये मना किया है, केवल औषधि पर ही रखा है, अत भूखा है। तीसरी एक पीसनहारी है, अत्यन्त गरीब, उसके पास भोजन ही नही है, इसलिये वह भी भूखी है। इन तीनो मे से किसका त्याग-त्याग है और महान् है? प्रथम व्यक्ति जिसने स्वेच्छा से त्याग किया है, वही धर्म है, क्योकि स्वेच्छा से त्याग किया है। शेष दो ने मजबूरी से त्याग किया है। मजबूरी से किया गया त्याग धर्म नही है। कुन्दकुन्दाचार्य ने अचलिका मे कहा है, कि—मैं अन्तरग से, स्वेच्छा से पूजापाठ कर रहा हूँ, किसी के दबाव मे आकर नही कर रहा हूँ। **अन्तरंग व स्वेच्छा से ही धर्म होता है, लालच से, थोपने से नहीं होता।**

पूजा मे जल चढाते हैं उसमे उद्देश्य है कि—सलिल की, जल की शीत-लता की भाति मेरी आत्मा को भी शीतलता प्राप्त हो, उसमे क्षमा प्रकट हो। मेरी आत्मा मे उत्तम क्षमा अभिव्यक्त नही है। वह आप मे (भगवान) अभि-व्यक्त है। क्षमा-शीतलता के प्रतीक रूप मे पूजा के प्रारम्भ मे जल चढाते हैं और पूजा के अन्त मे शातिधारा मे जल चढाते हैं।

जल के पश्चात् 'अक्षत' चढाते हैं अर्थात् चावल जो क्षत नही है। जैसे चावल व उसका छिलका भिन्न होता है उसी प्रकार यह आत्मा व अनात्मा (देह आदि समस्त पदार्थ) के भेद ज्ञान के लिये, कर्म शत्रुओ की पृथकता का ज्ञान होने के लिए तथा उनको पृथक करने के प्रतीकरूप मे चावल-'अक्षत' चढाते हैं। दीपक स्व-पर प्रकाशक है। आपका ज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है मुझे भी ऐसे ज्ञान की प्राप्ति हो इसके प्रतीक के रूप मे दीपक चढाते है। दीपावली को भी इसी प्रतीक रूप मे दीपक जलते हैं। धूप, अष्ट कर्म नष्ट हो, आत्मा परिशुद्ध हो, इसलिये चढाते है। धूप तो मनो जलादी, पर परिणामो मे शुद्धि नही आई तो वह व्यर्थ है, वह केवल द्रव्यपूजा है। भावपूजा मे, अन्तरग मे आठो कर्म निवारण हो, यही भावना है। पूजा उत्तम फल की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हेतु की जाती है। यदि पूजा करने जितना समय आज के वैज्ञानिक युग मे किसी के पास नही है तो कम से कम अर्घ्य तो चढाना चाहिये, पर एकाग्रता से, मन को दबाकर नही। पूजा के पश्चात् शातिधारा प्रवाहित करते हैं, वह किसलिये ? इसलिये कि—**मेरी पूजा का फल मुझे ही नहीं, जगत् को प्राप्त हो इससे जगत् को शांति प्राप्त हो। तीनो लोक के प्राणियो को शाति प्राप्त हो, इस भावना मे देखिये कि पूजक की विचारधारा कितनी विशाल हो जाती है।**

पूजा स्वयं मे एक प्रक्रिया है। द्रव्यपूजा, चचलमन को रोकने के लिये है।

बच्चा चचल होता है, उसकी चचलता को रोकने के लिये उसके पास खिलौना रख देते हैं, वह उसमे रम जाता है। इसलिये जिनका मन चचल हो उनके लिये द्रव्य-पूजा की आवश्यकता है। आत्मानुशासन मे कहा है कि—बदर उसी पेड पर रमते है जिस पर फल-फूल पत्ते हो। फल-फूल पत्ते विहीन पेड पर खेल-कूद लेते है, पर रमते नही हैं। शास्त्र, स्वाध्याय, श्रुत मे जो रम जाता है, वह आत्मा परमात्मत्व के मार्ग को पा सकता है। जैसे फल-फूल वाले पेड पर बन्दर की क्षुधा भी शान्त हो जाती है, वैसे ही शास्त्र-स्वाध्याय में ज्ञान-मुमुक्षु आत्मा की भूख शान्त होती है। इसलिये श्रुत-शास्त्र में ही रमें, तत्वज्ञान में एकाग्र हो, इसी मे शाति है। बाजार से, हजार रुपये देकर भी शाति प्राप्त नही की जा सकती है। शाति स्वय में अपने मे मौजूद है। दुनिया मे अशाति है, स्वय मे शाति है। शाति पर पदार्थ में नही है। इच्छायें-वृत्तिया बढने से अशाति बढती है, ये नाखून की भाति स्वय के लिये ही घातक है, इनको बढने नही देना है, काटना

है, इनको, व्यर्थ के विचारो को काटने के लिये पूजा-पाठ आदि हैं।

द्रव्य-पूजा साधन है। एक व्यक्ति ने एक महात्मा से कहा—महात्मन्! मैं पूजा करना चाहता हू, पर मैं भगवान् को चढाऊ क्या? यदि फूल चढाता हू, तो वह भौरे का झूठा है, दूध-बछड़े का झूठा है, चन्दन सर्प का झूठा है, महात्मा ने कुछ पदार्थ बताये, उन सबको उस व्यक्ति ने झूठा सिद्ध कर दिया। अन्त मे महात्मा ने कहा—जा तेरा मन ही भगवान् को चढा दे। वह व्यक्ति बोला—पर उस मन मे तो क्रोध, मान, माया, लोभ की गन्दगी भरी हुई है, उसे कैसे चढाऊ! अर्थात् स्वच्छ मन से, शुद्ध-भाव से की गई द्रव्य पूजा व भाव पूजा ही सिद्धिदायक है। हाथ से सिलाई करते समय धागे के अन्त में गाठ लगाकर या वैसे ही उसे रोक नही ले, तो सारा दिन पच जाये पर सिलाई नही हो सकेगी उसी प्रकार सयम के विना मन मे स्वच्छता-शुद्धता नही आ पायेगी। यहा दृष्टान्त मे गाठ केवल रोकने के अर्थ मे कही गई है। सयम मे द्रव्य सयम भी होना चाहिये और भाव सयम भी। द्रव्य सयम—खान-पान, भक्ष्या-भक्ष्य के लिये और भाव सयम मे विकल्पो को रोके, भावो की कही तो सीमा बाध ले। दूसरे के वैभवादि को देख स्वय भी भावनाओ मे उडानें भरना उपयोगी नही है। दूसरे का दैव व पुरुषार्थ हमारे लिये कारगर नहीं है वह हमारे लिये शाश्वत नहीं है।

जैसे एक व्यक्ति अपने दामाद को खूब धन देता ही जाता है, पर पुरुषार्थ के विना अथवा भाग्य मे न होने से दामाद फिर भी धनी न बन सका। स्वयं का पुरुषार्थ व भाग्य ही उपयोगी है। स्वय के पुरुषार्थ के विना, ऐसे प्राप्त धन का मूल्य भी कोई नही समझता। एक पिता तो भूखा रह कर, कष्ट उठाकर, पसीना बहाकर धन कमाता है, किन्तु बच्चे, उसके पीछे जो तपस्या है, उसका मूल्य न समझ पाने के कारण, उसकी कीमत नही समझ पाते और उसे गवा बैठते है।

दुनिया की चकाचौंध मे नहीं फसना चाहिये। स्वपुरुष से ही लाभ है। लालच मे स्वय दहेज लें और जब देने का समय आये तो आन्दोलन करें, कहा तक उचित है? क्या दहेज से प्राप्त धन, किसी के द्वारा प्रदत्त धन सारी उम्र चल सकता है आज आप दहेज मागते हैं, पर आपका भी समय आयेगा, आपसे भी मागा जायेगा।

एक वृद्ध व्यक्ति था। उसकी पुत्रवधू एक दिन अपने पति से बोली—मुझसे तुम्हारे बूढे पिता की सेवा नही होती, इनको गगा नदी में डुबो आओ।

पुत्र ने मना किया, हिचकिचाया, पर पत्नी के वार-वार आग्रह व जिद पर वह मान गया। पिता को गगा-स्नान के बहाने ले गया। वह नदी मे अन्दर चलता गया। पिता ने कहा—वेटा और आगे मत वढ, पानी गहरा है डूव जायेगा, मैं डूव गया तो कोई वात नही, पर तुझे कैसे डूवने दू गा। पिता की ऐसी स्नेहसिक्त वात सुनकर पुत्र रोने लगा। पिता ने रोने का कारण पूछा। पुत्र ने सारा वृत्तान्त कह दिया, तव पिता वोले—जैसा तुम मेरे साथ करोगे, तुम्हे भी वैसा ही भोगना होगा, तुम्हारे पुत्र भी तुम्हारे साथ ऐसा ही व्यवहार करेंगे। इसलिये दुर्भावनायें, कुटिलतायें, हठ छोड़कर व्यवहार-जगत् मे भी सहजता को अपनाना चाहिये।

वडी विचित्र वात है, हम एक कुरीति को हटाते हैं और दो कुरीति सामने आ जाती है, वढ जाती है। हमारे देश के महापुरुषो ने, आचार्य शातिसागरजी आदि ने मृत्युभोज व सती प्रथा जैसी भयानक कुरीतिया हटायी तो दहेज की कुरीति पैदा हो गई। व्यावहारिक-जीवन मे अनेक विकृतिया आ गई है।

पूजा-पाठ के साथ व्यावहारिक जीवन में, समाज मे जो विकृतिया फैल रही हैं, उनको रोकना चाहिये। जीवन को सहज रखना चाहिये। वैभव शाश्वत नही है। आत्म-कल्याण का मार्ग, धर्म ही श्रेष्ठ है। इतिहास साक्षी है कि जो त्यागते गये वे पूज्य होते गये, जो जोडते गये वे डूवते गये। राम ने राज्य त्याग दिया अपना अधिकार दिया। कोई अपने फटे कपडे भी सहजता से नही त्यागता। उनके त्याग ने उन्हे अजर-अमर व महान् वना दिया, वे आदर्श वन गये। लक्ष्मण के द्वारा इसका विरोध करने पर राम ने कहा कि–यह सिहासन शाश्वत नही, यह अमरता नही देगा। तू शाश्वत को चाहता है या नश्वर को ? शाश्वत को चाहता है तो मेरे साथ आ जा। राम ने त्याग से इतिहास में एक आदर्श प्रस्तुत किया। त्याग मे शांति है। लालच-लोभ, आकाक्षा मे शाति नहीं, इनका कोई अन्त नहीं है।

भारत धर्म-प्रधान देश है। यहा कुरीतिया नही होनी चाहिये। धार्मिक भावना होगी, तो कुरीतिया नही हो सकती। वैभव पर शाश्वत विश्वास मत कीजिये। वेटी-दामाद को नश्वर धन के स्थान पर आत्म-कल्याण का, शाश्वतता का मार्ग वताने हेतु धर्म-ग्रन्थ दीजिये। दहेज मागना सामाजिक अपराध है। क्या धन कभी किसी का हुआ है ? वह तो चचल है।

एक व्यक्ति की जेब से एक नोट गिर गया। वह व्यक्ति उसे उठाने लगा कि यह तो मेरा है। यह सुनकर वह नोट हँस पडा और कहने लगा कि मैं हजारो लाखो लोगो के पास होकर आ रहा हू, सबने मुझे अपना बताया है, पर मैंने किसी को अपना नही माना। सत्य है, **लक्ष्मी शाश्वत नहीं है, इसके लिये धर्म को, ईमान को मत छोडिये।** ईमान-धर्म व स्वपुरुषार्थ से धन प्राप्त करना भी सामाजिक पूजा है।

नय निश्चय एकातथी, आमा नथी कहेल।
एकाते व्यवहार नहि, बन्ने साथ रहेल।१३२।

अर्थ—यहा एकान्त से निश्चयनय को नही कहा, अथवा एकान्त से व्यवहारनय को भी नही कहा। दोनो ही जहा-जहा जिस-जिस तरह घटते है, उस तरह साथ रहते है।

उपादाननु नाम लई, ए जे तजे निमित्त।
पामे नही सिद्धत्वने, रहे भ्रातिमा स्थित।१३६।

अर्थ—सद्गुरु की आज्ञा आदि आत्म-साधन के निमित्तकारण हैं और आत्मा के ज्ञान दर्शन आदि उसके उपादान कारण है—ऐसा शास्त्र मे कहा है। इससे उपादान का नाम लेकर जो कोई उस निमित्त का त्याग करेगा वह सिद्धत्व को नही पा सकता और वह भ्राति मे ही रहा करेगा। क्योकि शास्त्र मे उस उपादान की व्याख्या सच्चे निमित्त के निषेध कहने के लिये नही कही। परन्तु शास्त्रकार की कही हुई उस व्याख्या का यही परमार्थ है कि उपादान के अजाग्रत रखने से सच्चा निमित्त मिलने पर भी काम न होगा, इसलिये सद्-निमित्त मिलने पर उस निमित्त का भी अवलम्बन लेकर उपादान को सम्मुख रखना चाहिये और पुरुषार्थहीन न होना चाहिये।

—**श्रीमद् राजचन्द्र** (आत्म प्रसिद्धि)

....वन्दे तद्गुण लब्धये !

प्रपच की' चकाचौंध से घबराकर हमे श्रद्धा मे लौटना होता है, शान्ति के लिये अन्यत्र स्थान नही है। मदिर व मूर्ति साकार से निराकार की ओर जाने के लिये साधन है। पूजा का आधार गुण है। हमारे परिणामो की रक्षा हेतु मूर्ति साधन है। मन-वचन-काय की एक क्षण की एकाग्रता से असख्यात् कर्मों की निर्जरा होती है।

मनुष्य इस दुनिया मे जन्मता है तो वह पहले पालने मे खेलता है, पालने से निकलकर कमरे मे खेलता है, कमरे से निकलकर सडक, गली, मोहल्ले मे खेलता है, पृथ्वी और विशाल आकाश की ओर चक्षु खोलकर दृष्टिपात करता है। उस विशालता की ओर देखकर चिन्तन की धारा शुरू हो जाती है। चिंतन की धारा जब सूक्ष्म से सूक्ष्म बातो तक पहुचती है, वह उनका अवलोकन करता है, उनका अनुभव करता है, तब उसकी दृष्टि से सकीर्णता, छोटे-बडे का भेद-भाव, कूप-मण्डूकता भी निकलती जाती है।

एक बाग मे एक सुन्दर कली फूटी। वही जमीन पर एक पत्थर का टुकडा पडा था। किसी आने जाने वाले से उस पत्थर की ठोकर लग गई। यह देखकर वह कली हँस पडी—मुझे देख सब खुश होते हैं और तुझे सब ठोकर लगाते हैं। दैवयोग से एक कारीगर वहा आया और पत्थर के उस टुकडे को ले गया, उसकी एक मूर्ति बनवाकर मन्दिर मे प्रतिष्ठित करा दी। वह कली फूल बन गयी, उसे किसी व्यक्ति ने तोडकर उस मूर्ति के सामने भेंट कर दिया। तब उस मूर्ति ने कहा—अरे, तुम तो मेरी हँसी उडाती थी, आज यहा मेरे चरणो मे आकर कैसे बैठ गई। तब उस फूल ने कहा—सच है, कभी भी किसी के प्रति घृणा-भाव नही रखना चाहिये।

जब चिन्तन की धारा विकसित हो जाती है तो कोई छोटा- बडा नही रहता। प्रत्येक पदार्थ मे अनन्तगुण हैं, वे अनन्त गुणो के भडार हैं। उन गुणो को देखने की दृष्टि विशालता से ही प्राप्त हो सकती है।

मनुष्य गृहस्थ जीवन मे अनेक कठिनाइयो, परिश्रमो के कारण थक जाता है, उस थकान को उतारने के लिये कोई मनोरजक कार्य मे मग्न हो जाता है, कोई खेल खेलता है। वह मनोरजन तत्क्षण के लिये ही उपयोगी होता है। बच्चा खिलौने से खेलता है किन्तु जब भूख लगती है तो वह भी उस खिलौने को छोड देता है अर्थात् खेल की, मनोरजन की भी सीमा है, पर **अध्यात्म की सीमा नहीं है, वह असीम है। तत्त्वज्ञान, शास्त्र-स्वाध्याय, सत्सग-योग, पूजा-पाठ आदि आत्म-विशुद्धि के भाव हैं। आत्म-विशुद्धि के मूल मे दु खो से मुक्ति के भाव हैं।** मनोरजन तात्कालिक है, उनके पीछे थकान उतारने की भावना है। थकान उतर गई तो उस मनोरजन की उपादेयता खत्म, पर **अध्यात्म का सम्बन्ध तब तक है जब तक वह दु खों से पूर्णत मुक्त न हो जाये, इसीलिये आध्यात्मिकता के विकास स्रोत मन्दिरों का निर्माण हुआ है।** मनोवैज्ञानिक चिन्तन के बिना, दृष्टि के बिना, मदिरो का महत्त्व समझ मे नही आता। कुछ आधुनिक लोग मदिरो का महत्त्व न समझकर इनकी आलोचना करते है। **जैनाचार्यों ने दो शब्द दिये—चैत्य और चैत्यालय। चैत्य=जिनबिंब, साकार-मूर्ति; चैत्यालय=वह आलय है जिसमें मूर्ति-चैत्य विराजमान हो। चित्त की उपासना करने से चैत्य शब्द बना है।**

चैत्य मे मूर्ति की पूजा मे हम मूर्तिमान् की पूजा करते हैं। कहा है—**'वन्दे तद्गुण लब्धये'**--उनके से गुण हमे भी प्राप्त हो इसलिये हम वन्दना करते हैं। मूर्ति के पीछे मूर्तिमान की, गुणो की पूजा है। जैसे किसी की अच्छी वस्तु को देखकर विचार आता है कि हमे भी यह वस्तु मिलनी चाहिये। वैसे ही आचार्य कहते हैं कि **भगवान पूर्ण गुणवान हैं उनके से गुण जो मुझमे भी हैं, पर प्रकट नहीं हैं, वे मुझमे भी प्रकट हो जायें।** इसलिए कहा है कि—

मोक्षमार्गस्य नेतार, भेत्तार कर्मभूभृतां।
ज्ञातार विश्वतत्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥

अभिप्राय पत्थर की, पाषाण की पूजा नही है, मूर्तिमान के गुणो की पूजा है।

एक व्यक्ति बार-बार मूर्ति को नमस्कार कर रहा था, दूसरा व्यक्ति एक बार नमस्कार करके बैठ गया। उसने देखा कि यह बार-बार क्यो नमस्कार कर रहा है ? उसने पूछा—तुम उस पत्थर को क्यो बार-बार नमस्कार कर रहे हो ? तब नमस्कार करने वाले व्यक्ति ने कहा कि—पत्थर को तुम पूज रहे हो, मैं तो इसे सर्वज्ञ के प्रतीक के रूप मे पूज रहा हूँ, अप्रत्यक्ष रूप मे उस सर्वज्ञ को पूज रहा हूँ। दृष्टि भावो पर आधारित है।

एक मन्दिर था, जिसमे सोने की, चाँदी की मूर्ति थी। मदिर मे एक सुनार व उसका पुत्र दर्शन करने गये। वे उस मूर्ति मे सोने को ही देख रहे थे, उसमे कितना टचका सोना है, कितना सोना है ? बस यही विचार उनके मन मे था। उस सुनार के जाने के पश्चात् एक सर्राफ उस मदिर मे गया। उसने उस सोने-चादी का, बाजार-भाव से मूल्य आका। उसके बाद एक कलाकार पहुचा। वह उसमे कला की दृष्टि से त्रुटिया देख रहा था। फिर एक व्यक्ति आया वह भक्त था न वह स्वर्ण की शुद्धता परख रहा था न वह उनकी कीमत आक रहा था, न कला परख रहा था, उसको उस मूर्ति मे वीतराग भाव नजर आ रहे थे, उसको तिल-तुष मात्र भी राग नही था। उसे मूर्ति मे गुण ही गुण दिखाई दे रहे थे, क्योकि वह भक्त था। मूर्ति मे गुणो की पूजा है, सोने-चादी-कला की पूजा नही है।

कलाकार तो हर वस्तु मे त्रुटि निकालता है। पृथ्वी मण्डल मे जितने पदार्थ हैं, उनमे सबमे कोई न कोई कमी है। स्वर्ण अत्यन्त मूल्यवान, विनिमय-शक्तियुक्त है कि जहा चाहे वहा इसके बदले वस्तुयें खरीद सकते हैं। उम्र भी बहुत है पर इसमे गध नही है। जिसमे गध है उस फूल की उम्र बहुत कम है। स्वर्ण मे सुगन्ध होती तो फूल, पुष्प को कौन पूछता। किन्तु सुगध रहित स्वर्ण भी पूज्य है, साधन है—क्योकि उसमे अन्य कई गुण हैं। मूर्ति मे भी मूर्तिमान के गुणो की पूजा है। **मदिर व मूर्ति साकार से निराकार की ओर जाने के लिये साधन हैं।** साधन के पीछे साध्य के भाव होते हैं। तराजू पैसा नही कमाता है, जिसने उसे पकड रखा है, उसकी अकल पैसा कमाती है। इसी प्रकार साकार मे निराकार की ओर जाने के लिये, साकार (अक्षरादि के, मूर्ति आदि के) पीछे भाव हैं, पदार्थो के पीछे निराकार भाव हैं। हम फूल के रूप रग का वर्णन करते है, फिर फूल की गध-खुशबू का वर्णन करते है, वह उसका गुण है, क्या वह दिखाई दे रहा है ? गध दिखाई नही देती तब भी उसका वर्णन कर रहे हैं, केवल अनुभव के आधार पर। इसी प्रकार भगवान

के गुण दिखाई नही देते तो भी अनुभवगम्य होने से वर्णन करते हैं। भक्तामर-स्तोत्र–अर्थात् जो भक्त पढे, वही अमर हो जाये, मे लिखा है—

सोह तथापि तव भक्तिवशान्मुनीश,
कर्तुं स्तवं विगतशक्तिरपि प्रवृत्त ।
प्रीत्यात्मवीर्यमविचार्य मृगोमृगेन्द्रं,
नाभ्येति किं निजशिशो परिपालनार्थं । ५ ।

भावार्थ—हे भगवान् ! हिरणी के बच्चे को जब शेर पकड लेता है, शेर से मुकावला करने के योग्य न होते हुये भी वह हिरणी अपने बच्चे को छुडाने के लिये मोह के कारण उससे (शेर से) जूझ पडती है, वैसे ही मैं भी आपके गुणो को गिनाने, वताने योग्य नही हू, किन्तु फिर भी भक्तिवश आपके गुणो को मापने चला हू ।

प्रत्येक स्थान पर गुणो की स्तुति है, गुणो की पूजा है । मानव गुणो का पूजक है । लौकिक-व्यवहार मे भी जब भी कोई वस्तु खरीदते हैं तो पहले उसके गुणो पर नजर रखते हैं, गुण परखते हैं, तभी खरीदते हैं। इसी प्रकार उस सर्वज्ञ के गुणो की ही पूजा करते हैं । पूजा मे, गुण आधार-शिला है । भगवान के, वीतराग के गुणो को नापना ऐसे ही है जैसे—एक मिट्टी का ढेला समुद्र की गहराई मापने चले अथवा हिमालय की उत्तुगता नापने के लिये वढे । हम उसके अनन्त गुणो मे से कुछ गुणो की स्तुति या वर्णन कर सकते हैं, तभी तो आचार्यों ने उन्हे अनिर्वचनीय कहा है, क्योकि वचनो से गुणो को नही माप सकते, वे तो अनुभव करने योग्य है, अनुभव से जाने जा सकते हैं । कोई गुड के स्वाद का कितना ही वर्णन करे, पर विना चखे उसके स्वाद का, मीठेपन का ज्ञान हो ही नही सकता । वैसे ही दूसरे के द्वारा वताये गये आत्मानुभव को हम नही जान सकते जव तक कि हम स्वय उसको अनुभूति न करलें । दूसरो के अनुभव पर विश्वास भी करेंगे तो वह क्षणिक होगा । स्वय की अनुभूति ही सर्वोपरि है । दूसरो के सुख-दुख का अनुभव कोई व्यक्ति नही कर सकता ।

राजस्थान मे एक बैलगाडी जा रही थी । उसमे बहुत सारा भूसा रस्सियो-नाडो द्वारा वधा हुआ था । राह मे एक व्यक्ति मिला वह उस गाडी मे वैठकर आगे जाना चाहता था । गाडीवान ने उसे भूसे के ऊपर बैठा दिया चलते-चलते मार्ग मे असमतलता के कारण गाडी मे वधा घास-भूसा ढीला

होकर हिलने लगा। वह व्यक्ति वोला—अरे गाडीवान ! मैं गिर जाऊगा। गाडीवान ने कहा कि तुम नाडा पकड लो, फिर नही गिरोगे। उस व्यक्ति ने ने अपने पायजामे का नाडा पकड लिया। थोडी ही दूर पर एक गड्ढा आया, उसके उछाल से वह व्यक्ति गिर गया। गाडीवान ने कहा—तुमने नाडा नही पकड रखा था क्या ? वह व्यक्ति वोला—कैसे नही पकडा था, देखो मैने अभी भी पकड रखा है। उसने वक्ता के नाडा शब्द का अभिप्राय न समझकर अपनी समझ के अनुसार अपने पायजामे का नाडा पकड लिया। इसी प्रकार **पाषाण-पूजक की वात करने वाले हमारे अभिप्राय को नहीं समझ पाये। हम उस पाषाण के नहीं गुणो के पूजक हैं, उस गुणवान को उस मूर्ति मे स्थापना कर आदर्श रूप मे पूजते हैं, हम भी वैसे वनें, इसलिये पूजते हैं।** जैसे व्यवहार मे हम सामान्य वस्तुओ को भी गुणो के आधार पर मूल्य प्रदान करते हैं वैसे ही वीतराग परमात्मा के गुणो की पूजा करते है। जो स्वय गुणवान है, वह प्रत्येक वस्तु मे गुण ही देखता है, उस वस्तु के रूप-रग को देखकर महत्त्व नही देता। गाय चाहे काली हो, लाल हो, सफेद हो, दूध सदैव सफेद होता है।

एक सन्त हुए हैं, जिनका नाम एकनाथ था। उनका प्रतिदिन गगास्नान का नियम था। उनके क्षमाभाव, त्याग आदि की नगर मे वहुत चर्चा थी। उस नगर मे एक पठान भी रहता था, उसने एक वार उनकी परीक्षा लेने का विचार किया। उसका घर उसी मार्ग पर था जिस पर से वे सन्त गगा स्नान के लिये आते जाते थे। दूसरे दिन जव सन्त एकनाथ उधर से गगा स्नान कर लौट रहे थे, उस पठान ने ऊपर से पान का पीक थूक दिया, जिसके छीटे उन सन्त महोदय के शरीर पर उछल गये। सन्त पुन गगास्नान के लिये चले गये, लौटते समय उस पठान ने फिर पान थूक दिया सन्त पुन गगास्नान के लिये चल दिये। इस प्रकार यह क्रम सौ वार चला। जव एक सौ एक वार स्नान करके सन्त लौट रहे थे, तव वह पठान अपने मकान से नीचे उतरकर आया और उनके चरणो मे गिरकर रोने लगा तथा अपनी धूर्त्तता की, गलती की क्षमा चाहने लगा। सन्त एकनाथ ने कहा—भाई मैं तो तुम्हारा उपकार मानता हूँ। क्योकि प्रतिदिन मैं केवल एक वार गगास्नान करता था, किन्तु आज मेरा भाग्य उदय था कि मुझे एक सौ एक वार गगास्नान का अवसर प्राप्त हुआ।

वुद्धिमान मानव प्रत्येक वस्तु घटना आदि में से गुण ही ग्रहण करता है। गुण ही प्रेरणादायक होते हैं। जगत मे कोई वस्तु गुण-विहीन नही है,

सबमे कोई न कोई गुण अवश्य है और जिसमे सम्पूर्ण गुण है वही वीतराग भगवान है। अकलकदेव ने कहा है कि—हम नाम के फेर मे नही पडते, हम तो गुणो के पूजक हैं। कोई दूध को 'मिल्क' कहता है, कोई 'क्षीर', तामिल-भाषी 'पाल' कहते हैं, कन्नड भाषा मे 'हाल कहते हैं। कोई शक्कर को 'शूगर' कहते हैं, मराठी मे 'साखर' कहते हैं. रशियन भाषा मे 'साखार', कन्नड भाषा मे 'सकरे'—इतने विभिन्न उच्चारणो व नामो से क्या उसके मीठापन मे दूध के स्वरूप मे क्या कोई अन्तर आया ? वे सब पदार्थ वैसे ही गुणवान हैं। तीन लोक के समस्त पदार्थ द्रव्य गुण-पर्याय सहित जिनकी आत्मा मे झलक रहे हैं, जिन्हे वे स्वय भी जानते है और दूसरे को बताने मे भी समर्थ हैं, जो जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हैं, पुनरपि जिनका जन्म नही है, वे ससार समुद्र से पार हो गये। जिनके वचन पूर्वापर विरोध से मुक्त हैं, (वीतराग के वचन मे कोई दोष नही है) जिनके उपदेश प्राणिमात्र के कल्याण के लिये हैं। समस्त भव्य जीव जिनके उपदेशो से तिर जाते हैं, जिनकी वाणी मे सकीर्णता, सकुचितता नही है ऐसे वीतराग भगवान के मुख से अमृत झरता है। इन गुणो के कारण वे ही हमारे पूज्य हैं। सब सुहित कर, सब अहित हर · ····· ·

पानी सबकी प्यास बुझाता है, शाति प्रदान करता है, तृप्त करता है। वीतराग की वाणी आत्मा को शाति प्रदान कर परमात्मत्व की ओर ले जाती है। उनके वचनो के लिये कोई उपमा नही है। वे निष्कलक हैं। वे न पूजक से खुश हैं न निन्दक से नाराज। दर्पण मे मुह टेढा करके देखने से न वह नाराज होता है। न खुश होता है, दर्पण मे अग्नि दिखाई देती है तो भी दर्पण जलता नही है, दर्पण मे जल दिखाई देता है तो भी वह गीला नही होता। वीतराग भगवान निराकार हैं, ससार के समस्त देव जिनके चरणो मे वन्दना करते हैं। आचार्य अमितगति ने कहा है—वे भगवान मेरे हृदय मे हैं जिन्हे ससार के समस्त इन्द्र-मनुष्य नमन करते हैं व ग्रथो मे जिनकी स्तुति की है, जिनके पास सपूर्ण गुण मौजूद हैं, जिन्होने समस्त दोषो का नाश कर दिया है, प्रक्षालित कर दिया है। नाम कोई भी हो, परन्तु उनमे उपर्युक्त गुण हैं तो वे भी पूजनीय हैं, वन्दनीय हैं।

गुण ही मनुष्य की श्रेष्ठता के परिचायक हैं। गुणवान मनुष्य दूसरे मे भी गुण ही देखता है। गुणो के आधार से ही पूजा की रचना हुई है।

इस प्रपच की चकार्चौंध से घवराकर हमे श्रद्धा मे ही लौटकर आना होता है, शाति के लिये और कही स्थान नही है। साधनावस्था मे आत्मा, परमात्मा मे श्रद्धा करता है, जव स्वय परमात्मा हो जावे तव श्रद्धा की आवश्यकता नही होती। वच्चा जव चलना सीखता है तभी अगुली पकडकर चलता है, जव वडा हो जाता है, चलना सीख चुकता है, तव वह किसी की अगुली का सहारा नही लेता। जव तक परमात्मा की आराधना मे एकाग्र हो स्वय मे नही समा जाते, तव तक परमात्मा का साधन का आश्रय लेते है। साकार (मूर्ति) की पूजा निराकार की प्राप्ति के लिये है। साकार का आश्रय तव छोडते हैं जव इष्ट की प्राप्ति हो जाये। नसैनी को तभी छोडते है जव छत पर पहुँच जायें, वीच मार्ग मे छोड देगे तो गिर जायेंगे। किनारे पहुचने से पूर्व नाव छोड देंगे तो डूव जायेगे। साध्य प्राप्त होते ही साधन स्वयमेव छूट जाते हैं, खत्म हो जाते हैं। पर यदि कोई वीच मे ही साधन को छोड दे तो इष्ट की प्राप्ति नही हो सकती।

धर्मध्यान व आत्म-कल्याण के लिये—स्वाध्याय, चिंतन के लिये—साकार मूर्ति, और सत्सग के लिये विद्वान्-व्रती त्यागी साधन हैं। मदिर की आवश्यकता पर आचार्यो ने वहुत वल दिया है। हमारा मन क्षणभर भी एकाग्र नही हो पाता पर साकार—मूर्ति के अवलवन से एकाग्र नही हो सकता है व हो जाता है। वही क्षण मूल्यवान है। मन-वचन-काय की एक क्षण की एकाग्रता मे असख्यात कर्मो की निर्जरा होती है।

परमात्म-प्रकाश मे लिखा है कि—चाहे आख खोलकर वैठो, चाहे वद करके, चाहे खडे रहो, ये सव तो वहिरग हैं, इसका इतना महत्त्व नही है, महत्त्व इसका है कि मन एकाग्र कितना है। आचार्यो ने कहा है कि – एक लाख पत्तो को सुई से छेद दीजिये। एक पत्ते से दूसरे पत्ते को छेदने मे, तीसरे पत्ते को छेदने में जो समय लगा उसका हिसाव लगाना कठिन है, एक क्षण मे एक लाख पत्तो को छेदा जा सकता है। वैसे ही एक क्षण मे अनन्त कर्मों को छेदा जा सकता है। दुकान पर सारा दिन वैठने पर भी कोई ग्राहक न आया तो भी कोई दुकान वन्द करके चला नही जाता, कुछ देर वैठने से भी मन एकाग्र न हो तो भी विश्वास मत छोडो, दृढता रखो, अभ्यास जारी रखो, मन अवश्य एकाग्र होगा।

प्रतिदिन कुछ समय धर्मध्यान मे व्यतीत करना चाहिये। हमे भगवान की पूजा, अर्चना, श्रद्धा, वीतरागभाव, उपासना मे लौटना होगा। इससे लाभ

ही है। कोई हानि नही है। क्योकि पूजा मे हम स्वय की आत्मा का प्रक्षाल करते हैं, भगवान की पूजा-प्रक्षाल तो साधन बना लिये है। लाठी को पकडकर चलते है तो लाठी पर उपकार नही है, उसका हम पर उपकार है, वह हमे गिरने मे बचाती है, वैसे ही हमारे परिणामो की रक्षा करने के लिये ही मूर्ति-साधन है, उससे स्वय का लाभ है, उपकार है।

पर-पदार्थ का अन्त नही है। सब बात स्वय को पहचानने के लिये बनी है। निदान बाधकर लौकिक इष्ट की प्राप्ति के ध्येय से पूजा-पाठ नही करना चाहिये, वीतराग की इस प्रकार से पूजा करना तो ऐसा ही होगा मानो हीरे की दुकान पर जाकर काच की फरमाइश कर रहे हो। वीतराग के पास तो हमे प्रशस्त भाव, आत्मा स परमात्मा बनने का भाव रखना चाहिये, इसी मे हित है, कल्याण है, वही धर्म है और धार्मिक है।



न चाणुमात्रो न कणप्रमाणो नाप्येवमङ्गुष्ठसमप्रमाण ।
न योजनात्मा न च लोकमात्रो देही सदा देहपरिप्रमाण ॥

अर्थ—आत्मा अणुमात्र भी नहीं हैं, एक कणमात्र भी नहीं हैं, एक अंगुष्ठ समान प्रमाणवाला भी नहीं हैं और न इसका प्रमाण योजन का हैं, न लोकव्यापी हैं। आत्मा सदा अपने देह के प्रमाण वाला अखण्ड हैं।

• उग्रादित्याचार्य, कल्याणकारक ७/५.

विभाव का कारण है— 'विकारी भाव'

निर्मोही अल्पज्ञानी है तो भी मुक्तिगामी है और प्रकाण्डज्ञानी मोह सहित है, तो वह मिथ्यावादी है। परमाणु-परिमाण राग भी जहर है, घातक है, वह शुद्ध सम्यक्त्व नही देता। जिसके राग है, वह ससारी है, प्रपची है।

विकारी भाव स्वय के है, उनसे पुद्गल कर्म वधते है और उन कर्मों के उदय से ससार-भ्रमण होता है।

सत्य अखण्ड है, अव्यावाध है। पूर्ण-सत्य अनिर्वचनीय है। नय आशिक ज्ञान कराता है, वह पूर्ण-सत्य नही, पर सर्वथा असत्य भी नही है।

आचार्यो ने तत्त्वज्ञान को धर्म-ग्रन्थो मे विभिन्न रूपो मे समझाया है, किसी शास्त्र मे सूत्र रूप मे, किसी शास्त्र मे गाथा रूप मे, किसी शास्त्र मे पद्य मे तो किसी शास्त्र मे गद्य रूप मे। सूत्रमय भाषा मे तो मानो राई मे छेद कर सागर भर दिये गये हैं, छोटे-छोटे सूत्रो मे अत्यन्त गूढ अर्थ भर दिये हैं। जयधवला के प्रारम्भ मे आचार्य वीरसेन ने कहा 'अल्पाक्षरो', अर्थात् सूत्र उसको कहते हैं जिसमे अल्प अक्षर हो, सार हो, तथ्य हो, जो निर्दोष हो, गूढ अर्थ वाले हो व असदिग्ध हो। अनागार धर्मामृत मे कहा है कि कई शव्द अपने मे दो विरोधी धर्मो को लिये हुये है। जव हम दूध की वात करें तो एक दूध आकडे के पेड का जो जहर है, आख मे डाल दें तो आख अधी हो जाये और एक गाय का दूध-वह अमृत है। ऐसे ही धर्म को लें तो कुछ

लोग वलि आदि को धर्म मानें और कोई अहिंसा को धर्म मानें। इस प्रकार एक ही शब्द को दो विरोधी अर्थ मे प्रयोग होने के कारण असदिग्धता नही रहती, जबकि आचार्यो ने कहा कि असदिग्धता रहनी चाहिये। शब्दो को, अर्थो को असदिग्ध रूप मे समझने के लिये पचपरावर्तन को समझना आवश्यक है।

तत्त्वार्थसूत्र मे कहा है कि जगत्, उसका कार्य, उसका स्वभाव, ये वैराग्य उत्पत्ति के लिये आवश्यक है। ससार के प्रपच से विरक्त होने के लिये इनका स्वरूप-स्वभाव समझना चाहिये। जगत् व कार्य को समझने के बाद ही मनुष्य मे उसके प्रति जो मिथ्या आसक्ति है कि—मैं इस प्रपच के साथ एकाकार हूँ, वह दूर होने लगेगी। लोक मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल, ये छ द्रव्य हैं। कुछ दार्शनिको ने उन छहो द्रव्यो को एकाकार, एक ही वस्तु माना, तो कुछ दार्शनिको ने पृथक्-पृथक् माना। अमृतचन्द्राचार्य ने कलश के द्वारा कहा है कि इस जीव ने अब तक कहाँ जन्म नही लिया, कौन से विचार नही विचारे। पर जो अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता के प्रति दृढ है, वही यति है, त्यागी है, वैरागी है। अमृतचन्द्राचार्य ने निम्न कलश देकर समझाया कि—

> **विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा-**
> **दात्मानमात्मा विदधाति विश्वम्**
> **मोहैककदोऽध्यवसाय एव**
> **नास्तीह येषा यतयस्त एव।१७२।**

—विश्व के पदार्थो के साथ सम्बन्ध जोडकर एकाकार रूप देख रहा है, मैं विश्व मे हूँ और विश्वमय हूँ। जब तक अपनी आत्मा को स्वतन्त्र अनुभव नही करता, समस्त पदार्थों से विभक्त रूप मे, मोह से वह जकडा है तो पचपरावर्तन मे परिभ्रमण करता रहता है। **अपनी आत्मा को देखिये।** पेट मे दर्द आपके हो रहा है और दवा कोई और लेले तो क्या आपका दर्द समाप्त हो जायेगा ? व्यावहारिक रूप मे भी ऐसा सम्भव नही, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य, प्राणी स्वय शुभाशुभ लिये हुए है। प्राणी पचपरावर्तन के अन्दर मिथ्या धारणाओ, एकन्त के कारण भ्रमण कर रहा है। पचाध्ययी मे विश्व के समस्त पदार्थों के साथ सम्बन्ध जोडने वाले को आत्मघाती कहा है। समस्त पदार्थो से अपने को जोडने वाला जीव अत्यन्त मोही है और वह अनन्त ससार तक भ्रमण करेगा। जब तक रोग का निदान न हो

तव तक इलाज कैसे होगा ? पहले यह मानना होगा कि पचपरावर्तन मे जीव मिथ्यात्व के कारण भ्रमण करता है। हम कहते हैं—अकेले मत जाना, साथ ले जाना। जन्मते वक्त व मरते वक्त तो किसी को साथ नही रखा था तो वीच मे किसी को साथ क्यो ले जाते हो ? जव एक पदार्थ के साथ सयोग व वियोग देखते हो तव समस्त प्रपच के द्रव्यो के साथ एकाकार कैसे होते हो ?

प्रत्येक आत्मा अपने आप मे पूर्ण एवं अखण्ड है। वह विश्व में रहते हुये भी उससे पृथक् है—विभक्त है।

पचास्तिकाय मे कहा है—

अण्णोण्णं पविसता दिता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलता विय णिच्चं सग सभावं ण विजह ति।७।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को अवगाहना देते है, आत्मा अनात्मा को अवगाहना देता है किन्तु फिर भी अपनी पृथक् सत्ता को लिये हुये है।

एक पानी का गिलास है, उसमे एक चम्मच चीनी डाल दी, एक चम्मच नमक डाल दिया, तीनो को मिला दिया किन्तु जव चखते हैं तो नमक अपना स्वाद वताता है तो चीनी का भी स्वाद आता है, अर्थात् दोनो पुद्गल हैं, वे भी अपनी-अपनी सत्ता पृथक्-पृथक् वताते हैं, एक होते हुये भी अपना पृथक्-पृथक् गुण वताते हैं तो यह चैतन्य आत्मा कैसे अपना अस्तित्व मिटा सकता है, वह कैसे प्रपच की वस्तुओ से एकाकार हो सकता है ? उस गिलास मे शीतलता जल की, मीठापन चीनी का, खारापन नमक का सव अपना पृथक्-पृथक्, स्वाद-स्पर्श वताते है, द्रव्य दृष्टि से सव पुद्गल हैं पर पर्याय दृष्टि से भेद हैं, तव भी सव अपनी विशिष्टता पृथक् वताते हैं। इस ससार मे छहो द्रव्य पृथक् हैं, साथ रहते हुये भी वे अपना स्वभाव नही छोडते। छहो द्रव्य मे से चार द्रव्य तो अनादि से स्वभाव मे है पर जीव व पुद्गल स्वभाव मे भी हैं और विभाव मे भी हैं, इसलिये जीव, ससारी व मुक्त के भेद मे दो प्रकार के हैं। ससारी जीव व पुद्गल ये दो क्रियावती शक्ति युक्त हैं। इनका सयोग अनादि से है, किसी काल विशिष्ट से सयोग नही हुआ है। कर्मो ने आत्मा को पकड रखा है या आत्मा ने कर्मो को पकड रखा है ? यदि कर्मों ने आत्मा को पकड रखा है तो वह फिर कभी छूट ही नही सकता, वह जड

पूछा गया कि—तुम्हे कैसे पता चलता है? उसने कहा कि—मैं भी तो देखता हूँ - अर्थात् दोनो ही एक दूसरे की ओर देखते थे। इसलिये न केवल पुद्गल ही अपराधी है न केवल जीव ही अपराधी है, इसने वध किया तो पुद्गल इसको छोडेगा नही, इसे उन कर्मों को भोगना होगा।

परम पारणामिक भाव मे निष्क्रियता आ जाती है। जीव कूटस्थ नित्य नहीं है तब निष्क्रियता मे क्या तात्पर्य? निष्क्रियता का अर्थ है—कर्म के ग्रहण करने की क्रिया छूट गई है। जब तक कर्मो के ग्रहण करने की क्रिया चल रही है, उसके मूल मे पारणामिक भाव होते हुये भी वह उदय मे नही है और वह जीव भ्रमण कर रहा है। परमाणु प्रमाण राग भी जहर है वह घातक है, वह शुद्ध सम्यक्त्व नही होने देता। जिसके इतना सा भी राग है वह ससारी है, प्रपची है, मुक्तात्मा नही है।

आचार्य ने लिखा है कि—यह निश्चित है कि क्रियायें द्रव्य के अनुसार ही होगी पर वह बाह्य कारण को लिये हुये भी होगी। बिना बाह्य कारण के यह प्रपञ्च नही चल रहा है। इन दोनो का सम्बन्ध स्वीकार नही करते तो अनेकान्त खत्म हो जायेगा।

अकलक ने प्रमाण सप्तभगी, नय सप्तभगी बताये है। उन्होंने सिद्धि-विनिश्चय टीका मे लिखा है—'कपिवृक्ष सयोग' अर्थात् बन्दर पेड पर बैठा है यह प्रमाण है, नय की दृष्टि मे देखें तो बन्दर तो एक टहनी पर बैठा है पूरे पेड पर नही बैठा। उदाहरण दिया है कि—ग्राम मे मुर्गा बोल रहा है यह प्रमाण है पर नय दृष्टि से वह किसी विशिष्ट भाग मे बोल रहा है, पूरे गाव मे नही बोल रहा। व्यवहार मे बोलते हैं कि यह सडक वहाँ जाती है पर सडक कही नही जाती सडक पर चलने वाला व्यक्ति आता है और जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने सत्य के दस भेद बताये हैं व्यवहार सत्य, सभावना सत्य, सम्मत सत्य, जनपद सत्य आदि। जैसे दूध को मिल्क, हाल, क्षीर आदि कहते हैं वह जनपद सत्य है। किसी सिद्धान्त का पूर्णत अवलोकन करने के लिये उसके किसी पक्ष की उपेक्षा नही कर सकते। **सत्य एक अखण्ड है, अव्याबाध है पर सत्य के पहलू अनेक हैं, जिस पहलू को लेकर चल रहे हैं वह आशिक सत्य है, वह पूर्ण सत्य नहीं है।** इस दृष्टि को न समझ पाने के कारण स्याद्वाद पर अनेक आपत्तिया उठाई गई हैं। पूर्ण को 'अनिर्वचनीय' कहा, क्योकि हम पूर्ण सत्य को एक साथ शब्दो मे अभिव्यक्त नही कर सकते।

इसलिये दिव्यध्वनि भी सापेक्ष व सप्तभगीनय से निकलती है। तीर्थकर का ज्ञान अनन्त है पर वे कथन एक अश का ही करते है, पूर्ण कथन नही करते।

एक ही पदार्थ मे 'है' व 'नही है' इसको विना स्याद्वाद के कैसे स्वीकार किया जा सकता है। 'यह स्त्री है, पुरुष नही है' इसमे 'है' और 'नही है' इन दो परस्पर विरोधी धर्मो को आचार्यो ने वस्तुओ मे एक साथ स्वीकार किये है। इन धर्मो को युगपत् कहने के लिये 'अनिर्वचनीय' कहा। अनेक लोगो ने इसे न समझ पाने के कारण आपत्तिया की हैं, चार्वाक ने एकान्त के कारण आपत्ति उठाई, ब्रह्मसूत्र मे भी 'अनिर्वचनीय' मे एक मे दो धर्म कैसे हो सकते हैं इसलिये आपत्ति की गई। पदार्थ का कथन भी किया और उसको अवक्तव्य भी कहा, ये दोनो परस्पर विरुद्ध है यदि वह अवक्तव्य है तो कथन कैसे किया जा सकता है? वास्तव मे मनुष्य की बुद्धि सीमित है इसके लिये सन्मति–सूत्र मे कहा है कि—जुवान से निकला हुआ एक वाक्य नय वन जायेगा, इसलिये नय अनन्त हैं। **ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहा है, नय आंशिक ज्ञान कराता है, वह आंशिक ज्ञान पूर्ण सत्य नहीं है, पर सर्वथा असत्य भी नहीं है।** एक व्यावहारिक नय है और दूसरा द्रव्यार्थिक नय है। पर्यायार्थिक नय, व्यवहार–नय पर्याय का कथन करता है। मनुष्य पर्याय है इसका कथन पर्यायार्थिक नय से ही तो करेगे।

जीव अपने विकारी–भावो मे भ्रमण कर रहा है, इसको चाहे तो कहलें कि अज्ञान के कारण घूम रहा है पर सिद्धान्त एक ही है। एक सूरदास है, वह राजमहल मे जाना चाहता है, परकोटे को पकड कर जा रहा था, जब दरवाजा आया तो किसी कारणवश उससे दीवार पर से हाथ हट गया, दरवाजा निकल गया और वह फिर पूरे परकोटे का चक्कर लगाता रहा। इसी प्रकार चौरासी लाख योनियो मे घूमने के वाद यह मनुष्य भव मिला है, इसमे भी यदि इन्द्रिय लालच मे लग गया तो फिर पचपरावर्तन मे घूमना होगा। इस त्रस नाडी मे एक प्रदेश भी ऐसा नही वचा जहा इसने (जीवन ने) जन्म न लिया हो, न मरा हो, शुभ–अशुभ भाव भी समस्त विचार लिये। कोई भाव नही वचा। ससार मे जितने भी पुद्गल परमाणु हैं उन सबको यह भोग चुका। अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु का सेवन कर लिया।

आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि इस जीव के क्षणभर के लिये भी एकाग्र होने का कारण है कि इससे मध्य के आठ प्रदेश अचल है शेष चचल है। सिद्धो के सारे आत्म-प्रदेश अचल है। जब ससारी आत्मा के सारे प्रदेश

अचल हो जायेंगे तव वह शुद्ध हो जायेगा। मन-वचन-काय की एकाग्रता से चचलता रुकेगी। **आस्रव का मुख्य कारण चचलता है।** कर्मो का आस्रव रोकने के लिये अचल होना होगा, आठ प्रदेश तो अचल हैं, पर सारे प्रदेशो को अचल वनाना होगा।

अचल से तीन अर्थ निकलते हैं। (१) चारो गतियो मे चलायमान न होना। (२) आत्मा के प्रदेशो मे चचलता न होना और (३) व्यवहार मे जमीन जायदाद को अचल सम्पत्ति कहना। परन्तु अचल सम्पत्ति आत्मा है, वाह्य सम्पत्ति जमीन जायदाद जिसे हम अचल कहते है, वह असार है। जव आत्मा के सारे प्रदेश अचल हो जायेंगे तव वही शाश्वत सम्पत्ति होगी, उसमे कभी पुन कोई विकार उत्पन्न होने वाला नही है। आत्मा की अचल मम्पत्ति को प्राप्त करने के लिये समस्त आचार्यो ने ग्रथो की, आगमो की, व्याख्या की है। चचलता का मूल कारण 'आवि' है, 'चिन्ता' है, यह अनादि से आत्मा के साथ चली आ रही है। 'चिन्ता' को दूर करना 'मन-वचन-काय' की गुप्ति के विना असम्भव है।

राजस्थानी अपभ्र श के कवि ढोलामारू ने अपने काव्य मे लिखा है—चिन्ता ने मवको वाध रखा है, चौरासी लाख योनियो मे कोई भी जीव विना चिन्ता के नही है। जिसको कोई चिन्ता नही है, जिसके पास तिल–तुप मात्र भी चिन्ता नही है, जिसने इससे मुक्ति पाली, मैं उसी को सिद्ध मानता हूँ, वही मिद्ध है।

मारे ग्रन्थो का अवलोकन, आत्मा मे उठने वाले विकल्पो को दूर करने के लिये, औपधरूप मे है। 'निर्विकल्प' अवस्था प्राप्त करनी है, वही शाश्वत है, अचल सम्पत्ति है। पाठ–पूजा तीर्थ यात्रा, शास्त्र, ये सव इमकी प्राप्नि के माधन हैं। पर याद रखना, ये भी आधि-व्याधि उपाधि हैं, यदि इसके साथ मोह है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—निर्मोही अल्पज्ञानी भी मुक्ति-गामी है और प्रकाडज्ञानी मोह सहित है तो वह मिथ्यावादी है। तत्त्व-चर्चाओ का इतना महत्त्व नही, महत्त्व इसका है कि मोह कितना कम किया है।

◆ ◆ ◆

सव्वे शुद्धा शुद्धनया ....

धर्म का प्रारम्भ चैतन्य से है। जो आत्मा को जानता है, वह स्व-व पर को जानता है। ज्ञान और क्रिया एक दूसरे के विना निरर्थक है। धर्म विशाल है, सकीर्ण नही। सकीर्णता को छोडे विना राग-द्वेष, भेद-भाव नही छूटते, मिथ्यादृष्टि नही छूटती।

त्रियोगात्मक विकारी भाव ही कर्मबध का कारण है। यह जीव व्यवहारनय से पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से क्रोधादि भाव कर्मो का कर्त्ता है और शुद्ध निश्चय-नय से शुद्ध-भावो का कर्त्ता है।

अन्तरङ्ग मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सतत् प्रज्ज्वलित करो, वहिरग मे इसके साधन रूप दान-पूजा आदि करो, यही धर्म है।

ससार मे धर्म की आधार-शिला तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान अत्यन्त व्यापक है, अनन्तधर्मात्मक है। वह अनन्त धर्मात्मक तत्त्वज्ञान अपनी आत्मा मे मौजूद है। इस भारत-भूमि पर अनेक महापुरुषो ने तत्त्वज्ञान से मुक्ति प्राप्त की है। इतिहासकारो ने लिखा है कि भारत विश्व का अध्यात्म गुरु रहा है। जैसे भारत से अन्य चीजो का निर्यात होता है, वैसे यहा से धर्म का निर्यात हुआ है।

कवि रवीन्द्र नाथ टैगोर एक वार चीन गये। वहा उनकी दाढी व वेशभूषा को देखकर लोगो ने उनके पैर चूम लिये। उन्होंने कहा—मैं कोई साधु नही हू। उन लोगो ने कहा—हम तो हर भारतीय व्यक्ति को साधु समझते हैं। यहाँ के आचार विचार मे वहुत पवित्रता थी और अडोस-पडोस मे इसका व्यापक प्रभाव था। लोग हर भारतीय को आदर की दृष्टि से देखते थे।

जैनाचार्यों ने तत्त्वज्ञान का चिन्तन व विश्लेषण मनोवैज्ञानिक ढग से किया है। इसलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक शाति प्रसाद अत्रेय ने अपनी 'मनोविज्ञान' नामक पुस्तक मे मन की चिकित्सा के बारे मे लिखते हुये यह भी उल्लेख किया है कि—मन की सूक्ष्मतम बातो को जानने के लिये जैन शास्त्रो का अध्ययन करना चाहिये। मन के सम्बन्ध मे इतनी सूक्ष्म चर्चा अन्य किसी साहित्य मे नही मिलेगी।

हमारे मन की स्थिति बडी विचित्र है। सभी यह कहते सुनाई पडते है कि—मन एकाग्र नही होता, कोशिशो के बावजूद चचलता रुकती नही है। मन को ठीक करने के लिये हमारे पास कोई जड़ी-बूटी नही है, पर तत्त्वज्ञान मन को स्वच्छ व निर्मल बना सकता है। मन मे अनन्तानुबधी क्रोध-मान-माया लोभ आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हैं। आचार्यों ने इनकी चिकित्सा के लिये तत्त्वो की सूक्ष्म से सूक्ष्म. स्थूल से स्थूल चर्चा की है। मनोविज्ञान के आधार पर वैज्ञानिक भी मन की सूक्ष्मता की ओर बढते हैं, उन्होने खोज की कि मनुष्य क्रोधी क्यो होता है? हमारे आचार्यों ने कर्म के सिद्धान्त के आधार से कहा कि—कर्म के द्वारा विकारी भाव उत्पन्न होते हैं व क्रोध उत्पन्न होता है। इसके लिये मन व कर्म दोनो जिम्मेदार हैं। वृहद द्रव्य-सग्रह मे लिखा है कि जैसे-हल्दी व चूना मिलाकर लाल रग उत्पन्न करते हैं, लाल रग न चूने का है न हल्दी का है। फिर यह लाल रग कहाँ से आया? दोनो के सयोग से, मेल से लाल रग आया। इसी प्रकार ये क्रोधादि भाव किसके हैं? ये न कर्मों के, न आत्मा के हैं। यदि ये सर्वथा आत्मा के भाव है तो फिर तो सिद्धो के भी होने चाहिये और यदि सर्वथा पुद्‌गल के हैं तो फिर लकडी पत्थर आदि सबमे भी होने चाहिये। ऐसा नही है। समयसार की गाथा अस्सी मे बताया है कि दोनो के निमित्त सम्बन्ध से ये भाव उत्पन्न हुये। पुद्‌गल कर्मों के निमित्त से जीव ससार मे भ्रमण कर रहा है और जीव के विकारी भावो के निमित्त से कर्म बध रहे हैं। दोनो का जब तक सम्बन्ध है, पुद्‌गल—पुद्‌गल पर प्रभावक नही हैं व आत्मा—आत्मा पर प्रभावक नही हैं। आत्मा व पुद्‌गल का एक विचित्र सम्बन्ध है। शराब बोतल मे भरी हुई है पर वह वहा असरकारी नही है, न मृतदेह पर उसका कोई असर है। पर जीवित मानव पर उसका प्रभाव पडता है। इससे स्पष्ट होता है कि पुद्‌गल पर नही, जीव पर उसका प्रभाव निमित्त कारण बन जाता है। इसलिये आचार्यों ने कहा कि—भक्ष्याभक्ष्य का ख्याल रखो। भक्ष्य को भी मर्यादा के साथ ही खाओ, यह नही कहा कि भक्ष्य है तो खाये ही जाओ, उसमे भी मर्यादा रखो, ऊनोदर रखो, उपवास करो। जीव के अनादिकाल से कर्म साथ है। जीव ने कर्म बाध लिये, वे ही कर्म उदय मे

आकर फल देने का कारण बन रहे हैं। कर्म आत्मा को सर्वथा नही पकडते। इसके लिये अमृतचन्द्राचार्य ने कलश मे कहा है—

न कर्म बहुल जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभू समुपयाति रागादिभि
स एव किल केवल भवति बधहेतुर्नृणाम्॥ १६४॥

हाथ हिलाने से, मन हिलाने से कर्म वध नही होता, इससे लोक मे ठसाठस भरी हुई कार्माणवर्गणायें आपको नही पकडती, न इससे चेतन अचेतन को वाधा पहुचने के कारण वध होता है। जब मन-वचन-काय मे रागादि विकारी-भाव उत्पन्न होते हैं, इनमे इन तीनो का एक्य होता है, तभी कर्म वधन होता है। राग-द्वेषात्मक भाव ही कर्म वध का कारण है।

द्रव्य सग्रह की एक ही गाथा (सख्या आठ) का अवलोकन करले तो आगम मार्ग से विचलित नही हो सकते। इसमे कहा गया है कि—व्यवहार नय से यह जीव पुद्गल कर्मो का कर्त्ता है, अशुद्धनिश्चय नय से क्रोधादि भाव-कर्मो का कर्त्ता है और शुद्ध-निश्चय नय से शुद्ध-भाव का कर्त्ता है। शुद्ध दृष्टि से तो निगोदकाय का जीव भी शुद्ध है। यदि मूल मे शुद्धता न हो तो सिद्ध कैसे वन सकेगा। व्यवहार से कर्मों का कर्त्ता है तो इसका तात्पर्य यह नही कि उसने कर्मों का निर्माण किया है, परन्तु अपने भावकर्म से द्रव्यकर्म को वाध लिया यही कर्त्तापन है। हम चलते समय किसी चीज से, पत्थर से ठोकर खा गये, इसमे हम व पत्थर दोनो ही कारण हैं। हमारी भूल से, पत्थर से चोट लग गई, दोनो का सम्वन्ध है। इसी तरह व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा यह पुद्-गल कर्मों का कर्त्ता है और शुद्धनय की दृष्टि से सारे जीव शुद्ध है। जो द्रव्य-दृष्टि से, शुद्धदृष्टि से समस्त पृथ्वी मण्डल की आत्माओ को देखता है वही समताभावी है, सम्यग्दृष्टि है। द्रव्य दृष्टि से सव शुद्ध हैं, तव छोटे-बडे का भेद ही नही बैठता।

मेढक हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया। आचार्य समन्तभद्र ने शास्त्रो मे उसे स्थान दिया, महानुभाव कहा, तो क्या वे उसके हड्डी-चमडे-ढाचे को देख रहे थे उस समय? नही! उसकी आत्मा को देख रहे थे। हम तो आत्मवादी हैं। **जैनाचार्य आत्मवादी हैं, प्रत्येक प्राणी मे उनको शुद्धात्मा दिखाई देती है। सम्यग्दृष्टि को प्रत्येक जीव मे शुद्ध आत्मा दिखाई देती है, क्योकि उसकी स्वय की आत्मा स्वच्छ व निर्मल होती है।** मिथ्यादृष्टि जीव वहिरग

मे काला-पीला देखकर उसको ही जीव का स्वभाव मान लेता है। तीर्थंकर पार्श्वनाथ, तद्भवमोक्ष-गामी ने नाग को णमोकार मत्र सुनाया क्योंकि वे सव जीवो मे आत्मा के दर्शन करते थे। धर्म का प्रारम्भ ही चैतन्य से, आत्मा से है, जो आत्मा को जानता है वह स्व को व पर को जानता है। धर्मात्मा वही है, जिसकी दृष्टि समस्त पृथ्वी मण्डल की आत्माओ मे शुद्धता देखे। यह दृष्टि समताभाव से उत्पन्न होती है। समताभाव व्यवहार मे, मन्दिर मे, दुकान मे सव जगह होना चाहिये। मन्दिर मे पूजा-पाठ कर चावल चढावे व घर मे राग-द्वेष, भेद-भाव का व्यवहार करे तो वह कैसे समताभावी, सम्यग्दृष्टि हो सकता है। हमारे आचार्यो ने जीवन मे उतारने की वात पर वल दिया हैं। **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र इन तीनो मे कोई भेद नहीं है; ज्ञान के साथ चारित्र है, चारित्र के साथ ज्ञान है।** चारित्र कुछ और हो और ज्ञान कुछ और हो तो सम्यक्त्व कैसे सम्भव है? जैसे अग्नि के ताप व प्रकाश साथ रहते हैं, वैसे ही ज्ञान-चारित्र साथ है।

द्रव्य दष्टि से शुद्धता सव आत्मा मे है, पर वह विकसित कितना है यही मूल्यवान है, प्रेक्षणीय है। अकलक देव ने राजवार्तिक के प्रारम्भ मे ही कहा है 'हत ज्ञान क्रियाहीन'। **ज्ञान है और क्रिया नहीं तो वह ज्ञान व्यर्थ है और यदि क्रिया है पर ज्ञान नहीं तो वह क्रिया भी निरर्थक है।** उन्होने दृष्टान्त दिया है कि जैसे एक मकान मे आग लग गई। एक सूरदास वहा वैठा है, वह उससे वचने के लिये भागता है क्रिया करता है, पर उसको किस दिशा मे जाना चाहिये इसका ज्ञान नही है तो वह वहीं पर घूमता रहता हैं और जल जाता है। दूसरा व्यक्ति वहाँ पगु है। वह देख रहा है कि आग लग गई, उसे ज्ञान हैं कि किस दिशा मे जाने से वचा जा सकता है, पर वह क्रिया नहीं कर सक रहा इसलिये वह भी जल जाता है। यदि दोनो का सयोग हो जाये, दोनो को एक दूसरे का सहारा हो तो वे वच सकते हैं, अर्थात् क्रिया व ज्ञान होगा तभी इष्ट की प्राप्ति हो सकती हैं। **ज्ञान वही है जो चारित्र के साथ एकाकार हो।**

धर्म दो नही है—एक ज्ञान के लिये और एक चारित्र के लिए। मन्दिर मे शास्त्र पढे कि झूठ मत वोलो और दुकान मे उसका आचरण न कर झूठ वोले तो क्या ये दोनो धर्म हैं? यह कैसे धर्म हो सकता है? धर्म कोई चार पक्ति पढने मात्र से या वाहरी वेश से नही होता, ज्ञान व चारित्र के सयोग से—एकता से होगा, इनमे मे एक की कमी दूसरे को निरर्थक वना देती है।

अमृत चन्द्राचार्य से किसी ने दो पक्तियो मे जैनधर्म पूछा उन्होंने वताया—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सततमेव
दान–तपो–जिन पूजा विद्यातिशय जिनधर्म ।

—अन्तरग मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को सतत प्रज्ज्वलित करो, वहिरग मे इसके साधन रूप मे दान—पूजा आदि करो, यही जैनधर्म है। पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि पूजापाठ सम्यक्त्व-वर्धिनी क्रियाये हैं। इसलिये कहा है कि दान-पूजा अन्तरग कारण शुद्धि के लिये होनी चाहिये। ज्ञान थोडा सा भी हो पर वह स्वच्छ, निर्मल, यथार्थ होना चाहिये।

ज्ञाता के तथ्य को जैसा है वैसा ही मानना चाहिये। सशय, विपर्यय-अनध्यवसाय इन तीनो से रहित ज्ञान ही सम्यक् है। सम्यक्-दर्शन-ज्ञान चारित्र ये पृथक-पृथक नही है। आग के तीनो गुणो (दाहकत्व, ताप और प्रकाशत्व) की भाति ये भी अभेद अखण्ड रूप हैं केवल विवक्षा की दृष्टि से तीन हैं।

सम्यग्दर्शन को घात करने वाली सात प्रकृतिया वताई—अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यकप्रकृतिमिथ्यात्व। इनमे प्रथम छ को छोडकर सातवी सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व प्रकृति सम्यग्दर्शन का घात नही करती, पर वह चल, मलिन और अगाढ दोषो को उत्पन्न कर देती है। जैसे किसी ने व्याख्या की कि भगवान के छत्र चढाना मिथ्यात्व है। इन्द्र ने भी भगवान के मुकुट चढाया था, क्या वह भी मिथ्यात्वी था ? छत्र का चढाना सम्यग्दर्शन का अतिचार तो है पर इससे सम्यग्दर्शन नष्ट नही होता। व्यवहार मे डाक्टर, वकील के पास जाने से, झूठी गवाहिया देने से सम्यग्दर्शन नष्ट नही होता, पर वीतराग भगवान के छत्र चढाने से सम्यग्दर्शन नष्ट हो जाता है, यह कैसी विचित्रता है ? शूद्र की, चमार की रोटी खा लेने से हम शूद्र बन जाते हैं, चमार बन जाते हैं पर हमारी रोटी खाने से कोई जैन नही बनता, क्यो ? इसका मतलव हमारी रोटी मे कमजोरी है।

जैनधर्म द्वादशाग से प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग इन चारो को लिये हुये हैं। छद्मस्थो के ज्ञान का केवली के ज्ञान के आगे कोई मूल्य नही है। 'केवली कहा सो प्रमाण, अन्यथा नही,' 'केवली पण्णत्तो धम्मो मगल' हमारा मगलमय धर्म केवली द्वारा प्रणीत है, इसे कसौटी से कसकर ही सोना खरीद सकते हैं, केवल उसके पीलेपन को देखकर खरीदे तो कभी पीतल भी धोखे से खरीद सकते हैं। दुनिया मे सव चीजें सुलभ हैं, यथार्थ ज्ञान ही दुर्लभ है। यथार्थज्ञान आत्मा मे मौजूद है। यथार्थ ज्ञानधारी तीर्थंकर की वाणी से अनन्तान्त प्राणियो का कल्याण हुआ है। टोडरमलजी ने लिखा है

कि वे तीर्थंकर मिथ्यादृष्टि पर उपकार करते हैं। सत्य है, सम्यग्दृष्टि पर वे क्या उपकार करेंगे ? उनके लिए उपकार शब्द का प्रयोग क्यो किया ? रेल मे हमे कोई बैठने का स्थान दे देता है, कोई भूले हुये को रास्ता बताता है, हम उसका उपकार मानते है, तो उस तीर्थंकर ने आत्मकल्याण का मार्ग बताया है, तो क्या उसकी कृतज्ञता को न मानें ?

धर्म विशाल है। दृष्टि को विशाल बनाकर ही हम इसे समझ सकते हैं, सकीर्णता से नही। सम्यग्दर्शन किसी की बपौती नही है। यह प्राणी मात्र को, तिर्यच को, नारकी को, सबको हो सकता है। हम आत्मवादी हैं तभी तो हमारे आचार्यों ने 'परस्परोपग्रहो, जीवानाम्' कहा है। एक जीव दूसरे जीव का उपकार करता है। तीर्थंकर निगोदकाय के जीवो को आश्वासन देते हैं कि द्रव्यदृष्टि से तुम भी शुद्ध हो, हमारे समान हो, तुम भी मोक्ष जा सकते हो। पर हम अपने पडौसी के बीच की दीवार खडी कर लेते हैं, यह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है, सम्यग्दृष्टि का नही।

जैनधर्म के सिद्धांत सार्वभौम हैं, व्यापक हैं, प्राणीमात्र के लिये हैं, वे व्यक्ति विशेष के लिये नहीं हैं। सकीर्णता को छोडे बिना मिथ्यादृष्टि को नहीं छोड़ सकते। वही वीतरागी बन सकता है जिसके ज्ञान मे तीनो लोक के समस्त प्राणी समान हो, उनके प्रति कोई भेद-भाव, राग द्वेष न हो। सोलह कारण भावना मे तीर्थंकर-प्रकृति बध के लिये समताभाव भी एक कारण है। हमारा धर्म आत्मवादी है, हम आत्मवादी हैं। हमे सब आत्माओ मे समताभाव रखना चाहिये। आत्मा-आत्मा मे कोई भेद नही है, फर्क नही है। श्रीमद्-राजचन्द्र ने कहा है कि—सर्व धर्मो का आधार आत्मा है, केवल मान्यताओ मे फर्क है, समझने मे, विकास मे, फर्क है।

ज्ञान व चारित्र का सयोग होगा तभी जन्म-मरण से मुक्त होगे। एकान्त से मुक्त नही हो सकते। छाया, धर्म, सिद्धान्त सबके लिए कल्याण कारी होते हैं, उनमे भेद-भाव नही होता। वृक्ष, स्वय के रोपण करने वाले को भी छाया देता है, स्वय को काटने वाले को भी छाया देता है। सिद्धान्त सबके लिये उपकारी है। तीनो लोक के सब जीव शुद्ध हैं, पेड पौधे भी शुद्धात्मा हैं, सबमे समानता देखने पर ही हमारा कल्याण है।



पुरुषार्थ ही मुक्ति की आधारशिला है

धर्म पर भक्ति होने मात्र से कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नही हो जाता, सिद्धान्त का ज्ञाता होने से पारगत नही हो जाता, पारगत होने से अर्थ साक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार हो जावे, यह अनिवार्य नही है।

आगम जैसा है, उसे वैसा ही रखो। उसमे अपना मत रखकर मिलावट करना गलत है। जिस दृष्टि से कथन किया गया है, उसी दृष्टि से उसे समझना चाहिये; उसके सन्दर्भादि का विचार न करना अज्ञानता है। ग्रथ साधन है, साध्य तो आत्मानुभव है।

केवल दैववाद का मानना एकान्त है। मोक्ष पुरुषार्थ से ही मिलेगा।

तत्त्वज्ञान विशाल है, इसका अन्त नही है, इसलिये महावीर ने किसी एक तत्त्व को एकान्त रूप से, सर्वथा पूर्ण सत्य नही माना। पूर्ण सत्य अखण्ड है। कोई भी वाक्य आंशिक सत्य को लिये हुये हो सकता है, पर पूर्ण सत्य नही। आचार्यों ने जो कुछ कहा उसके पीछे एक दृष्टि है। पूज्यपाद आचार्य ने लिखा है कि हे भगवान्! आपका चरण सान्निध्य न मिले यह इतना घातक नही है, जितना कि गलत राह पर चलना है। यदि बालक किसी कारणवश मदिर मे देव-दर्शन के लिये नहीं जा पा रहा है तो यह इतना घातक नही, पर यदि वह व्यसनो आदि मे, गृहीतमिथ्यात्व आदि मे फस जायेगा तो यह बहुत घातक होगा। बालक धन नही कमाता यह तो सहन कर लिया जायेगा, पर वह दुर्व्यसनो मे फस जाये यह सहन नही किया जायेगा। छोटा बच्चा खेलता रहता है तब मा निश्चिन्त है, पर उसको यह ध्यान रखना होता है कि वह कही मिट्टी न खा जाये। यहा एक दृष्टि विशेष से बात की जा रही

है, उपर्युक्त कथनों का तात्पर्य यह नहीं है कि वह देव-दर्शन के लिए प्रयत्न ही न करे, जावे ही नहीं, धन कमावे ही नहीं या खेले ही नहीं। चर्चा को समझते समय उसकी दृष्टि को पहचानें, उसे पूर्ण सत्य न माने।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियद जम्मं वा अहव मरणं वा।३२१।

तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेन तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदु इंदो वा तह जिणिंदो वा।३२२।

इसका अर्थ है—जिस जीव के जिस देश मे, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिन देव ने नियत रूप से जाना है, उस जीव के उसी देश मे, उसी काल में, उसी विधान से, वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकने में समर्थ है?

परन्तु समझना यह है कि उपर्युक्त गाथा का सन्दर्भ क्या है? इसके पूर्व की गाथा है—

भत्तोएँ पुज्जमाणो वितर देवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चितेई सद्दिट्ठी।३२०।

अर्थात् लोग अर्थाकांक्षी है। वे चाहते हैं कि किसी भी तरह उन्हे धन की प्राप्ति हो। इसके लिये वे उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय का विचार नही करते। वे चाहते हैं कि उनके इस अन्याय में देवी-देवता भी मदद करें। बस वे देवता की पूजा करते हैं, बोल कबूल चढाते हैं। यदि व्यन्तर देवी-देवता वगैरह लक्ष्मी आदिक देते है तो फिर धर्माचरण करना व्यर्थ है।

अर्थात् "जं जस्स जम्मि ········ ········ ·भत्तीये पुज्जमाणो" के सन्दर्भ मे कहा है कि रागी-द्वेषी देवताओ के पास रोगादि से छुटकारा, धनादि की प्राप्ति के लिये जो जाते है, वे समझें कि इन गलत आश्रयों से कुछ नही होगा। गृहीत-मिथ्यात्व को हटाने के लिये 'जं जस्स जम्मि' कहा है, गृहीत-मिथ्यात्व ससार को बढाने वाला है। हमे सन्दर्भ समझना चाहिये। आचार्यों ने कहा है—

'मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावे कोई'।

इतना पढकर क्या हम रोगी होने पर औषध सेवन नही करते ? क्या ममस्त पुरुषार्थ बन्द कर देते हैं ?

जैन धर्म पुरुपार्थहीन नही है, इसकी आधारशिला ही पुरुषार्थ है। महावीर पुरुषार्थ से कर्म शृंखलाओ को काटकर मुक्त हो गये। प्राय सभी दार्शनिको ने उद्यमी होने के लिये, पुरुषार्थी बनने के लिये कहा है। पर दैव-वाद देखिये कि— दीपावली पर कागज की, लक्ष्मी की पूजा कर तिजोरी खोलकर बैठेंगे, सारी रात दरवाजा खुला रखेगे। क्या इससे ही धन प्राप्त हो जायेगा ? बिना पुरुषार्थ कैसे धन प्राप्त कर सकते हैं ?

'जो होना है, वह होगा' ऐसा विचारना पुरुषार्थहीन बनाता है। हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहिये, जो होना होगा वह हो जायेगा।

नही, हमे पुरुपार्थहीन नही होना। जैन धर्म तो पुरुषार्थ प्रधान है। प० टोडरमलजी ने कहा है—होनहार काल लब्धि कुछ नही, जो होवे और जो करे सो काललब्धि है, होनहार है। जो हमने किया है, वही होनहार है, काल-लब्धि है।

सोता हुआ मानव एक तो स्वय ही जग जावे अथवा कोई उसे जगावे। आग लग रही है और कहे कि मत उठावो, इसको जब उठना होगा यह तभी उठेगा, अपने आप उठ जायेगा। क्या यह ठीक है, वह जल जायेगा।

एकान्त को लेकर, एक ही बात को लेकर बैठना, केवल उसी को सही मानना, उसके सन्दर्भादि का विचार न करना उचित नही है, यह अज्ञानता का प्रतीक है। अनेकान्त व्यापक दृष्टिकोण है उसके केवल एक अश को लेकर ही चलें, वही पूर्ण सत्य है, यह एकान्त है। उपर्युक्त 'ज जस्स जम्मि ……, गृहीतमिथ्यात्व को छुडाने की दृष्टि से कहा है। सारे ग्रथ मे से केवल एक बात को बिना सन्दर्भ के, उसमे निहित दृष्टिकोण के बिना मान लेना उचित नही है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति सूत्र में कहा कि—धर्म पर भक्ति होने मात्र से कोई सिद्धान्त का ज्ञाता नही हो जाता, सिद्धान्त का ज्ञाता होने से वह पारगत नही हो जाता और पारगत होने से अर्थ साक्षात्कार हो ही जावे यह अनिवार्य नही है। तत्त्वचर्चा, अनुभव, स्वाध्याय, ये सब भिन्न है।

एक व्यक्ति अर्थशास्त्र की वडी-वडी पुस्तके लिखता है—अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का ज्ञाता है किन्तु फिर भी है गरीव का गरीव, और एक व्यक्ति वहुत कम पढा लिखा है, कोई वडी-वडी डिग्रिया उसके पास नही हैं, पर फिर भी वहुत वडा उद्योगपति है। अर्थात् ग्रथो को पढने मात्र से ज्ञाता, पारगत नही माना गया, इसको महत्त्व नही दिया गया, आत्मानुभव को महत्त्व दिया गया है। शिवभूति सेठ द्रव्यश्रुतज्ञान के विना स्व-पर के भेद ज्ञान से मोक्ष चला गया। एक अनपढ व्यक्ति भक्तिभाव से पूजादि करने वाला भी सम्यक्-दृष्टि हो सकता है और अनेक ग्र थ पढने वाला प्रकाण्ड पण्डित सम्यग्दृष्टि न हो और ससार मे ही भ्रमण करता रहे। अन्तरग मे मिथ्यात्व का क्षयोपशम कितना किया, यह मूल्यवान है। जैन कुल मे जन्म लिया है इसलिये मोक्ष मे ही जावे यह आवश्यक नही है। निगोद तक की आत्माये मोक्ष मे जा सकती हैं। जिसके जैसे परिणाम होगे, कर्मवध होगे वे उसे भोगने होगे। भगवान वाहुवलि, तीर्थंकर आदिनाथ से पूर्व मोक्ष चले गये। भगवान् आदिनाथ ने जितने जो वध किये उनको भोगने के पश्चात् ही वे मोक्ष गये।

सिद्धान्त एकान्त नही, तत्त्व अनन्तधर्मात्मक है। केवल एक ही दृष्टि से एक ही वात को लेकर वैठ जाना कि यही ठीक है वाकी सव गलत हैं, उचित नही है।

धर्म कैसे होता है ? आचार्य कुन्दकुन्द ने अचलिका मे लिखा है—धर्म इच्छा से होता है, किसी के दवाव से किसी के भय से नही होता। धर्म किसी पर थोपा नही जा सकता। समयसार की दूसरी गाथा मे यह स्पष्ट किया है कि स्व-समय मे आत्मा मे तू स्वय ही निमग्न हो सकता है। कोई दूसरा उसमे निमग्न नही करा सकता। कोई दूसरा ज्ञान नही भर सकता, केवल साधन वन सकता है। शास्त्र ज्ञान जगाने के लिये हैं, वे ज्ञान भर नही सकते, ज्ञान स्वय मे ही प्रसून होगा और तभी सर्वज्ञ वन जायेंगे। जैसे एक अध्यापक सवको पढाता है—उनमे से कोई प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण होता है और कोई अनुत्तीर्ण हो जाता है, तो अध्यापक किसी मे ज्ञान भरता नही है। धर्मग्र थो मे ज्ञान प्राप्त करने की विधि वताई गई है। ज्ञान साधन है, ग्रथ भी साधन है, साध्य नही है, साध्य तो आत्मानुभव है। ग्र थ मे सर्वज्ञो का पूर्ण ज्ञान नही आ सकता। आत्मा मे अनन्त ज्ञान मौजूद हैं, ग्र थ मे अनन्तज्ञान नही समा सकता। ग्रंथ तो साधन हैं, हम तो अनन्तज्ञान के उपासक हैं। चेहरे पर लगे काले दाग को दर्पण दिखा सकता है पर उसको साफ नही कर सकता, साफ स्वय को

करना होता है। वैसे ही ग्रंथ की सहायता से आत्मा पर लगे कर्म-मैल का ज्ञान होता। है उसको हटाना तो स्वय को ही पडेगा।

ससार मे फैल रहे एकान्त को मिटाने के लिये महावीर ने अनेकान्त दृष्टिकोण दिया। एकान्त दृष्टिकोण से मिथ्यात्व उपजता है। कथन मे सापेक्षता होती है, एक दृष्टिकोण विशेष होता है। अत उस दृष्टि से वह कथन सत्य होता है, पर उस दृष्टि से आगे पहुच जायेगे तो अनेक प्रश्न उठ खडे होगे। छद्मस्थ के मति, श्रुत, अवधि एव मन पर्यय ज्ञान हो सकते हैं, पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान सर्वज्ञ को है। अनेकान्त सम्यक्त्व का मूल कारण है।

शास्त्र मे जिस दृष्टि से कथन किया है, उसी दृष्टि से उसे समझना चाहिये, उसमे अपना मत रखकर उसमे मिलावट करना गलत है। सिद्धान्त अकाट्य हैं, विना परिवर्तन के ही उनको ग्रहण करना चाहिये, तभी वे आत्म-कल्याण के कारण होगे।

एक व्यक्ति ने औषधालय स्थापित किया। उसका एक ट्रस्ट भी वना दिया। कुछ समय वाद उसकी मृत्यु हो गई। औषधालय का कार्यभार कुछ ट्रस्टियो ने सभाल लिया। कुछ समय वाद ट्रस्टियो ने सोचा कि इस ट्रस्ट से औषधालय के स्थान पर एक कॉलेज स्थापित कर लिया जाये तो अच्छा हो। सव ट्रस्टियो ने सर्वसम्मति से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उस मृतक की पत्नी ने उन पर मुकदमा चलाया। कुछ न्यायाधीशो ने कहा कि औषधालय मे परोपकार की भावना थी और कॉलिज मे भी परोपकार की भावना है, अत यह कॉलेज मे परिवर्तित किया जा सकता है। पर अन्त मे वैरिस्टर चम्पतरायजी ने न्यायाधीश से एक प्रश्न पूछा—ट्रस्टी मृतात्मा के भावो के रक्षक हैं, क्या ये उसमे परिवर्तन कर सकते हैं? नही कर सकते। इसी आधार पर वह औषधालय परिवर्तन से वच गया।

इसी प्रकार हम भी भगवान की, आचार्य की वाणी को, उसमे निहित भावो को नही बदल सकते, उसमे मिलावट नही कर सकते। कार्तिकेया-नुप्रेक्षा का भावार्थ है कि आप अपना आत्मविश्वास मत खोइये, ये रागी देवी-देवता आपके रोग को ठीक कर आपको अभीष्ट की प्राप्ति नही करा सकते। पर इसका अर्थ यह तो नही कि दवा आदि भी मत लो उसके लिये (रोग निवारण आदि के लिये) प्रयत्न भी मत करो? क्योकि जो होना होगा वही होगा, फिर उपशम, क्षयोपशम काहे के लिये हैं? कर्म उपशम कैसे हो सकता

है ? प्रयत्न करने से रोग मुक्त भी होते है। सर्वथा एकान्त नही चल सकता। आगम मे फेर-बदल नही कर सकते, उसकी शुद्धता बनाई रखनी होगी, भगवान की, आचार्यो की वाणी मे मिलावट करने का किसी को अधिकार नही है। मिलावट से सब वस्तुये विगड जाती हैं। पैट्रोल मे मिलावट कर देते है तो गाडी खराव हो जाती है। आगम मे मिलावट नही चल सकती। आचार्य समन्तभद्र ने कहा कि 'यथातथ्य' आगम जैसा है उसे वैसा ही रखो। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की ये कारिकायें गृहीतमिथ्यात्व छुडाने के लिये कही गई है। इसी को सार्वभौम न मानें।

भवितव्य निश्चित है तो पुरुषार्थ क्यो करते हो ? भगवान् देख रहा है ऐसा ही होगा, इतना विश्वास हो तो सवके प्रति समताभाव उत्पन्न हो जाना चाहिये, अनुकूल-प्रतिकूल मे तटस्थ रहना चाहिये। फिर मन्दिर, पूजा, स्वाध्याय, व्रत, नियम काहे के लिये करते हैं ? फिर भी यही विश्वास रखो कि भगवान् देख रहे है, हमारा भवितव्य निश्चित है। वे देख रहे हैं वैसा ही होना है या जैसा होना है वैसा ही वे देख रहे हैं ? हमारी पर्याय हमारे मे है, उनकी पर्याय उनमे है। हमारा ज्ञान हम मे है, उनका ज्ञान उनमे है। भगवान् देख रहे हैं इसलिये वैसा ही होगा हठवाद है, आग्रहवाद है। वीतराग भगवान् के मार्ग मे हठ, आग्रह नही चलता। भगवान् ने तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का मार्ग दिया है, एक दृष्टि दी है इसका स्वाद आत्मानुभूति से मिलेगा। **शास्त्र आदि से तो दृष्टि मिलती है।** आत्मा की उपलब्धि के लिये स्वय पुरुषार्थ करना होगा। पुरुषार्थ चार हैं। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। अर्थ व काम तो व्यावहारिक हैं, मोक्ष ही लक्ष्य है। धर्म आत्मा मे है वह वाहर नहीं है, वही उसे प्रकट करना है। तुप-मास भिन्न है इससे एक व्यक्ति मोक्ष चला गया, पर यह अपवाद है, सार्वभौम नही हो सकता।

थर्मामीटर, बुखार कितना है यह बता देता है, पर वह बुखार उतार नही सकता, उसे दवा देकर कुछ प्रयत्न करके उतारना है या नही ? भगवान् जान रहे हैं, क्या इससे हमारा भव-रोग निवारण हो जायेगा ? हमारा भव-रोग निवारण अपनी आत्मिक शक्ति से, स्व चारित्र से होगा। इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्र को जानें व स्वय मे प्रकट करें। यही मुक्ति का मार्ग है, दूसरा नही है, दूसरे एक दृष्टिकोण से, एक अपेक्षा से कहे गये हैं इसलिये आंशिक हैं।

आत्मा की अनुभूति निखिलोपमा रहित है। सर्वज्ञ की उपमा सर्वज्ञ ही है, किसी भी वस्तु से उसकी उपमा नहीं दी जा सकती।

उसकी उपमा को जानने के लिये स्वय को सर्वज्ञ बनना होगा । अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—यह गिनना कि महावीर मोक्ष गये, पार्श्वनाथ मोक्ष गये, ठीक है, पर तुमने स्वय के लिये क्या किया, यह बताओ ? तुम अकारण ही (ससार के) इस कोलाहल मे पडे हो, विराम मे पडो, अभ्यास करो, चारित्र मे रमो । मोक्ष मे जाने वालो की सख्या गिनने से ही कुछ नही होगा, स्वय भी क्रिया करो, स्वय को खोजो, स्वय का अनुभव करो तभी मोक्ष मिलेगा । यह सोचकर कि भवितव्य निश्चित है, हो जायेगा, बैठे रहे तो कुछ नही होने वाला है । मैं पुन प० टोडरमलजी के विचार दोहराता हू—"होनहार, काललब्धि कछु नही होवे, 'जो करे सोही काललब्धि है, होनहार है ।" उन्होने सोने वालो को जगाया, कहा—कुछ करो, जो करोगे वही होनहार है । यह धर्म पुरुपार्थवादी है, दैववाद तो आशिक है । पुरुषार्थ से इस देश को आजाद किया गया है । आत्मा को भी पुरुपार्थ से ही कर्मो से मुक्त, आजाद कर सकते है ।

नियतिवाद, क्रमबद्धपर्याय व दैववाद मे कोई अन्तर नही है । केवल दैववाद को मानना एकान्त है, पुरुपार्थ को नकारना है । मोक्ष पुरुषार्थ से ही मिलेगा ।

मोक्षमार्ग मे विहार कर—

मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि चेदयहि झाहि त चेव ।
तत्थेव बिहर णिच्चं मा बिहरसु अण्णदव्वेसु ।४२१।

'समयसार'

अर्थ—(हे भव्य) मोक्ष-पथ मे अपनी आत्मा को तू स्थापित कर, उसी का अनुभव कर और उसी का ध्यान कर, वही पर सदा विहार कर; अन्य द्रव्यो मे विहार मत कर ।

देह विनाशी, मैं अविनाशी

अनेकान्त, स्याद्वाद के विना मनुष्य की दृष्टि विशाल नही वन सकती। तत्त्व के मूल मे पहुँचकर उसकी गहराई को समझने से ही सकीर्णता दूर होती है।

धर्म मे कोई विभाजन नही है। स्वय की दृष्टि में दोष होने से विभाजन होता है। समस्त आत्माओ को जो समता भाव से देखता है, वही सम्यग्दृष्टि है। वह सदैव उदार होता है।

ससार मे अनन्त आत्माये है, पर वे किसी के आशीर्वाद से मुक्त नही हो सकती, उसके लिये पुरुषार्थ करना होगा।

रूढिवादी मत वनो। अप्रमत्त होवो। भावपूजा को महत्त्व दो। मूर्ति साधन है—आत्मा साध्य है।

भगवान महावीर ने अपने समय मे इस देश मे विखर रही विविध विचारधाराओ को एक माला मे पिरोया, उसके लिये 'अनेकान्त' के नाम से एक सुन्दर सिद्धान्त दुनिया को दिया। दुनिया के सिद्धान्तो मे परस्पर टकराव उत्पन्न न हो, इसके लिये यह अनुपम सिद्धान्त है। हम जिसको वस्त्र कहते हैं, उस वस्त्र मे कोई कमीज वनाली जाती है, उसे कमीज कहने लगते हैं, उससे पानी छानने लगते हैं तो छन्ना कहते हैं, उसमे से ही टोपी, रूमाल न जाने क्या क्या कहने लगते हैं। तो वह चीज कपडा है, छन्ना है या टोपी है, वह है क्या ? मिल मे निर्मित थान के टुकडे हुये और उसके नाम वदलने लगे, पर फिर भी सव कपडे हैं, समानता सवमे है। इसी प्रकार चौरासी लाख योनियो के जीवो मे चीटी, हाथी, घोडा, जैन, मुसलमान, ये सव जीव-जाति के विभिन्न

रूप हैं, पर सब चैतन्यगुण युक्त है, पृथक् स्वतत्र सत्ता लिये हुये है, पर गुण समान हैं, उनके चैतन्य मे कोई अन्तर नही है।

महावीर ने एकातो को गूंथकर अनेकान्त की माला बनाई। ससार मे अनन्त आत्मायें है, वे अपने द्रव्यगुण पर्याय सहित अपनी स्वतन्त्र सत्ता लिये हुये है, पर चैतन्य तो सबमे है। जीवमात्र मे दर्शन-ज्ञान चारित्र है, पर कही वे मिथ्या तो नही यह जाच करना है, जिससे मिथ्यादृष्टि बनकर चौरासी लाख योनियो मे न भटकना पडे। महावीर ने बताया कि यदि विपरीत श्रद्धान, विपरीत ज्ञान व विपरीत आचरण है तो मिथ्या-दर्शन-ज्ञान-चारित्र है और ससार में भ्रमण का कारण है—मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्राणि ससारमार्ग। यदि श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र सही है, यथार्थ है, तो सम्यक् दर्शन-ज्ञान व चारित्र है और यह मोक्षमार्ग है। कोई गलत रास्ते जा रहा हो और उसे कोई सही रास्ता बतादे, वैसे ही महावीर ने मिथ्या रास्ते जाने वाले को सम्यक् राह बतायी, सही मार्ग बताया। साथ ही यह भी बताया कि मोक्षमार्ग मे जाने का ही मार्ग हैं, पुन लौट कर आने का मार्ग नही हैं, यह एक तरफा है, One way है, क्योंकि सिद्धालय जाकर लौट नही सकते। इस प्रकार महावीर ने कहा 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष मार्ग है, एक बोर्ड लगाया कि मोक्ष का एक तरफा रास्ता है, परिनिर्वाण का बोर्ड लगाया। निर्वाण तो मृत्यु को भी कहते हैं, पर परिनिर्वाण मोक्ष को कहते है और मुक्तात्मा कभी ससार मे लौट कर नही आ सकती। तीसरा बोर्ड ससार मे, चतुर्गति मे लगाया कि यहा आवागमन है, अर्थात् यहा आ भी सकते हैं, यहा से जा भी सकते हैं, घूम भी सकते हैं। जन्म-मरण किसका? आत्मा तो अजर-अमर है, वह न जन्मता है, न मरता है, यह द्रव्यदृष्टि से सत्य है, पर जन्म-मरण शारीरिक धर्म है। शरीर जन्मता है, शरीर मरता है, यह व्यवहारदृष्टि है, जन्म-मरण शरीर से सबधित हैं।

गौतमबुद्ध के कुछ शिष्य धर्म प्रचार के लिये विदेश जा रहे थे। बुद्ध ने उनसे पूछा—तुम्हे वहाँ कोई चाटा मार देगा तो तुम क्या करोगे? शिष्य ने उत्तर दिया—सोचूगा चोट तो नही आई। बुद्ध ने कहा—चोट आएगी तो क्या करोगे? तो हम समझेंगे हमारी हड्डी तो नही टूटी, शिष्य ने कहा। बुद्ध ने फिर पूछा—हड्डी टूट गई तो क्या करोगे? सोचूगा जान तो नही गई। फिर पूछा—यदि जान ले लेगे तो क्या करोगे? शिष्य ने जवाब दिया—वे मेरी आत्मा का तो नाश नही कर सकते, जान चली जाये पर धर्म प्रचार

करता रहूगा, यह नही छोडू गा। निष्कलक ने धर्म के लिये सिर कटवा दिया पर धर्म नही छोडा।

भगवान् महावीर ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एक नया शब्द दिया **'उपयोग'**। समस्त आत्मा मे उपयोग मौजूद है जो चैतन्य है, आत्मा है उसके उपयोग है। चैतन्य व उपयोग, आत्मा के मूल लक्षण हैं। इसके दो उपलक्षण हैं—ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग। देखने की ओर उपयोग लगाना दर्शनोपयोग है व उसको मन, वचन, काय से एकाग्र होकर जानना ज्ञानोपयोग है। दर्शन (देखना) निराकार है और ज्ञान साकार है, आकार सहित है। छद्मस्थ का ज्ञान अल्प है, सीमित है, मर्यादित है। अत वह सप्तभगी नय, अनेकान्त का आश्रय लेता है। जो तैरना नही जानते, वे नाव का आश्रय लेते हैं। अनेकान्त स्याद्वाद के आश्रय के बिना मनुष्य की दृष्टि विशाल नही बन सकती। दृष्टि तो सबके पास है, पर वह सम्यक् भी हो सकती है व मिथ्या भी हो सकती है। जिसकी दृष्टि मे सकीर्णता नही है, समस्त ससार की आत्माओ को समता भाव से चैतन्य देखता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

महावीर की दृष्टि मे जीवमात्र के प्रति समता भाव था, किसी के प्रति भेद-भाव नही था। उन्होने पशु-पक्षी, गरीब-अमीर सबको उपदेश दिया। राम ने शूद्र कन्या शबरी का आतिथ्य स्वीकार किया, उसके घर मे फल खाये। क्या फल मे शबरी घुस गई थी? वास्तव मे जो तत्त्व के मूल मे पहुचता है, उसकी गहराई को समझता है, तो सकीर्णता दूर हो जाती है। दुनिया मे कोई वस्तु शुद्ध नही है पर यदि द्रव्यदृष्टि से बात करें तो सभी शुद्ध हैं। पवित्रता की क्या बात करें? गगा नदी मे मेढक-मछलिया रहते हैं, वहा वे खाते-पीते हैं, मल-मूत्र भी त्यागते हैं, उसी जल को पवित्र मानकर, मत्रोच्चारण के साथ अभिषेक करते हैं व गदोदक के रूप मे सिर पर चढाते हैं। मत्र के द्वारा वह शुद्ध मान लिया जाता है। धर्म सहज है पर हम उसको जटिल बनाते गये। एक ओर तो कहा कि 'अपवित्रो पवित्रो वा' ...' अर्थात् सोते, उठते, बैठते अपवित्र स्थिति मे भी, रेल मे, श्मसान मे, कही भी, किसी भी स्थिति मे अन्तरग मे भगवान का स्मरण करो, इससे पाप नष्ट होगे और दूसरी ओर वर्जनायें भी लगादी कि इसको छूते ही धर्म डूब जायेगा। बडी विचित्रता है। व्यवहार मे तो अनेक भेद हैं वे चलते रहेगे। बाहरी भेदो को कोई नहीं मिटा सकता। हमे तो आत्मा की ओर देखना चाहिये, व्यावहारिक भेदो की ओर नही। दुनिया में असख्यात परिपाटिया है, वे चलती रहेगी,

उन्हे कोई नही रोक मका, पर हमे तो यह देखना है कि आत्मा-परमात्मा कैसे वने ? व्यावहारिक जीवन मे रहन-सहन, कानून, वेशभूपा, व्यापार के तौर-तरीके में न उलझें, ये सब परिवर्तित होते रहने है, पर धर्म कभी नही बदला। अग्नि ने कभी भी अपना दाहकत्व धर्म नही छोडा, न वदला। आत्मा का धर्म भी अपरिवर्तनीय हैं, जो भव्य उसे धारण करेगा अवश्य परमात्मा बनेगा। पशु भी सम्यग्दृष्टि वन मकता है। दुनिया के किसी धर्म ने पशु को अजरता-अमरता का सिद्धान्त नही दिया, पर जैन धर्म के अनुसार निगोदकाय के जीव भी पुरुषार्थ मे, काल-लब्धि से मोक्ष जा सकते है। निगोदकाय का जीव (ज्ञानादि की दृष्टि से) पवित्र जीव है और सिद्धालय के जीव सवमे उत्कृष्ट कोटि के जीव हैं, उनसे वढकर कोई शुद्ध व ज्ञानी नही। घवला, गोम्मटमार मे कहा है कि द्रव्यदृष्टि से सव शुद्ध है, निगोदकाय मे भी पूर्ण सभावना देखी है। ज्ञान-चेतना, कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना मे तीन भेद हैं दो इन्द्रिय मे कर्म चेतना प्रारभ होती है. चतुर्थ गुणस्थान वाले के चेतना होती है जो चौदहवे गुणस्थान तक रहती है। हम कर्म फल चेतना मे ही मग्न है। एक ओर तो निगोदकाय मे भी मुक्त होने की सभावना देखे और दूसरी ओर सकीर्णता रखे कि मेरे पास आते हो तो मम्यग्दृष्टि हो और दूसरे के पाम जाते हो तो मिथ्यादृष्टि हो। धर्म मे यह कैसी गुलामी ?

म्वय की दृष्टि मे दोप होने से विभाजन होता है। धर्म मे कोई विभाजन नही है। महावीर ने प्राणीमात्र के उद्धार के लिये मार्ग बताया। प्रत्येक मुक्तात्मा ने ऐसा ही वताया है, चाहे महावीर हो, चाहे राम हो। राम ने शूद्र शवरी का आतिथ्य स्वीकार किया और उसे अजर-अमर होने का आशीर्वाद दिया फिर कैसे धर्म मे स्त्री को नीचा माना जा सकता है ?

हमारे शास्त्र, पुराण व विचार विखरे हुये है उन्हे अनेकान्त दृष्टि से देखना है, अनेकान्त की अनेक खिडकिया हैं, जिसमे सबको आने के लिये रास्ता है। अनेकान्त मिद्धान्त मे दुनिया के मव सिद्धान्त समा जाते हैं, जैसे समुद्र मे सव नदिया ममा जाती हैं। सव मिद्धान्त, तत्त्व समझाने के कारण तो महावीर सर्वज्ञ हैं। यह सर्वज्ञ के द्वारा अनुभूति के आधार पर दिया हुआ मिद्धान्त है। अनेकान्त की दूरदर्शिता से ही हमारे मतभेद दूर हो सकते है।

ससार मे अनन्त आत्माये है पर वे किसी के आशीर्वाद से मुक्त नही हो मकती। उसके लिये स्वय को पुरुषार्थ करना होगा, महावीर ने, तीर्थंकरो ने

मार्ग बता दिया । वे पतितोद्धारक है, इस अर्थ मे नही कि हम पाप करे, और वे उन्हे छोडें, अपितु इस अर्थ मे कि उन्होने उद्धार का मार्ग बताया है, आत्मा के परमात्मा बनने की विधि बताई । मुक्त होने के लिये स्वय को तप करना होगा । स्वय के तप के बिना मुक्ति ऐसे ही है जैसे कि भोजन पत्नी करे और भूख पति की भी मिट जाये । पुत्र रोगी है, पिता औषध सेवन करे और रोगी पुत्र स्वस्थ हो जावे । क्या ऐसा सभव है ? यदि ऐसा सभव होगा तो हम भी मान लेगे कि कोई तप करके आपको परमात्मा बना सकता है, पर ऐसा न हुआ, न हो सकता है, यह असभव है । अजर-अमर होने के लिये स्वय को तप करना होगा । इसलिये रूढिवादी न बनो ।

समन्तभद्र स्वामी ने कहा कि—ये पुराने है इसलिये श्रेष्ठ है और ये नये है इसलिये व्यर्थ हैं, यह दृष्टि गलत है । सत्य त्रिकालबाधित है । रूढि-वादी मत बनो, हमारे बुजुर्ग ऐसा करते थे इसलिये हम भी ऐसा करेंगे, नही । व्यवहार से, शास्त्र से भी मेल बैठता है या नही, यह भी देखो । इसलिये समन्तभद्र स्वामी ने आगे कहा कि— मैं केवल नये को या केवल पुराने को नही कहूगा, मैं सत्य को कहूगा जो त्रिकालाबाधित है । सत्य से जाच-परख करनी चाहिये ।

भगवान महावीर ने जो सिद्धान्त बताये वे उदार दृष्टि को लिये हुये है । सम्यग्दृष्टि मे सकीर्णता होती ही नही, वह तो उदारदृष्टि होता है । यद्यपि सकीर्णता का पूर्ण उच्छेद वीतराग भगवान मे ही सभव है, परन्तु फिर भी सम्यग्दृष्टि की दृष्टि विकसित होती है, इसलिये रूढिवाद को समाप्त करना चाहिये ।

समाज, राष्ट्र, परिवार सबमे रूढिवाद घुस रहा है । काल के अनुसार रीति-रिवाज बदलते जाते है, ये शाश्वत नही है । आध्यात्म शाश्वत है । हम किसी रूढिवाद को लेकर न चलें । मन्दिरो मे धूप दशमी को धूप खेने का रिवाज है । बिना सोचे-समझे, अग्नि है या नही, रात मे खेना चाहिये या नही, इन पर विचार न कर केवल धूप खेने से कोई तात्पर्य नही है । आज सर्वत्र विकृतिया घुस आई है । उस विकृति मे प्रमाद से बचने के लिये प्रति-क्रमण है । महावीर ने गौतम गणधर को कहा कि—अप्रमत्त होवो । विधि विधान को जानकर ही क्रिया करनी चाहिये । प्रारभ मे परम्परा बहुत पवित्र विचार के साथ प्रारभ की जाती है, पर धीरे धीरे सब मे विकृतिया घुस जाती हैं । क्या केवल भेट-चढावे से ही आत्मा मे शुद्धता आती है ? तब तो सारे

अमीर धर्मात्मा हो जायेगे और गरीब नही हो पायेगा। ऐसा नही है, जैनधर्म तो अन्तरग विशुद्ध की ओर दृष्टि रखता है, यह भक्ति प्रधान है। मुनि के पास चढाने के लिये कुछ नही होना। मुनि के लिए कहा है कि—

तनुजिनमदिर, मनकमलासन, त्यावरीचिन्मयतुग,
यज जिनपद कमलनि सग।
ज्ञानगगाजलि क्षालोनिनिर्मल, सचितपातकभग
यज जिनपद कमल नि सग॥

हे तपस्वी! तेरा शरीर ही मदिर है, उसमे मन वेदी है और मन पर बैठा तेरा आत्मा परमात्मा है। उसको ज्ञान रूपी गगाजल से प्रक्षालित करो। इसी से सब पाप नष्ट हो जायेंगे। अत आप सब भी द्रव्यपूजा के साथ साथ भावपूजा भी करें। प्रक्षाल करते करते उम्र बीत गई। भगवान की प्रक्षाल के साथ अपनी प्रक्षाल भी तो करो। प्रक्षाल किसके लिये करना है, स्वय की जय के लिये ही तो करना है। भावपूजा की ओर अधिक लक्ष्य देना होगा, तभी मन एकाग्र होगा। अर्घ्य चढाकर एक क्षण के लिये एकाग्र होकर सोचो कि मन ही मदिर है। बिब तो साधन है। केवल जिनबिब के दर्शन से ही पाप नष्ट नही होगे, जब स्व-आत्मा के दर्शन होगे, तब सब पाप-पुण्य नष्ट हो जायेंगे। केवल बहिरग पूजादि से पाप नाश नही होते। ये तो साधन हैं, आत्मा साध्य है।

केवल कागज के पन्ने पलटने से सविधान बदल देने से देश का उद्धार नही हो सकता। जब सविधान बनाने वाले उसका पूर्ण रूप से पालन करे और जनता भी पालन करे तब देश का उद्धार हो सकता है। इसलिये केवल पन्ने पलटने से, द्रव्य पूजा करने से उद्धार नही हो सकता, भावपूजा की ओर ध्यान देना होगा। शास्त्रो मे लिखा है कि पूजा-भावपूजा को महत्त्व दें। हमे परिणामो की शुद्धि पर भी ध्यान रखना चाहिये। साधन रूप से जो विधिया हैं उनका पालन करना चाहिये, पर उन विधियो को ही सब कुछ न मान लेना चाहिये, वह तो साधन है। सीढी ऊपर चढने का साधन है, पर उसकी पूजा नही करते। रूढिवाद से मुक्त होना चाहिये। कवि कालिदास ने भी कहा है कि यह पुराना है, इसलिये श्रेष्ठ है, यह नही, वह सत्य है या नही यह देखो। पुराना श्रेष्ठ है तो डाकू-चोरो की परम्परा भी बहुत पुरानी है, क्या वे भी श्रेष्ठ हैं? नये होने मात्र से कोई खराब नही हैं, उनमे निहित सत्य को खोजो।



यह राग आग दहे सदा....

जितना समय अपनी आत्मा के लिये दिया, स्व-समय मे डूबे, वह समय मगल है, शुभ है, वह समय ही अपना है, वाकी सव पर समय है, यही समयसार है।

धर्म त्रिकालावाधित है। जैनधर्म का शरीर से नही, आत्मा व ज्ञान से सम्वन्ध है। वीतराग भगवान् की वाणी का एक शव्द भी अर्थ और भाव सहित याद करे, तो हम स्वय एक ग्र थ वन जाये।

पराई वस्तु है, यह जानकर जो उसे त्याग देते हैं वे ज्ञानी हैं और जो अन्दर मे वैठे राग-द्वेपादि है, उनको पर-द्रव्य जानकर त्याग देता है—वह ही सम्यक्ज्ञानी है। पर-द्रव्य वाहर ही नही है, अन्तर मे भी राग-द्वेष रूप मे वैठे है।

प० दौलतरामजी मे छहढाला मे कहा है—

"जे पूरव शिव गये, जाहि अव आगे जै हैं।
सो सव महिमा ज्ञान तनी मुनिनाथ कहे हैं।।"

अर्थात् मैं जो वता रहा हूँ वह अपनी ओर से नही वता रहा हूँ, ये सव मुनिराज, तीर्थकरो ने कहा है, वही वता रहा हूँ। यह सव उनके ज्ञान की महिमा है। ज्ञान की महिमा ही अलग है। ज्ञान-ध्यान मे आना वडा कठिन है।

यूरोप खड मे एक घटना घटी। सी० आई० डी० अधिकारियो ने

राज्याधिकारियो को लिखा कि पडौसी राज्य सता रहा है, अपने यहाँ कितने टैंक है, यह बतावे। उन्होने पता करके बता दिया कि पचास टैंक हैं। इस सूचना के आधार पर उन्होने विचार-विनिमय कर उस पडौसी राज्य पर आक्रमण कर दिया, किन्तु हार गये। क्योकि उनके पास युद्ध के इतने टैंक नही थे, वे तो पानी के टैंको की गिनती बता गये थे। शब्द के कारण भ्रम हो गया। इसलिये धवला मे आचार्य ने लिखा है—'अल्पाक्षरोअसदिग्ध', अर्थात् तथ्य अल्प अक्षर वाला सक्षिप्त होना चाहिये और असदिग्ध होना चाहिये। हमारी आत्मा मे कर्मशत्रुओ को जीतने के लिये कितनी शक्ति है, हमे इसका ज्ञान नही। इसलिये हम उन पर आज तक विजय प्राप्त नही कर सके।

प्रत्येक क्रिया होती तो ज्ञान के आधार से ही है। हिंसादि के लिये अस्त्र-शस्त्र भी ज्ञान के आधार से ही बनते हैं, पर वे कुमति और कुश्रुत ज्ञान है। कर्म-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने के लिये सुमति और सुश्रुत होना चाहिये। जैसे वृक्ष, विना किसी भेदभाव के समान रूप से सबको छाया प्रदान करता है, वैसे ही सत् पुरुष भी सब को समान रूप से ज्ञान-उपदेश देता है, कौन कितना ग्रहण करता है, यह लेने वाले की पात्रता पर निर्भर करता है।

जीवन मे अनेक मोड आते है, उनके अनुसार मनुष्य मुडता चला जाता है, ऐसे मे भी जो धर्म नही छोडता वह महान् है। सारथी रथ की लगाम पकडे रहता है वह रथ को मार्ग से इधर-उधर नही जाने देता, मार्ग पर ही चलाता है, अन्यथा दुर्घटना हो जाये। इसलिये हमे भी अपने आचरण पर सम्यग्ज्ञान रूपी लगाम लगानी चाहिये।

समय का अर्थ आत्मा भी है, अर्धमागधी मे ज्ञान भी है और व्यावहारिक दृष्टि से घटा-दिन आदि भी समय है। जितना समय अपनी आत्मा के लिये दिया, स्व-समय मे डूबे, वह समय मगल है शुभ है, वह समय ही अपना है, बाकी सब पर समय हैं, यही समयसार है। केवल शब्दो के पढने से ही नही पढने के बाद, अर्थ और ज्ञान आदि सभी पढना सार्थक है। ज्ञान-रूपी समयसार यथा तथ्य होना व अनुभव मे आना जरूरी है। आचार्यों ने तीन बात बताई—(१) शब्द, (२) अर्थ व (३) ज्ञान। एक सस्कृत का छात्र है वह 'घट' शब्द के रूप रटता है। केवल शब्द 'घट' के रटने मात्र से उसने घट के शीतल जल का पान नही किया है। कुम्हार के घट को देखकर

उसे 'शब्द घट' का 'अर्थ' ज्ञात होता है तब वह अर्थ-घट भी जान जाता है। जब उस घट का आकारादि अन्तर मे प्रतिविम्वत हो जाये तव वह ज्ञान है। चाहे वस्तु रूप मिट जाये समाप्त हो जाये पर उसका प्रतिविम्व खत्म नही होता, तभी वह ज्ञान है। एक खोई हुई वस्तु को दस वर्ष वाद मिलने पर भी पहचान जाते है, क्योकि उसका आकार प्रतिविम्वित था।

दो मित्र विद्यालय से घर जा रहे थे। रास्ते मे किसी का पैन गिर गया था। दोनो मित्रो मे से एक ने झट से उसे उठा लिया और अपने पास रखने लगा। दूसरे ने कहा इस पैन पर पहले मेरी दृष्टि गई थी, यह मुझे मिलना चाहिये। दोनो अनन्य मित्र, परन्तु एक पराई वस्तु के कारण झगडा हो गया। अध्यापक आये, उन्होने पैन ले लिया और वापस विद्यालय लौट चले। वहाँ उन्होने सव छात्रो को एकत्रित किया और पूछा—क्या किसी का पैन खोया है?' एक छात्र ने कहा-हाँ खोया है। अध्यापक ने पूछा—कैसा है, उसकी क्या पहिचान है, कैसा रूप-रग है। उसने पहचान वता कर पैन ले लिया। दोनो मित्रो का झगडा भी खत्म हो गया। इस प्रकार खोई हुई वस्तु को प्रतिविम्व के आधार पहचान लेते हैं, तथा वस्तु को पराई समझकर त्याग देते हैं, यह ज्ञान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की पैंतीसवी गाथा मे कहा है कि जो पराई वस्तु है यह जानकर उसे त्याग देते हैं वे ज्ञानी हैं और जो अन्दर मे वैठे राग–द्वेषादि हैं उनको पर–द्रव्य जानकर त्याग देता है वही सम्यग्ज्ञानी है। पर–द्रव्य वाहर ही नही हैं, अन्तर मे भी राग–द्वेष रूप मे वैठे हैं। उनको छाडने के लिये जिन्होने प्रयत्न किया, पुरुषार्थ किया, वे ही ज्ञानी हैं और उन्होने ही मुक्ति प्राप्त कर ली है।

दिल्ली मे एक गोष्ठी हो रही थी, उसमे एक प्रोफेसर सा० ने कहा कि जैन वणिकवृत्ति के हैं। वे सिद्धो के पूर्व अरिहतो को नमस्कार करते है, (णमोकार मत्र मे), क्योकि अरिहतो के पास समवशरण मे अत्यन्त वैभव होता है, उस वैभव के कारण वे उन्हें प्रथम नमस्कार करते हैं। लाल वहादुर शास्त्री कॉलेज, दिल्ली के आचार्य श्री दामोदर शास्त्री ने इसका उत्तर दिया कि अरिहतो को इसलिये पहले नमस्कार नही करते कि उनके पास समवशरण मे अत्यन्त वैभव होता है, अपितु अरिहत उस समवशरण मे अत्यन्त वैभव होते हुये भी उससे चार अगुल ऊपर रहते हैं, पृथक् रहते हैं। अत उनसे यह शिक्षा लेते हुये कि हम भी, वैभव मे रहते हुये भी, उसमे लिप्त न रहे इसलिये प्रथम नमस्कार करते हैं। वैभव होते हुये भी उसमे रमो

मत, उससे चिपको मत, उसके प्रति राग मत रखो, निर्लेप रहो, उसके साथ पडोसी समझकर रहो।

हमारे किसी आचार्य ने यह नही माना कि धर्म किसी जाति या व्यक्ति विशेष का है, धर्म प्रत्येक आत्मा का है। निगोदकाय मे भी ज्ञान है, क्या निगोदिया जीव जैन हैं ? जैनधर्म का शरीर से नही, आत्मा व ज्ञान से सम्बन्ध है। धवला ग्रन्थ मे निगोदकाय को, पतित जीव को भी आशा का सदेश दिया है, अतः उन्हे पतितोद्धारक कहा।

यदि क्षण भर भी आत्मा की दृष्टि से विचार करते है तो क्षण भर के लिए ही समताभाव की लहर निकलती है और शीतलता पहुँचाती है। प० दौलतरामजी ने कहा है—

जग सुहित कर, सब अहित हर,
श्रुतिसुखद सब सशय हरे।
भ्रम रोग हर तिनके वचन,
मुख चन्द्र ते अमृत झरे ॥

दो मुनिराज बैठे थे। कुछ अन्य लोग भी बैठे थे। किसी ने उनसे पूछा—मुनिराज ससार मे सबसे शीतल वस्तु क्या है ? वहाँ एक सेठजी भी बैठे थे, उनसे कहा कि सेठ सा० आप बताइये सबसे शीतल वस्तु क्या है ? सेठ सा० ने कहा—जेठ के महिने मे चन्दन का तेल यदि लगाया जाता है तो वह सबसे शीतल हैं। सेठानी ने बताया—नही, चन्दन का तेल शीतल नही है। यदि जेठ के महीने मे बसरे के मोतियो की माला पहनी जावे तो वह शीतल है। एक किसान बैठा था, उसने कहा—जेठ के महीने मे वट-वृक्ष की छाव अत्यन्त शीतल है। ब्राह्मण ने कहा—गगा का जल अत्यन्त शीतल है। तब मुनिराज ने कहा—ये सब व्यावहारिक चीजें शरीर को शीतलता पहुँचा सकती हैं पर आत्मा को नही पहुँचा सकती। तीर्थंकर की वीतराग वाणी ही आत्मा को शीतलता पहुँचाने मे समर्थ है, शेष वस्तुये समर्थ ही नही है। इसीलिये तो कहा कि—

भ्रम रोग हर तिनके वचन, मुखचन्द्र ते अमृत झरे।

चन्द्रमा की किरणो मे भी ऐसी शक्ति नही है, वे भी केवल शरीर को ही शीतलता पहुँचा सकती है। यदि वीतराग भगवान् की वाणी का रोज

एक शब्द भी अर्थ और भाव सहित याद करें तो हम स्वयं एक ग्रन्थ बन जाये। हमे अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी बनना चाहिये।

हरिनारायण उपाध्याय का जीवन प्रसग है। वे अत्यन्त गरीब थे। एक दिन बाजार मे से गुजर रहे थे तो देखा कोई व्यक्ति दो अत्यन्त उपयोगी पुस्तके बेच रहा है। इनके पास पैसे नही थे, उधार देने के लिये वह तैयार नही था। अत कुर्त्ता गिरवी रखकर वे पुस्तके खरीद लाये। चार-छ दिन बाद जब पैसे आये तब कुर्त्ता छुडवा लिया। क्या हममे भी ज्ञान के प्रति इतनी लगन है? उन्होंने कुर्त्ते को कीमती नही समझा, ज्ञान को कीमती समझा। हम धन रखने के लिये, सोना रखने के लिए तिजोरिया खरीदते है। कार के लिये गैरेज बनवाते हैं, ड्राईवर रखते है, पर क्या कभी एक आलमारी तत्त्वज्ञान की पुस्तके, छहढाला, समयसार आदि के लिये रखी? पुस्तके रखे तो जब कभी भी समय मिले तीन-अक्षर भी यदि उसमे से पढ़ें तो वह लाभदायक ही होगा। हम ससारी-भौतिक वस्तुओ को रखते है, कार चलाने के लिये ड्राईवर रखते है तो एक विद्वान् पडित रख धर्म के चार अक्षर नही पढ सकते? इसीलिये समयसार मे लिखा है कि प्रपच की सासारिक भोग-विलास की शिक्षा देने वाले गुरु तो घर-घर मे बैठे है, पर आत्मा का ज्ञान सिखाने वाला नही मिलता।

एक वायुयान उडान भरते हुये खराब हो गया। परिचारिकाओ ने घोषणा कर दी कि सुरक्षा असम्भव है। उस वायुयान मे तेहत्तर व्यक्ति यात्रा कर रहे थे। घोषणा सुनते ही उनमे से जो ईसाई धर्मावलम्बी थे, उन्होंने बाईबल निकालकर प्रार्थना प्रारम्भ कर दी, मुसलमानो ने कुरान की आयते बोलना चालू कर दिया, कोई गीता का पाठ करने लगे, पर उसी यान मे जो तीन जैन व्यक्ति थे, वे कुछ भी स्मरण न कर दरवाजे की ओर देख रहे थे कि कैसे भी दरवाजा खुल जाये तो हम नीचे कूद पडे। उनके पास न पाठ करने को कुछ था, न कुछ याद था, जिनको पढने लगे, न भगवान् का नाम ही स्मरण किया। क्यो नही माता-पिता, गुरुजन आदि अपने बच्चो मे यह सस्कार डालते कि बेटा जैसे अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुये साथ रखते हो, वैसे ही एक धार्मिक पुस्तक को भी अत्यावश्यक समझकर सदैव अपने साथ रखो और उसका अध्ययन भी करो? आप लोग जो लाखो रुपये देकर दामाद को खरीदते है, उसको भौतिक-आवश्यकता की ढेरो वस्तुयें देते है, साथ मे पढने के लिये एक छहढाला की पुस्तक भी दीजिये और कहिये इसको

पढना, इसका भी उपयोग करना। हमने तो सदैव धन को ही महत्त्व दिया, धर्म को नही दिया।

एक रुपया रास्ते मे गिर गया। बहुत सारे लोग उसके मालिक बनने लगे, कहने लगे—मेरा है, मेरा है। यह सुनकर उस रुपये ने हँसकर कहा—सब लोग मुझे अपना बताते हैं, मेरा-मेरा करते है, पर मैंने आज तक किसी को अपना नही बताया। आज धन को कीमत देने से ही दहेज की कुप्रथा प्रश्रय पा रही है और वह प्रश्रय आप लोग ही दे रहे हैं और आप ही दु खी हो रहे हैं। आप लोग अपने पुत्रो को समझाये कि—यह धन शाश्वत नही है, दूसरे का दिया हुआ धन तुम्हारे काम नही आयेगा, स्वय कमाओगे वही तुम्हारे काम आयेगा। कुरीतियाँ अज्ञान के कारण हैं। जब तक समाज मे ज्ञान के प्रति रुचि नही होगी समाज उन्नत नही होगा। किसी का दिया हुआ उपयोगी नही हो सकता। कुएँ मे कुदरती पानी न हो, प्राकृतिक स्रोत न हो, तो ऊपर से कितना पानी डाला जा सकेगा ? ऊपर से भरने वाली तो टकिया है जो खाली हो जाती है। समय का उपयोग करें, कुरीतियो को हटायें।

समय बहुत मूल्यवान है, एक बार गया हुआ समय फिर लौटकर नही आता है। दुनिया मे सब कुछ परिवर्तनशील है, एक धर्म ही त्रिकालाबाधित है। सूर्य प्रतिक्षण गतिशील है, किन्तु विचलित हुये बिना। सूर्य अँधेरा मिटाने के लिये आगे बढता है और अँधेरा उसके पीछे-पीछे चलता है, दोनो का साथ अनादि है, लगता है दोनो मे द्वन्द चल रहा है। हम अनन्त ससारी जीवो ने मिथ्यात्व के अँधेरे को हटाने की कभी कोशिश ही नही की और यदि कोशिश की भी तो मिथ्यात्व ने उसे दबा दिया। शस्त्रास्त्र से कभी किसी को जीता नही जा सकता, दबाया जरूर जा सकता है। अपने ऊपर विजय प्राप्त करना ही, विजय है, यह विजय समता-भाव से ही प्राप्त कर सकते हैं।

हम राग के कारण ही ससार मे फस रहे हैं। 'राग आग दाह'—राग आग है, यह मानव को जर्जरित कर रहा है। इसको समाप्त करने के लिये क्षमारूपी शीतल जल ही श्रेष्ठ है। मनुष्य के विचारो मे विकार उत्पन्न होते हैं, उन पर विजय प्राप्त करने का साधन धर्म ही है। राम जब चौदह वर्ष का वनवास पूर्ण कर अयोध्या लौटे तो किसी ने पूछा—राम तुम्हारी क्या इच्छा है ? राम ने कहा—

नाह रामो न मे वांछा भावेषु न च मे मन ।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनोयथा ।। —योग वशिष्ठ

अर्थात्—मैं यह भौतिक शरीरधारी राम नही हूँ।

सामारिक भावो मे, पदार्थों मे मेरा मन नही है। मै तो केवल शाति मे स्थित होना चाहता हूँ, जैसी शाति मे जिन भगवान् मे स्थित हैं। जव स्वदोप शान्त होगे, तभी शान्ति प्राप्त होगी, शीतलता प्रवाहित होगी।

मनुष्य इष्ट स्थान पर पहुँचना चाहता है, शाश्वत शान्ति चाहता है, तो उमे अपने को मोड लेना चाहिये। दीन हमारी आत्मा मे फस रहे कर्म व उनसे प्रभावित पर्यायें है, दीनानाथ हमारी आत्मा है, हमारे सव तीर्थंकरो के आगे 'नाथ' शव्द लगा हुआ है, जैसे नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, न+अथ=नाथ, अर्थात् जिमका न प्रारम्भ है, न अन्त है, न मध्य है और वह है आत्मा। उस आत्मत्व को प्राप्त करने का मार्ग वताने वाले तीर्थंकर 'नाथ है।' हमारी आत्मा भी 'नाथ' है।

जव आचार्य शान्ति सागरजी महाराज सल्लेखना लेने वाले थे, एक अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति वाला व्यक्ति वहुत उदास हो गया और मुनिराज से कहने लगा–मुनिराज! अव किसकी छत्रछाया मे रहेगे। आचार्य ने कहा—पडितजी! मैं किसकी छत्र छाया मे हूँ? उम व्यक्ति ने उत्तर दिया–आप तो धर्म की छत्र-छाया मे है। आचार्य ने कहा—तो आप भी धर्म की छत्र-छाया मे ही रहिये।'

धर्म की छत्र-छाया कभी नही हट मकती। माता-पिता, गुरु सवकी छत्र-छाया हट जायेगी पर धर्म की कभी नहीं हट सकती। स्वय मे रहना ही धर्म की छत्र-छाया मे रहना है, स्व छत्र-छाया मे रहना चाहिये।

जगत् मे सम्यग्ज्ञान ही श्रेष्ठ है। जो ज्ञान दुःख को नि शेप करदे, निरस्त्र करदे, मिथ्यात्व को भगादे, वही सम्यग्ज्ञान है और सव व्यावहारिक ज्ञान है। सामान्य पुस्तको से पढा ज्ञान व्यावहारिक है, शरीर के लिये है, ज्ञान वही है। जो दुःख को दूर करदे। आचाराङ्ग नौ पूर्व के धारक को भी ज्ञानी नही समझा, उमके ज्ञान को कुछ महत्त्व नही दिया क्यो कि दुःख को, मिथ्यात्व को, दूर नही कर मकता है।

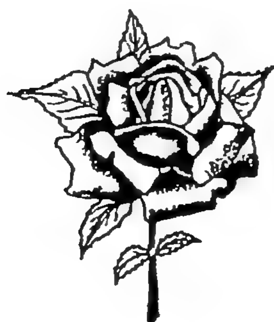
आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि ज्ञान कष्ट साध्य है। जव दुःखो के सामने विचलित न हो, धर्म न छोडे, तभी मम्यग्ज्ञान निखरता है। स्वर्ण के आभूपण वनाने के लिए उसे अनेक ताप दिये जाते है, उसी प्रकार कठोर तप तपने के वाद ही ज्ञान निखरता है। ज्ञान प्राप्ति का मार्ग तो कोई भी वता मकता है, पर ज्ञान प्राप्त कोई नही करा मकता, दुःख दूर नही कर मकता। किसी

का ज्ञान हमारे लिये केवल मार्गदर्शक ही हो सकता है, पर हमारा नही हो सकता ।

भगवान् महावीर ने सिंह सेनापति को कहा था कि मेरी वाणी तेरा दु ख दूर नही कर सकती, तेरा दु ख तू ही दूर कर सकता है ।

हमे अन्तरग से, दु ख दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये । एक बार आचार्य शान्तिसागरजी महाराज एक गाव से दूसरे गाव विहार कर रहे थे । राह मे एक साधु की झोपडी थी । साधु द्वारा आग्रह करने पर आचार्य ने उसकी झोपडी मे पत्थर की शिला पर बैठकर ध्यान किया । कुछ देर पश्चात् आचार्य ने वहा से विहार किया । राह मे वह साधु अपनी झोपडी की प्रशसा करने लगा—महाराज मेरी झोपडी बहुत अच्छी है, सुन्दर है, सब तरह से सुरक्षित है, इसमे कोई जानकर नही घुस सकता । इस प्रकार वह दस मिनट तक अपनी झोपडी के गीत गाता रहा । फिर पूछा—महाराज आपको मेरी झोपडी कैसी लगी ? आचार्य मुस्कराये और कहा—अरे पहले घर के गीत गाता था, अब घर छोड दिया, परिवार छोड दिया और झोपडी मे आकर रह रहा है, अब इसके गीत गाता है, तूने क्या छोडा ? वह साधु वापस भागकर आया और उस झोपडी को आग लगा दी । भागकर पुन आचार्य के पास कहने भागा कि कही महाराज मुझे रागी न समझ लें । आकर कहा महाराज मैंने झोपडी जला दी, बिल्कुल खाक करदी । कुछ दूर तक साथ चला और कहा—कुछ भी कहे पर महाराज झोपडी थी बहुत अच्छी, वह घास की झोपडी तो जल गई पर मन की झोपडी नही जली । जब तक मन का शल्य नही मिटायेंगे तब तक सम्यग्ज्ञान नही प्रकट हो सकता । इसीलिये तो कहा है कि—

धन कन कंचन राज सुख सबहीं सुलभ कर जान ।
दुर्लभ है ससार मे एक यथारथ ज्ञान ।।



अहिंसा—आत्मसुरक्षा का अनुपम कवच

अहिंसा मगलमय धर्म है। यह सम्प्रदाय, जाति अथवा देश की नही, वल्कि प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। मगलमय जीवन-यापन के लिये धर्म के सिद्धान्त प्रेरणादायक है, उनके पीछे परम विवेक है। शाति अहिसा से ही स्थापित हो सकती है, हिंसा से, युद्ध से, कदापि नही।

विज्ञान विवेक उत्पन्न करता है। विध्वसक क्रियाये मान-कषाय के वशीभूत होकर की जाती है। अमृतमय लड्डू मे यदि एक अश जहर का हो तो वह लड्डू ग्राह्य नही, तो वीतरागी धर्म मे हिंसा का स्थान कैसे हो सकता है ?

आचार्यो ने अपने प्राकृत ग्रथो मे 'धम्मो मगल मुक्किठ' कहा है अर्थात् धर्म मगलमय व उत्कृष्ट है। आप शादी-विवाह या अन्य कोई व्यावहारिक शुभ कार्य करते हैं तो उसके साथ मगल शब्द जोडते हैं, उन कार्यो को मगल कहते हैं। किसी भी कार्य आदि को मगल कहते हैं, इसका अर्थ है कि कुछ अमगल भी होता है। रोशनी के साथ अन्धेरा भी जुडा रहता है, एक पक्ष के साथ दूसरा पक्ष भी रहता है। ससार मे, चतुर्गति मे भ्रमण करने वाले प्राणियो के जीवन मे क्या कभी एक भी मगलमय क्षण आता है ? पशु पक्षियो मे मनुष्य जैसा विवेक न होने से, केवल खाने पीने का ही विवेक होने से वे मगलमय क्षणो की अनुभूति नही कर सकते। आहारसज्ञा, भयसज्ञा व मैथुनसज्ञा व परिग्रह सज्ञा, ये चार सज्ञाये है, जो अमगलमय है, वे इन्ही मे समय व्यतीत कर देते हैं। परन्तु मनुष्य ऐसा नही है, वह विवेकी है। जब

वह विवेक के साथ पवित्रता से जीवन व्यतीत करने की भावना करता है तो वह धर्म-विवेकी और उसका जीवन परम मगलमय हो जाता है।

इस विश्व के किसी भी देश मे, यदि किसी का पुत्र कारागार मे बद हो तो क्या उसके माता-पिता समझते हैं कि उनके पुत्र ने बहुत अच्छा कार्य किया है ? नही, लोकलाज के कारण वे घर से बाहर नही निकलना चाहते। अथवा किसी का पुत्र शराब पीता है तो क्या उसके माता-पिता स्वाभिमान के साथ इसका उल्लेख कर सकते है ? क्या वे ऐसा मान सकते है कि—हम ऐसे पुत्र को जन्म देकर सार्थक हुये, हमारा पुत्र कितना भाग्यवान् है, जो शराब पीकर नाली मे पडा हुआ है ? नही, कदापि नही ! जब अमगलता को व्यावहारिक जीवन मे भी स्वीकार नही करते, उसको ग्राह्य नही समझते तो धर्म मे अमगल कैसे स्वीकार कर सकते हैं ? एक व्यक्ति शराब के नशे मे झगडता हुआ अपना जीवन समाप्त करता है और एक व्यक्ति किसी तीर्थ क्षेत्र मे भगवान् के स्मरण के साथ शरीर त्यागता है, कौनसा जीवन श्रेष्ठ रहा ? भगवान् के स्मरण के साथ तीर्थ स्थान मे जीवन समाप्त करने वाला व्यक्ति स्वय तीर्थ बन जाता है। '**धर्म हमे उत्कृष्ट मंगलमय जीवन-यापन करने की प्रेरणा देता है। धर्म के सिद्धान्त—प्रेरणादायक सिद्धान्त हैं उनके पीछे परम-विवेक है।** विवेक का ही मूल्य है। व्यवहार मे भी कहते है—विवेक से काम करो अथवा जोश मे होश (विवेक) मत खोओ।

धनपुर पट्टी (श्रीनगर के पास एक गाव) मे सस्कृत-साहित्य के महान् कवि भारवि एक झोपडी मे रहते थे, पास की दूसरी झोपडी मे पत्नी व बच्चे थे। कवि भारवि अपनी झोपडी मे बैठे-बैठे काव्य रचना कर रहे थे। घर मे खाने को कुछ नही था। आधी तूफान आ रहा था, उसके वेग से बच्चो की झोपडी का छप्पर उड गया। कवि-पत्नी भूख व प्राकृतिक कष्टो से दु खी हो, कवि की झोपडी मे गई और जाकर लडने लगी—आप यहा बैठे क्या कर रहे है ? कवि ने उत्तर दिया—मैं एक ग्र थ (काव्य) लिख रहा हू। पत्नी ने गुस्से मे भरकर कहा—क्या ग्र थ लिखने बैठे हो ? क्या यह ग्र थ खाने को दे देगा ? सब भूख से मर रहे हैं। कोई पेट भरने की विद्या सीखो, इस विद्या का क्या लाभ है जो पेट न भर सके। कवि भारवि ने कहा—हाँ ! यह भी पेट भर सकती है। कवि पत्नी ने कहा—अच्छा तो लाओ, ग्रन्थ का एक पत्र दो, देखू यह बाजार से कुछ दिला सकता है क्या ? कवि ने एक पत्र पर एक श्लोक लिखकर पत्नी को दे दिया। वह उसे लेकर एक सुनार की दुकान पर पहुची और कहा—मैं इस श्लोक को बेचना चाहती

मकानो के सैंकडो व्यक्ति काले झण्डे लेकर विरोध मे खडे हो गये कि जब तक ये बच्चे यहा से उड नही जाते तब तक हम फिनिशिंग नही होने देंगे, बहुत विरोध हुआ। अन्त मे पुलिस को बुलवाना पडा। जब तक वे बच्चे बडे होकर उड न गये, वहा पुलिस का पहरा लगा रहा। उन अमेरिका-वासियो के मन मे ये अहिंसक विचार कहाँ से आये ?

चीन मे दो सौ वर्ष प्राचीन एक अहिंसा का ग्रथ है। उसमे उल्लेख है कि एक अमीर व्यक्ति यात्रा के लिये बाहर जा रहा था, उसके मूल कक्ष मे एक पक्षी ने घोसला बना लिया। उसने सोचा क्या करू ? बाहर निकाल देता हू तो ये मर जायेंगे, यदि मकान बन्द करता हूँ तो ये अन्दर ही घुटकर मर जायेंगे। कुछ सोचकर उसने एक कारीगर को बुलवाया, दीवार मे एक बडा छिद्र करवाया, जब पक्षी उसमे से होकर आने जाने लगे तब वह ताला बन्द करके चला गया। उस व्यक्ति के मन मे उन पक्षियो के प्रति करुणा उत्पन्न हुई, प्रसूत हुई, वह कहा से ?

स्पष्ट है कि अहिंसा प्रत्येक आत्मा मे है, यह प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। वादिवृषभाचार्य ने सिद्धिविनिश्चय ग्रथ मे लिखा है कि कसाई भी कथचित् अहिंसक है वह भी अपने पाले हुये पशु-पक्षियो को नही मारता, न मारने देता है। शेर उन्ही दातो से, जिसमे शिकार को काट लेता है, अपने बच्चे को पकडकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है किन्तु उसे कोई चोट नही पहुचती।

मैं विश्व धर्म की जय भी इसीलिये बोलता हूँ कि अहिंसा ही विश्व धर्म है, यह प्रत्येक प्राणी मे, आत्मा मे विद्यमान है।

कर्नाटक वैदिक विचारधारा के कवि सर्वज्ञ ने भी अपने काव्य मे लिखा है कि—किसी धर्म ग्रथ मे, हिंसा करना चाहिये ऐसा लिखा है ? यदि धर्म के नाम पर हिंसा को प्रश्रय दिया है तो वह ग्रथ आग में जला देने लायक है और जिसमें अहिंसा के लिये लिखा है वही ग्रथ धर्मग्रन्थ है। जैसे अमृतमय लड्डू में जहर का एक भी अश हो तो वह ग्राह्य नहीं है, वैसे ही यदि धर्म मे हिंसा को स्थान दिया तो वह सच्चा धर्म नही है। **धर्म मे हिंसा का स्थान कैसे हो सकता है ? आत्म कल्याण के वीतराग धर्म मे हिंसा को स्थान नहीं है।** व्यावहारिक रूप मे गृहस्थो को अपनी रक्षा हेतु लाठी रखने व प्रतिक्रिया के लिये मना नही किया है, केवल परिपूर्ण त्यागियो के लिये कहा है कि—उपसर्ग की भी प्रतिक्रिया मत करो। जो आत्मकल्याण

की भावना से ओत-प्रोत ग्र थ होगे उनमे अहिंसा का ही महत्त्व होगा।

महाभारत मे एक स्थान पर चर्चा आई है कि गगा के किनारे एक ऋषि व एक मुनि बैठे थे। दोनो अत्यन्त विद्वान् व चिन्तक थे। मुनिराज के पास जो कोई भी व्यक्ति आता उसे वे अहिंसा के पालन के लिये कहते। ऋषि को बहुत गुस्सा आया कि मुनिराज प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा के पालन के लिए कहते है इन्होने क्या अहिंसा-अहिंसा लगा रखी है ? उन्होंने मुनिराज से कहा— मुनिराज !

जले जन्तु· स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक ॥

अर्थात्– जल मे भी जीव है, थल मे भी जीव है और आकाश मे भी जीव है। लोक ही जन्तुओ (जीवो) से व्याप्त है। ऐसी स्थिति मे साधु भी अहिंसक कैसे रह सकता है ?

शका का निराकरण करते हुये मुनिराज ने कहा—

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणाम–विशेषेण यथा धीवर–कर्षको ॥

"मछली मारने वाला धीवर प्रात से सायकाल तक नदी मे जाल डाले प्रतीक्षा मे बैठा रहता है और मछली फसाने की बात सोचता है। पर शाम तक भी उसके जाल मे एक भी मछली नही आती। तब भी वह पाप का, हिंसा का भागी है। क्योकि उसके परिणामो मे, भावो मे हिंसा व्याप्त थी। इसके विपरीत दूसरी ओर एक कृषक है, जो खेती प्राण रक्षा हेतु-भूत कार्य के निमित्त से हल चलाता है, उसमे जीवो का घात भी होता है, फिर भी वह हिंसा का भागी नही होता। क्योकि उसके भाव रक्षण के है, हिंसा के नही।"

डाक्टर रोगी को बचाने का प्रयत्न कर रहा है, चीरा-फाडी कर रहा है, पर वह हिंसक नही है, किन्तु सडक पर चाकू चलाने वाले के चाकू से कोई मरा नही तो भी वह हिंसक है, क्योकि उसके भाव हिंसा के थे, हत्या के थे। उसके मन मे दुर्भावनाये थी। सरकार यातायात नियत्रक को अहिंसा के लिए तनख्वाह देती है, कि ध्यान रखो कि कही दो गाडिया आपस मे न टकरा जावें। अहिंसा मन की दुर्घटनाओ, दुर्भावनाओ को रोकती है। **मनोमालिन्य को रोकने के लिये अहिंसा ही सर्वाधिक पवित्र विचार है। अहिंसा उत्कृष्ट**

। सुनार ने हँसकर कहा—अरे ! क्या कभी श्लोक भी बिकता है ? मैं इसका क्या करूंगा ? दुकान पर ही सुनार के एक विद्वान् ब्राह्मण मित्र बैठे थे, उन्होंने वह पत्र हाथ मे लेकर उस श्लोक को पढा, पढकर बोले – अरे इतनी भावपूर्ण सुन्दर कारिका ! इसे तो स्वर्णाक्षरो से लिखाकर अपने घर मे टाकना चाहिये। अपने विद्वान् मित्र के आग्रह से सुनार ने वह एक श्लोक हजार रुपये मे खरीद लिया और अपने अन्त.पुर मे टाक दिया। कुछ दिनो पश्चात् वह सुनार धन कमाने हेतु विदेश जाने लगा, घर मे केवल पत्नी व दासी ही बची थी, उन्हें अच्छी तरह रहने, सभलकर रहने के निर्देश देकर, कुछ वर्षो मे लौटकर आने का आश्वासन देकर वह विदेश चला गया। विदेश मे उसने अपार धन कमाया। धन भी बहुत विचित्र चीज है, धन कमाने मे तो मानव अपने आपको अजर-अमर समझ लेता है और धर्म के लिये समय न होने का बहाना करता है। बरसो तक विदेश मे धन कमाने के बाद उसे सहसा अपने घर का व पत्नी का खयाल आया। अरे ! मैं किसके लिये इतना धन कमा रहा हू ? मैं व पत्नी कुल दो ही तो प्राणी है घर मे ? बस यह सोचकर शीघ्र ही वह स्वदेश लौट आया। घर मे घुसते हुये उसके मन मे विचार आया कि—मैं इतने वर्षो बाद घर लौट रहा हू। क्या पता मेरी पत्नी का चालचलन कैसा रहा हो ? उसने चुपचाप दासी के कमरे का कुडा खटखटाया, सारा सामान वही पर रखकर, दासी को मौन रहने का आदेश दिया और स्वय अपने अन्त पुर मे गया। वहाँ जाकर वह चौंक गया। पत्नी के पास एक नौजवान सोया हुआ है, तत्काल उसका हाथ तलवार तक चला गया। पर तभी उसकी दृष्टि भारवि कवि की कारिका जो अन्त पुर मे टाक रखी थी, उस पर चली गई, जिसका भावार्थ था—"जो भी कार्य करो विवेक पूर्वक व विचार करके करो तब ही गुण की, लाभ की प्राप्ति होगी। सहसा मत करो सहसा करने मे अनिष्ट हो जायेगा।" उसका हाथ रुक गया, पत्नी को जगाया, पूछा—यह कौन है ? पत्नी ने बताया, आप जब विदेश गये थे, उस समय मैं तीन महिने की गर्भिणी थी, यह आपका पुत्र है। सुनार काप गया—ओह ! अभी मैं कितना अनर्थ कर बैठता। इस एक कारिका ने तीन प्राणियो की हत्या बचा दी। धन्य है वह भारवि कवि जिसकी कारिका ने मुझे बचा लिया। जब नीति काव्य की इस एक कारिका ने तीन प्राणियो को बचाया है, तो आगम, शास्त्र के, आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान के वाक्य हैं वे तीन लोक के प्राणियो को बचाने मे समर्थ क्यो नही है ? और उस कवि का ऋण नही भूल सकता। सुनार ने भारवि कवि के ग्रन्थो का खूब प्रचार किया। यदि विवेक हो तो सम्पत्ति स्वयमेव आयेगी अन्यथा वह स्वयमेव दूर हो

जायेगी। विवेक विहीन होकर कार्य करने से मानव स्वय भी मिट जायेगा, स्वय का भी अनर्थ करेगा व दूसरो का भी अनर्थ करेगा।

भारवि कवि ने लिखा है कि—जो शासक, पडित गुस्सा न कर शाति व विवेक के साथ कार्य किया करता है वही सफल होता है और जो आवेश मे आकर कार्य करता है वह असफल होता है, दुविधाओ मे फस जाता है। विवेक महत्त्वपूर्ण है। समाज मे, व्यावहारिक कार्यों मे इसकी बहुत आवश्यकता है। भावुकता मे कुछ गलत कार्य कर बैठते है तो बाद मे दूसरे से दया की भीख मागते है, पश्चाताप करते हैं। जब विवेक की इतनी महिमा है तो धर्म की कितनी महिमा होगी ? धर्म मे कितनी शक्ति होगी ?

मानव जीवन मे अहिंसा धर्म मगलकारी है, धर्म हिंसक भाव उत्पन्न नही होने देता, किंचित् हिंसक भाव भी आत्मा को मलीन कर देते है। किसी के प्रति बुरे विचार पहले स्वय का बुरा, अनिष्ट कर बैठते है। किसी के मुह को कालिख लगाने मे पूर्व स्वय का हाथ काला होता है। मन मे हिंसा विकल्प उठते ही मन व आत्मा मलिन हो जाती है। ससार मे मगलमय धर्म है तो केवल अहिंसा धर्म है। अहिंसा किसी सम्प्रदाय, जाति अथवा देश की सम्पत्ति नही है यह प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है।

गाधी शताब्दी मे ब्रिटेन मे गाधीजी की एक मूर्ति स्थापित की गई। जिसका अनावरण वहा के प्रधान मत्री करने लगे। तत्काल दो युवा छात्र खडे हुये और प्रधान मत्री से अनावरण करने के लिये मना करने लगे कि आप इस मूर्ति का अनावरण करने योग्य नही हो, क्योकि गाधीजी शस्त्र विरोधी थे और आप नित्य शस्त्र बनवाते हो और बेचते हो। आपके अपवित्र हाथो से यह कार्य नही होना चाहिये। ये भाव उनमे कैसे उत्पन्न हुये ? उन्होंने अहिंसा का कौनसा ग्रथ पढा था ? वास्तव मे अहिंसा स्वाभाविक है प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। भगवान् महावीर ने तो उसकी सूक्ष्मता को अपने अनुभव से, केवल ज्ञान के द्वारा जान कर प्रकट किया है। मूल रूप मे यह सब मे विद्यमान है, पर विकास की दृष्टि से भेद हैं।

तीन वर्ष पूर्व अमेरिका मे एक भवन निर्माता ने एक विशाल भवन का निर्माण कराया। निर्माण के पश्चात् वह उसकी फिनिशिंग करवा रहा था। नीचे की एक मजिल मे पक्षियो ने घोसले बना लिये थे। उनमे अनेक छोटे-छोटे बच्चे थे जो उड नही सकते थे। वह निर्माता उनके घरो को उजाड कर उस मजिल की भी फिनिशिंग करवाना चाहता था। किन्तु सामने के

मकानो के सैंकडो व्यक्ति काले भण्डे लेकर विरोध मे खडे हो गये कि जव तक ये वच्चे यहा से उड नही जाते तव तक हम फिनिशिग नही होने देंगे, वहुत विरोध हुआ। अन्त मे पुलिस को वुलवाना पडा। जव तक वे वच्चे वडे होकर उड न गये, वहा पुलिस का पहरा लगा रहा। उन अमेरिका-वासियो के मन मे ये अहिंसक विचार कहाँ से आये ?

चीन मे दो सौ वर्ष प्राचीन एक अहिंसा का ग्रथ है। उसमे उल्लेख है कि एक अमीर व्यक्ति यात्रा के लिये वाहर जा रहा था, उसके मूल कक्ष मे एक पक्षी ने घोसला वना लिया। उसने सोचा क्या करू ? वाहर निकाल देता हू तो ये मर जायेंगे, यदि मकान वन्द करता हूँ तो ये अन्दर ही घुटकर मर जायेंगे। कुछ सोचकर उसने एक कारीगर को वुलवाया, दीवार मे एक वडा छिद्र करवाया, जव पक्षी उसमे से होकर आने जाने लगे तव वह ताला वन्द करके चला गया। उस व्यक्ति के मन मे उन पक्षियो के प्रति करुणा उत्पन्न हुई, प्रसूत हुई, वह कहा से ?

स्पष्ट है कि अहिंसा प्रत्येक आत्मा मे है, यह प्रत्येक आत्मा की सम्पत्ति है। वादिवृषभाचार्य ने सिद्धिविनिश्चय ग्रथ मे लिखा है कि कसाई भी कथंचित् अहिंसक है वह भी अपने पाले हुये पशु-पक्षियो को नही मारता, न मारने देता है। शेर उन्ही दातो से, जिसमे शिकार को काट लेता है, अपने वच्चे को पकडकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाता है किन्तु उसे कोई चोट नही पहुचती।

मैं विश्व धर्म की जय भी इसीलिये वोलता हूँ कि अहिंसा ही विश्व धर्म है, यह प्रत्येक प्राणी मे, आत्मा मे विद्यमान है।

कर्नाटक वैदिक विचारधारा के कवि सर्वज्ञ ने भी अपने काव्य मे लिखा है कि—किसी धर्म ग्रथ मे, हिंसा करना चाहिये ऐसा लिखा है ? यदि धर्म के नाम पर हिंसा को प्रश्रय दिया है तो वह ग्रथ आग मे जला देने लायक है और जिसमें अहिंसा के लिये लिखा है वही ग्रथ धर्मग्रन्थ है। जैसे अमृतमय लड्डू मे जहर का एक भी अश हो तो वह ग्राह्य नही है, वैसे ही यदि धर्म मे हिंसा को स्थान दिया तो वह सच्चा धर्म नही है। **धर्म मे हिंसा का स्थान कैसे हो सकता है ? आत्म कल्याण के वीतराग धर्म मे हिंसा को स्थान नहीं है।** व्यावहारिक रूप मे गृहस्थो को अपनी रक्षा हेतु लाठी रखने व प्रतिक्रिया के लिये मना नही किया है, केवल परिपूर्ण त्यागियो के लिये कहा है कि—उपसर्ग की भी प्रतिक्रिया मत करो। जो आत्मकल्याण

की भावना से ओत-प्रोत ग्रथ होगे उनमे अहिंसा का ही महत्व होगा।

महाभारत मे एक स्थान पर चर्चा आई है कि गगा के किनारे एक ऋषि व एक मुनि बैठे थे। दोनो अत्यन्त विद्वान् व चिन्तक थे। मुनिराज के पास जो कोई भी व्यक्ति आता उसे वे अहिंसा के पालन के लिये कहते। ऋषि को बहुत गुस्सा आया कि मुनिराज प्रत्येक व्यक्ति को अहिंसा के पालन के लिए कहते है इन्होने क्या अहिंसा-अहिंसा लगा रखी है? उन्होने मुनिराज से कहा— मुनिराज!

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक ॥

अर्थात्- जल मे भी जीव है, थल मे भी जीव है और आकाश मे भी जीव है। लोक ही जन्तुओ (जीवो) से व्याप्त है। ऐसी स्थिति मे साधु भी अहिंसक कैसे रह सकता है?

शका का निराकरण करते हुये मुनिराज ने कहा—

अघ्ननन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणाम-विशेषेण यथा धीवर-कर्षकौ ॥

"मछली मारने वाला धीवर प्रात से सायकाल तक नदी मे जाल डाले प्रतीक्षा मे बैठा रहता है और मछली फसाने की बात सोचता है। पर शाम तक भी उसके जाल मे एक भी मछली नही आती। तब भी वह पाप का, हिंसा का भागी है। क्योकि उसके परिणामो मे, भावो मे हिंसा व्याप्त थी। इसके विपरीत दूसरी ओर एक कृषक है, जो खेती प्राण रक्षा हेतु-भूत कार्य के निमित्त से हल चलाता है, उसमे जीवो का घात भी होता है, फिर भी वह हिंसा का भागी नही होता। क्योकि उसके भाव रक्षण के हैं, हिंसा के नही।"

डाक्टर रोगी को बचाने का प्रयत्न कर रहा है, चीरा-फाडी कर रहा है, पर वह हिंसक नही है, किन्तु सडक पर चाकू चलाने वाले के चाकू से कोई मरा नही तो भी वह हिंसक है, क्योकि उसके भाव हिंसा के थे, हत्या के थे। उसके मन मे दुर्भावनाये थी। सरकार यातायात नियत्रक को अहिंसा के लिए तनख्वाह देती है, कि ध्यान रखो कि कही दो गाडिया आपस मे न टकरा जावें। अहिंसा मन की दुर्घटनाओ, दुर्भावनाओ को रोकती है। **मनोमालिन्य को रोकने के लिये अहिंसा ही सर्वाधिक पवित्र विचार है। अहिंसा उत्कृष्ट**

है, मंगलमय है। शांति अहिंसा से ही स्थापित हो सकती है, युद्ध से कदापि नहीं।

मिठाई खाते हुये, चाय पीते हुये युद्ध की वात करना, अर्थात् युद्ध से दूर रहकर युद्ध की वात रम्य लगती है 'युद्धस्य वार्ता रम्य'। पर युद्धस्थल पर जाने पर ज्ञात होता है कि युद्ध क्या है? युद्ध मे दोनो ओर की सेनाओ के नौजवान मारे जाते है। सोचिये, उनके परिवारो पर क्या गुजरती है? इस विशाल विश्व की रक्षा करनी है तो समस्त स्कूलो व कॉलिजो मे अहिंसा की शिक्षा देनी होगी। गुणभद्राचार्य के आत्मानुशासन मे चर्चा की है कि—किसी ने पूछा—धर्म कहा है? उत्तर मिला—धर्म मन मे है, आत्मा मे है।

धर्मो वसेन्मनसि यावदल स तावद् हन्ता न हन्तुरपि पश्य गतेऽपितस्मिन्।
दृष्टा परस्पर हृति जनकात्मजानाम्, रक्षा ततोऽस्य जगतः खलु धर्म एव।२७।

जव तक मनुष्य के मन मे धर्म रहता है तव तक वह मारने वालो को भी नही मारता, किन्तु देखो! जव धर्म उसके दिल और दिमाग से निकल जाता है, तव औरो की कौन कहे, प्रिय पुत्र को पिता मार डालता है और पिता को पुत्र मार डालता है। अत समस्त ससार को सुस्थित रखने वाला धर्म है तो वह अहिंसा है। सव महापुरुपो ने अहिंसा की शिक्षा दी है। पर हम भारतीयो ने, यदि महावीर ने, आदिनाथ ने, राम ने, कृष्ण ने अहिंसा की वात कही तो उसे कोई महत्त्व नही दिया, पर किसी विदेशी व्यक्ति ने या धर्म ने अहिंसा की वात कही तो उसको धन्य-धन्य कहा। जवकि भारत मे घर-घर मे क्षमा धर्म विद्यमान है।

यदि हम शान्ति चाहते हैं तो अहिंसा की छत्रछाया मे ही उसे प्राप्त कर सकते है। धवला मे चर्चा है कि 'त्रस' जीव, जो त्रास से, दुख से, भय से वचने के लिये इधर-उधर भागते रहते है, उनकी आत्मा (दो इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय व चार-इन्द्रिय) मे भी सुरक्षा की चाह है, सुरक्षा पाने की भावना है। अर्थात् सुरक्षा, शाति प्रत्येक जीव, प्रत्येक प्राणी चाहता है। शाति से तभी जी सकते है जव मन मे भी अहिंसा के विचार हो, अहिंसा के पालन से ही दुनिया सुरक्षित रह सकती है। आज वैज्ञानिक युग है, विज्ञान वही हैं जो अहिंसा को प्रोत्साहन दे, जो हिंसक भाव उत्पन्न करे, जो हिंसक कार्यवाहिया करवाये, वह कैसा विज्ञान है? तोड-फोड, आगजनी, विध्वस व क्षति पहुँचाने आदि की क्रियायें विज्ञान सम्मत है या अज्ञान सम्मत। वस्तुत विध्वसक कार्य, विज्ञान के परिणाम नही हैं, विज्ञान तो विवेक उत्पन्न करता है, विध्वसक क्रियायें तो मान-कपाय के वशीभूत होकर की जाती है।

व्यवहारत. परिवार की सुरक्षा के लिए व्यक्ति की सुरक्षा के लिए, प्राणी मात्र की सुरक्षा के लिये अहिंसा की आवश्यकता है। इस विशाल विश्व को युद्ध की विभिषिका से केवल अहिंसा के माध्यम से ही बचाया जा सकता है। एक ओर तो हम वडे-वडे चिकित्सालय खोल रहे है, असाध्य रोगो पर भी खोज कर रहे हैं, उनसे वचाने के उपाय ढूढ लेना चाह रहे हैं, उनके लिए अथक प्रयास कर रहे है, रोगी के अन्तिम क्षण तक उस रोग से जूझते हैं और दूसरी ओर अत्यन्त विध्वसक शस्त्रो का निर्माण करते चले जा रहे हैं। कैसी विडम्वना है ? इसलिये महावीर ने कहा—हिंसा को मन मे विचार रूप मे उत्पन्न मत होने दो। इस अहिंसा से गाधीजी ने देश को आजादी दिलवायी। कल गणतत्र दिवस है। राष्ट्र कवि दिनकरजी ने अपने 'वैशाली अभिनन्दन' ग्रथ मे वताया है कि वैशाली, महावीर की जन्मस्थली ही गणतत्र की जननी है। महावीर के जन्म के समय वहा गणतत्र शासन प्रणाली थी। उन्होने अपने काव्य मे लिखा है।

"वैशाली जन का प्रतिपालक, गण का आदि विधाता।
जिसे ढूढता देश आज, उस प्रजातंत्र की माता।।

रुको, एक क्षण पथिक यहां, मिट्टी को शीश नवाओ।
राजसिद्धियों की समाधि पर, फूल चढाते जाओ।।

हमे भी अहिंसा के माध्यम से गणतत्र की रक्षा करनी चाहिये।



भारत-अतीत में और वर्तमान में

कोई शासन शाश्वत नही है, केवल धर्म ही शाश्वत है और वह धर्म आत्मा मे है ।

जव तक विद्याध्ययन मे रत हो तव तक राजनीति मे मत उलझो अन्यथा अपरिपक्व रह जाओगे । विद्याध्ययन करते समय एक मात्र कर्तव्य व ध्येय-विद्या मे, शिक्षा मे, परिपक्वता लाना है ।

शासको का कर्तव्य है कि विभिन्न विचारधाराओ के लोगो का स्नेह से, माँ के समान अपनी प्रजा का, पालन करे । शासक से प्रमाद या गलती हो जाये तो उसका उसी भव मे अध पतन हो जाता है । यही नियम साधु के लिये भी है । जरा सा प्रमाद उनके अध.पतन का कारण वन जाता है ।

भारत का इतिहास विभिन्नताओ से भरा हुआ है । हम जव अपने अतीत की ओर देखते हैं, इतिहास का अवलोकन करते है तो पाते हैं कि हमारे देश मे एक ऐसा भी युग था, जिसे इतिहासकार स्वर्ण-युग कहते हैं । सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरवार मे यूनान का राजदूत मेगस्थनीज था, उसने एक चौसठ-अध्यायी ग्र थ लिखा था, जिसके चार अध्यायो मे भारतीय व्यापार, रीतिरिवाज, रहन-सहन का वर्णन है । उसने लिखा है कि उस समय मानवो का आपस मे विश्वास था, परस्पर प्रेम था, सव न्यायप्रिय थे, अपने घरो मे कोई ताले नही लगाते थे । यदि सम्राट् अशोक के युग की ओर दृष्टिपात करते है तो ज्ञात होता है कि—उस समय तक्षशिला मे तीन-चार वार विरोध

हुआ। राजा ने अपने पुत्र अशोक को वहाँ शांति स्थापित कराने हेतु भेजा। जब अशोक वहाँ पहुँचे तो वहाँ की जनता ने उनका हार्दिक स्वागत किया और कहा कि—हमारा विरोध आपसे नही है, हम यहाँ के मत्री, अधिकारियो का विरोध करते है क्योकि वे हम पर अत्याचार करते हैं। तक्षशिला मे तीन बार विरोध भडका, तीनो बार युवराज अशोक को वहाँ भेजा गया, फिर कुछ दिन उनको वहाँ का राज्यपाल भी नियुक्त किया गया। वे कुछ समय गिरनार के राज्यपाल भी रहे। वहाँ पर भी तीन-चार बार विरोध भडक चुका था कि हमारी पूजा पद्धति ठीक है, दूसरो की पूजा—पद्धति ठीक नहीं है। अशोक ने कहा कि—मैं आपकी पूजा आदि से खुश नही हूँ। आप परस्पर प्रेम से रहे, मैं उससे खुश रहूँगा। जिसकी जो परिपाटी है उसमे एक-दूसरे हस्तक्षेप न करते हुये, देवी-देवताओ के सामने वलि देने की परम्परा समाप्त कीजिये, यही मानवता है। वलि देना, झगडा करना मानवीयता नही है। इन तथ्यो पर यूरोपीय लेखको ने विस्तार से चर्चा की है।

इसी प्रकार हमारे देश के इक्ष्वाकुवश की भी वहुत अनूठी परम्परायें रही हैं। उनसे ज्ञात होता है कि शासको के कर्तव्य क्या होते है? इक्ष्वाकुवश की राजधानी अयोध्या थी। जिनसेनाचार्य ने 'अयोध्या' की व्याख्या की है—अ+युद्धा=जिसे कोई युद्ध मे जीत न सका। इस वश का वर्णन करते हुये महाकवि कालिदास ने वताया है कि शासक नागरिको के लिये क्या-क्या करते थे—'सपिता पितरस्तासा केवल जन्महेतवा' अर्थात् माता-पिता सन्तान को केवल जन्म देते थे, जन्म के पश्चात् शेप सव सस्कार, शिक्षा आदि की व्यवस्था सरकार ही करती थी। माता-पिता का कर्तव्य केवल जन्म देने तक ही सीमित था। वादिर्वसिह आचार्य ने भी लिखा है कि—माता-पिता का इतना ही उपकार होना था कि वे सन्तान को जन्म देते थे। इसके बाद से मृत्यु तक सारे सस्कार-उपकार, सरकार-शासक के द्वारा होता था। कैसा अतीत था, इतिहास था हमारा? इसीलिये तो उस युग को इतिहासकार स्वर्णयुग कहते हैं। **प्रजापालन ही उनका धर्म था, उनकी दृष्टि मे प्रजा के प्रति भेद-भाव नहीं था। पर शासको के साथ नागरिको के भी कुछ कर्तव्य होते हैं।** स्वय के कही दर्द अनुभव होता है, वेदना होती है तो तुरन्त उसका आभास हो जाता है और तुरन्त उसका उपचार करते है। हाथ मे दर्द होता है तो सारा ध्यान वही रहता है, पैर मे काटा चुभता है तो ध्यान वही रहता है। शरीर मे आत्मा अखण्ड रूप से, सर्वाङ्ग मे विद्यमान है। तभी तो रात मे विना दीपक जलाये चोट के स्थान पर स्वयमेव हाथ चला जाता है। इसी

समर्थ होगा। इसी अनुमान के आधार पर वह चाणक्य को अनुरोध कर राजा के पास ले आये। वहा की रानी चन्द्रवती थी। उस समय वह गर्भवती थी। उसकी प्रवल इच्छा थी कि मैं चन्द्रमा को खा जाऊँ। यह व्यावहारिकत· अत्यन्त असम्भव था। पर चाणक्य ने एक उपाय सुझाया। पूर्णिमा की रात्रि मे रानी की आखो पर पट्टी वाध कर छत पर ले गये, एक पानी के कटोरे मे चाद का प्रतिविम्व दिखाने के लिये उसकी पट्टी उतार दी गई, प्रतिविम्व दिखाकर वह पानी उसे पिला दिया गया। वह सतुष्ट हो गई। कुछ समय पश्चात् उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम चन्द्र-मुक्त रखा गया। चन्द्र-मुक्त अर्थात् जिसने चन्द्रमा का भोग किया हो। यह चन्द्र-मुक्त ही अपभ्र श होकर चन्द्रगुप्त हुआ और इसी से गुप्त वश चला। चाणक्य ने स्वय की देख-रेख मे इस वालक का पालन करवाया। जव वालक वडा हुआ तो, एक सेना तैयार कर, उस (चन्द्रगुप्त) के नेतृत्व मे नन्दो पर आक्रमण किया, पर असफल रहे, कुल तीन वार आक्रमण किया पर तीनो वार असफल रहे। तव नन्दो का भेद लेने गुप्तचर के रूप मे चाणक्य भगवे वस्त्र पहन कर निकल पडे। चलते-चलते पटना पहुँचे। मन मे, अपने पहचान लिये जाने का भय था। पर भूख भी वहुत तेज लग रही थी। सामने एक वुढिया की झोपडी थी, वही जाकर उससे भोजन कराने की प्रार्थना की। वुढिया ने सन्यासी समझ कर तुरन्त भोजन के लिये तैयारी प्रारम्भ करदी। इस देश मे सदैव से साधुओ के प्रति आस्था रही है। वुढिया ने दलिया वनाया, गर्म-गर्म ही पत्तल मे परोसा। चाणक्य शीघ्रता से खाने लगा, पहला कौर खाते ही हाथ व मु ह दोनो जल गये। वुढिया हँसी, वोली—अरे, तुम तीसरे मूर्ख हो। चाणक्य ने सोचा—मैं तीसरा मूर्ख हूँ, तो दो मूर्ख और कौन हैं? उसने वुढिया से उन दो मूर्खों के वारे मे पूछा। वुढिया ने कहा—दो मूर्ख हैं चाणक्य व चन्द्रगुप्त। चाणक्य ने चौंककर पूछा कि वे मूर्ख क्यो हैं? तव वुढिया ने कहा कि जैसे तुम अभी दलिये के वीच मे हाथ डालकर खाना चाहते थे, वैसे ही वे दोनो भी युद्ध मे एक साथ सवको जीत लेना चाहते है। उन्हे पहले किनारे की छोटी रियासतो को जीतना चाहिये फिर थोडी शक्ति वढा कर आगे वढना चाहिये। ऐसे ही तुम्हे भी किनारे का थोडा-थोडा दलिया लेकर उसे ठडा कर खाना चाहिये। चाणक्य ने इसी प्रकार भरपेट भोजन किया, तत्पश्चात् उस वुढिया के पाव छुये कि—तुम मेरी राजनीति की गुरु हो। गाधीजी को भी चरखा चलाना एक वृद्धा ने ही सिखाया था। अधिकाशत वृद्ध स्त्री वहुत वुद्धिमान होती हैं, इसलिये मालवा प्रदेश मे तो वृद्धा को 'ईश्वरी' कहा जाता है। अपने राज्य मे पहुँच कर उन्होंने इसी नीति के

अनुसार युद्ध किया, धीरे-धीरे छोटे गावो, रियासतो पर कब्जा किया और सारे देश को एक सूत्र मे बाध लिया। पर शासक स्वय न बनकर चन्द्रगुप्त को बनाया। सबने सम्राट् चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जनता को पूर्णरूप से सुख-सुविधा प्रदान करने हेतु चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना की। मालविका को जीता। चाणक्य सदैव चन्द्रगुप्त के साथ रहते, उन्हे सलाह देते थे, भोजन भी वे अपनी देख-रेख मे कराते थे। चन्द्रगुप्त ने कुछ बडी उम्र मे वैशाली के लिच्छिवि वश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। उनकी जिद थी कि मैं लिच्छिवी वश (तत्कालीन सर्वोत्तम वश) की कन्या से ही विवाह करू गा। इस तथ्य को दर्शाने के लिये ही चन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसे सिक्के प्रचलित किये जिसमे चन्द्रगुप्त के साथ पार्श्व मे कुमारदेवी का भी चित्र उत्कीर्ण है। उनमे से कुछ सिक्के आज भी इलाहबाद के पुरातत्व विभाग मे सुरक्षित है।

चाणक्य अपनी देख-रेख मे ही चन्द्रगुप्त को भोजन करवाते थे, भोजन करने से पूर्व, एक ग्रास कौवे को डाला जाता था जिससे भोजन की शुद्धता ज्ञात हो जाये। एक बार चन्द्रगुप्त को कोई पेट का रोग हो गया। चिकित्सको ने कोई विषैली औषधि भोजन के साथ देने के लिये कहा। एक दिन चन्द्रगुप्त के साथ कुमारदेवी भी समीप ही भोजन कर रही थी, गलती से वह जहरीला भोजन कुमारदेवी ने खा लिया, उस समय वह गर्भवती थी। तत्काल उपचार किया गया, किसी प्रकार रानी का पेट चीर कर बालक को बचा लिया गया किन्तु रानी न बच सकी। जहर की कुछ मात्रा शरीर मे पहुँच चुकी थी, जिसकी एक बू द उस बालक के सिर पर भी लग गई थी। सिर पर एक बिन्दु होने से उस बालक का नाम 'बिन्दुसार' रखा गया। पत्नी की मृत्यु से चन्द्रगुप्त को वैराग्य हो गया और उन्होने चाणक्य को राज्य सम्भला कर सन्यास ले लिया। अब चाणक्य ने बिन्दुसार का लालन-पालन किया। विष का असर होने के कारण व समय से पूर्व जन्मने के कारण वे मद-बुद्धि ही रहे, अधिक शूरवीर-पराक्रमी न हो सके। बडे हुये, विवाह हुआ और एक पुत्र को जन्म दिया जो 'सम्राट् अशोक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चाणक्य ने बालक अशोक का भी लालन-पालन किया। अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर भी चाणक्य ने तीन पीढी तक राज्य व राजाओ की सेवा की। उनकी राष्ट्र-भक्ति व सेवा-भावना अनुकरणीय है। चाणक्य ने अशोक को अनेक प्रकार की विद्याओ मे पारगत किया, अनेक प्रकार की शिक्षायें दी, अपने साथ देश मे अनेक स्थानो का भ्रमण करवाया। एक यूरोपीय लेखक ने सिद्ध

प्रकार भारत भी अखण्ड है, एक राष्ट्र है, इसमे ये राजस्थानी है, ये बगाली है, ये कर्नाटकी है, ऐसा भेद-भाव क्यो ? भारत पूरा एक शरीर है – ये विभिन्न राज्य उसके विभिन्न अग हैं, इनमे भेद समझना इसी प्रकार है जैसे हम अपने ही किसी अग को कटवाना चाहते हैं। जैसे किसी कार्य को करने के लिये शरीर के अगो की पूर्णता आवश्यक है उसी प्रकार सारे राज्य मिलकर ही किसी कार्य को करने मे समर्थ हो सकते हैं।

विदेश मे जाने पर कोई आपसे पूछता है—आप कहाँ से आये हैं ? आप जवाब देते है—भारत से । आपकी भाषा ? भारती । आपकी सस्कृति ? भारतीय । आपकी लिपि ? भारतीय । यदि आप विदेश मे सूट-बूट पहनकर जाते हैं तो आपसे बेहतर सूट वहाँ के लोग पहने होंगे । अत' आपके उस परिधान मे आपकी कोई विशेषता नही रहेगी । परन्तु आप भारतीय वेष-भूषा मे होगे तो वह प्रभावशाली होगी, विशिष्टता लिये हुये होगी । जब तक आपके आचार-विचार मे राष्ट्रीयता न भरी हो तो यहाँ रहने व खाने-पीने का क्या अधिकार है ? यहाँ का नागरिक चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो, सर्वप्रथम वह भारतीय है। नेहरूजी ने 'डिस्कवरी ऑफ इन्डिया' मे लिखा है कि—इस देश के मूल निवासी जैन रहे हैं, शेष सब बाहर से आये हुये हैं। पर राष्ट्रीय दृष्टि से विभिन्न धर्मो को मानने पर भी यहाँ का नागरिक पहले भारतीय है। एक पेड पर कौआ, चिडिया, कबूतर, तोता, मैना, कोयल आदि विभिन्न जाति के पक्षी बैठते हैं, पर वे जातीय आधार पर विद्रोह नही करते । उन्होने आज तक कोई शस्त्र नही बनाये, सब एक पेड पर रहते है, वह पेड भी उन पक्षियो को धक्का नही देता, न टहनी उन्हे कोई नुकसान पहुँचाती है, न फल किसी पक्षी विशेष के लिये जहरीले हो जाते हैं, वह बिना भेद-भाव के सब पक्षियो का आश्रय बनता है। इसी प्रकार शासको का भी कर्तव्य है कि विभिन्न विचारधाराओ के लोगो का भी स्नेह से पालन करें। जैसे माँ अपने बेटे का, चाहे वह कैसा भी हो लूला या लगडा, बहुत प्यार के साथ पालन करती है, उसे दुत्कारती नही है। यही शासक का कर्तव्य है कि वह भी माँ के समान अपनी प्रजा का पालन करे।

भारतीय सविधान बहुत विवेक के साथ बनाया गया है। यह अत्यन्त विशाल व व्यापक है। समस्त मानवीयता को लिये हुये है। जिन मानवीय गुणो के लिये सयुक्त राष्ट्रसघ प्रयत्न कर रहा है, वे सब गुण हमारे सविधान

मे है। इसमे सकीर्णता, कूप–मण्डूकता नही है। इसका दृष्टिकोण अत्यन्त विशाल है।

हमे किसी भाषा या लिपि के लिये झगडा नही करना चाहिए। यह किसी जाति-विशेष या धर्म-विशेष के लिये नही बनी। जैसे नाव बिना किसी भेद-भाव के लोगो को पार उतारती है, पार उतरने वाला भी नाव का ढाचा आदि नही देखता, वह केवल यही देखता है कि यह उस पार पहुँचा सकती है या नही। इसी प्रकार केवल लिपि की ओर नही देखना चाहिये उसमे निहित भावो की ओर देखना चाहिये। लिपि, भाषा तो परमात्मा का, तत्त्व का, ज्ञान प्राप्त करने के लिये साधन है। ये तो परस्पर भाव-सप्रेषण के साधन है, चाहे वे किसी भी धर्म का अनुयायी हो, किसी भी लिपि या भाषा को जानने वाले हो, उनमे निहित सदेश तो पवित्र है। गाय चाहे काली हो अथवा सफेद, पर उसका दूध सफेद ही होगा। लिपि आदि की सकीर्णता बचकानी बातें हैं। अजमेर के पास बडली गाव मे खारवेल का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है, जिसमे भगवान् महावीर के निर्वाण के चौरासी वर्ष बाद की भाषा व लिपि उत्कीर्ण है, जिस पर लिखा है—वीराय भगवानाय ..। प० गौरीशकर ओझा ने अपनी पुस्तक मे इसका उल्लेख किया है। इस शिलालेख की लिपि व आज की लिपि बिल्कुल भिन्न है, अर्थात् समय के साथ लिपि, भाषा आदि बदल जाती है, अत इसके लिये दगे फसाद करना उचित नही है।

अब मैं अतीत-भारत के स्वर्णयुग की कुछ विशिष्ट घटनायें बताता हूँ। इनका उल्लेख शिवकोटि के वड्डाराधना कथाकोष मे है। इस भूमि मे एक महान् राष्ट्रसेवी व्यक्ति हुये हैं, 'चाणक्य'। यह सम्राट् चन्द्रगुप्त के युग मे थे। उस समय चाणक्य तक्षशिला मे पढते थे। उन्ही दिनो नन्द लोगो मे अनेक विकृतिया, दोष उत्पन्न हो गये थे। चाणक्य के मन मे विचार आया कि अब ये नन्द लोग भली प्रकार शासन नही कर सकते। यह इन्ही विचारो मे उलझ रहे थे। एक दिन वह गगा नदी मे नहाने आये, उस समय उनके पाव मे एक काटा चुभ गया, जिससे उनका पाव लहूलुहान हो गया। चाणक्य उठे और काटो की सारी झाडिया उखाडने लगे। चन्द्रगुप्त के पिता के मन्त्री वसुबधु भी उस समय नदी किनारे आये थे। उन्होने चाणक्य को झाडी उखाडते हुये देखा। मत्री ने सोचा कि एक काटा लगने से यह सारी झाडी उखाड रहा है तो यह अवश्य ही शत्रु को उखाडने मे

ममर्थ होगा। इमी अनुमान के आधार पर वह चाणक्य को अनुरोध कर राजा के पास ले आये। वहा की रानी चन्द्रवती थी। उम ममय वह गर्भवती थी। उसकी प्रवल इच्छा थी कि मैं चन्द्रमा को खा जाऊँ। यह व्यावहारिकत' अत्यन्त असम्भव था। पर चाणक्य ने एक उपाय सुझाया। पूर्णिमा की रात्रि मे रानी की आखो पर पट्टी वाध कर छत पर ले गये, एक पानी के कटोरे मे चाद का प्रतिविम्व दिखाने के लिये उसकी पट्टी उतार दी गई, प्रतिविम्व दिखाकर वह पानी उसे पिला दिया गया। वह सतुष्ट हो गई। कुछ समय पश्चात् उसने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम चन्द्र-मुक्त रखा गया। चन्द्र-मुक्त अर्थात् जिसने चन्द्रमा का भोग किया हो। यह चन्द्र-मुक्त ही अपभ्र श होकर चन्द्रगुप्त हुआ और इसी से गुप्त वश चला। चाणक्य ने स्वय की देख-रेख मे इम वालक का पालन करवाया। जव वालक वडा हुआ तो, एक सेना तैयार कर, उस (चन्द्रगुप्त) के नेतृत्व मे नन्दो पर आक्रमण किया, पर असफल रहे, कुल तीन वार आक्रमण किया पर तीनो वार असफल रहे। तव नन्दो का भेद लेने गुप्तचर के रूप मे चाणक्य भगवे वस्त्र पहन कर निकल पडे। चलते-चलते पटना पहुँचे। मन मे, अपने पहचान लिये जाने का भय था। पर भूख भी वहुत तेज लग रही थी। सामने एक वुढिया की झोपडी थी, वही जाकर उससे भोजन कराने की प्रार्थना की। वुढिया ने सन्यासी समझ कर तुरन्त भोजन के लिये तैयारी प्रारम्भ करदी। इस देश मे सदैव से साधुओ के प्रति आस्था रही है। वुढिया ने दलिया वनाया, गर्म-गर्म ही पत्तल मे परोसा। चाणक्य शीघ्रता से खाने लगा, पहला कौर खाते ही हाथ व मु ह दोनो जल गये। वुढिया हँसी, वोली—अरे, तुम तीसरे मूर्ख हो। चाणक्य ने सोचा—मैं तीसरा मूर्ख हूँ, तो दो मूर्ख और कौन है? उसने वुढिया से उन दो मूर्खों के वारे मे पूछा। वुढिया ने कहा—दो मूर्ख हैं चाणक्य व चन्द्रगुप्त। चाणक्य ने चौंककर पूछा कि वे मूर्ख क्यो है? तव वुढिया ने कहा कि जैसे तुम अभी दलिये के वीच मे हाथ डालकर खाना चाहते थे, वैसे ही वे दोनो भी युद्ध मे एक साथ सवको जीत लेना चाहते है। उन्हे पहले किनारे की छोटी रियासतो को जीतना चाहिये फिर थोडी शक्ति वढा कर आगे वढना चाहिये। ऐसे ही तुम्हे भी किनारे का थोडा-थोडा दलिया लेकर उसे ठडा कर खाना चाहिये। चाणक्य ने इसी प्रकार भरपेट भोजन किया, तत्पश्चात् उस वुढिया के पाव छुये कि—तुम मेरी राजनीति की गुरु हो। गाधीजी को भी चरखा चलाना एक वृद्धा ने ही सिखाया था। अधिकाशत वृद्ध स्त्री वहुत वुद्धिमान होती हैं, इसलिये मालवा प्रदेश मे तो वृद्धा को 'ईश्वरी' कहा जाता है। अपने राज्य मे पहुँच कर उन्होने इसी नीति के

अनुसार युद्ध किया, धीरे-धीरे छोटे गावो, रियासतो पर कब्जा किया और सारे देश को एक सूत्र मे बाध लिया। पर शासक स्वय न वनकर चन्द्रगुप्त को वनाया। सबने सम्राट् चन्द्रगुप्त का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। जनता को पूर्णरूप से सुख-सुविधा प्रदान करने हेतु चाणक्य ने अर्थशास्त्र की रचना की। मालविका को जीता। चाणक्य सदैव चन्द्रगुप्त के साथ रहते, उन्हे सलाह देते थे, भोजन भी वे अपनी देख-रेख मे कराते थे। चन्द्रगुप्त ने कुछ वडी उम्र मे वैशाली के लिच्छिवि वश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया। उनकी जिद थी कि मैं लिच्छिवी वश (तत्कालीन सर्वोत्तम वश) की कन्या से ही विवाह करूगा। इस तथ्य को दर्शाने के लिये ही चन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसे सिक्के प्रचलित किये जिसमे चन्द्रगुप्त के साथ पार्श्व मे कुमारदेवी का भी चित्र उत्कीर्ण है। उनमे से कुछ सिक्के आज भी इलाहबाद के पुरातत्व विभाग मे सुरक्षित है।

चाणक्य अपनी देख-रेख मे ही चन्द्रगुप्त को भोजन करवाते थे, भोजन करने से पूर्व, एक ग्रास कौवे को डाला जाता था जिससे भोजन की शुद्धता ज्ञात हो जाये। एक वार चन्द्रगुप्त को कोई पेट का रोग हो गया। चिकित्सको ने कोई विषैली औषधि भोजन के साथ देने के लिये कहा। एक दिन चन्द्रगुप्त के साथ कुमारदेवी भी समीप ही भोजन कर रही थी, गलती से वह जहरीला भोजन कुमारदेवी ने खा लिया, उस समय वह गर्भवती थी। तत्काल उपचार किया गया, किसी प्रकार रानी का पेट चीर कर बालक को बचा लिया गया किन्तु रानी न बच सकी। जहर की कुछ मात्रा शरीर मे पहुँच चुकी थी, जिसकी एक बूद उस बालक के सिर पर भी लग गई थी। सिर पर एक विन्दु होने से उस बालक का नाम 'विन्दुसार' रखा गया। पत्नी की मृत्यु से चन्द्रगुप्त को वैराग्य हो गया और उन्होने चाणक्य को राज्य सम्भला कर सन्यास ले लिया। अब चाणक्य ने विन्दुसार का लालन-पालन किया। विष का असर होने के कारण व समय से पूर्व जन्मने के कारण वे मद-वुद्धि ही रहे, अधिक शूरवीर-पराक्रमी न हो सके। बडे हुये, विवाह हुआ और एक पुत्र को जन्म दिया जो 'सम्राट् अशोक' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। चाणक्य ने बालक अशोक का भी लालन-पालन किया। अत्यन्त वृद्ध हो जाने पर भी चाणक्य ने तीन पीढी तक राज्य व राजाओ की सेवा की। उनकी राष्ट्र-भक्ति व सेवा-भावना अनुकरणीय है। चाणक्य ने अशोक को अनेक प्रकार की विद्याओ मे पारगत किया, अनेक प्रकार की शिक्षायें दी, अपने साथ देश मे अनेक स्थानो का भ्रमण करवाया। एक यूरोपीय लेखक ने सिद्ध

किया है कि श्रवण वेलगोला के निकट चन्द्रगिरि पर्वत जहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त के चरण है, वहाँ भी तथा गिरनार पर्वत की भी अशोक ने यात्रा की थी।

अशोक ने राज्य सम्भाला। एक वार अत्यन्त घनघोर युद्ध किया, जिसमे भीपरण नरसहार हुआ, खूब विनाश हुआ, इससे वहुत विरक्ति हुई। अव वह धर्म की शरण प्राप्त करना चाहता था। पर भीपरण नरसहार के कारण अनेक धर्म के लोग उसके विरुद्ध हो गये। वौद्धो ने उसे शरण दी। उसके पश्चात् वह बहुत उदार हो गया। राज्य के समस्त धर्मो को आश्रय दिया। उसके दिल्ली के कोटला स्थित शिलालेख की सातवी पक्ति मे उल्लेख है कि—"**निगठेसु नाना पासडेसु विया पटा हो हति इति**" अर्थात्—समस्त साधु, श्रमरण, निर्ग्रंथ जहाँ जैसे विहार करें; मेरे मात्य, अमात्य व महामात्य उनमे किसी प्रकार का व्यवधान न होने दे, उनकी सुविधा प्रदान करे। कोई धर्म एक दूसरे से टकरावे नही, इसकी उसने विशेप व्यवस्था की थी। प्रजा का पालन करना ही अशोक का धर्म था। राजा का कर्तव्य है कि, सब निर्विघ्न रूप से अपने-अपने धर्म का पालन करे, इसका वह ध्यान रखे। अशोक ने कभी किसी का धर्म-परिवर्तन नही कराया। अशोक के सारे शिला-लेखो मे राष्ट्रीय-भावना भरी है, उनमे कोई धर्म या जाति प्रधान भावना नही है। भारत के, विदेश के, वहुत से इतिहासकारो-बनर्जी, वासुदेवशरण अग्रवाल आदि ने उसके शिलालेखो पर प्रकाश डाला है। अशोक के इन राष्ट्रीय-भावना व प्रजापालन धर्म के प्रतीक रूप मे ही गाधीजी आदि ने भारत के राष्ट्रीय-ध्वज के मध्य मे 'अशोक चक्र' को स्थान दिया।

वौद्ध ग्रथ 'दिव्यावादन' मे भी सम्राट् अशोक का उल्लेख है। सम्राट् अशोक ने वृद्धावस्था मे युवती तिष्यरक्षिता से विवाह कर लिया। इससे उसकी प्रतिष्ठा को बहुत धक्का पहुँचा। एक दिन अशोक भोजन करने वैठे तो तिष्यरक्षिता अपने हाथ से प्याज परोसने लगी। अशोक ने उसे रोका, कहा—"**देवि ! अहं क्षत्रियाकथ पलाण्डुम् परि भक्ष्यामि**" अर्थात् देवि ! मैं उच्चकुलीन क्षत्रिय हूँ, मैं प्याज कैसे खा सकता हूँ, पर उसने जवर्दस्ती खिला कर उसे परम्परा विमुख करवाया। वादिवृपभ आचार्य ने कहा है कि—शासक से जरा सा भी प्रमाद हो जाये, उससे गल्तियाँ हो जाये, तो उसका उसी भव मे अध पतन हो जाता है। जैसे हिटलर आदि शासको का हुआ। यही नियम साधुओ पर लागू होता है, जरा सा भी प्रमाद उनके अध पतन का कारण बन जाता है। इसलिये भगवान् महावीर ने गोतम-

गणधर को कहा—प्रमाद मत करो, यह अध पतन का कारण है। सम्राट् अशोक के पश्चात् एक राजा ऐसा भी हुआ जो किसी साधु को मारकर उसका सिर लाने वाले को सौ स्वर्ण मुद्राये देता था। उसने साधुओ को सरक्षण देने वालो के घरो मे आग लगा कर अनेक निरपराधो की जान ले ली। इसके कारण बहुत झगडा उठ खडा हुआ। उसके पश्चात् जो शासक आया वह स्व-धर्म के अलावा अन्य सब धर्मो को मिटा देना चाहता था। एक सम्प्रदाय के दूसरे सम्प्रदाय से झगडे होने लगे। उस समय सवा सौ वर्ष का काल भारत मे लडाई-झगडे मे ही बीता।

सम्राट् चन्द्रगुप्त व अशोक के द्वारा स्थापित एक छत्र राज्य की परिणति प्रमादो के कारण झगडो मे हुई। गृहस्थियो व नागरिको को अपने घर-परिवार व राष्ट्र को प्रमादो से बचाना चाहिये। बहुत प्रयत्नो से सात पीढियो तक परिश्रम के साथ घराने की प्रतिष्ठा व नाम ऊ चा किया जाता है, पर उसको नष्ट करने मे सात मिनट भी नही लगते, दुर्व्यसनो मे पडकर उसी घराने के उत्तराधिकारी सात मिनट मे उसके नाम को बट्टा लगा देते हैं, घराने की प्रतिष्ठा खत्म कर देते हैं। अशोक के पश्चात् धीरे-धीरे उसका राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया।

यथार्थत कोई शासन शाश्वत नही है केवल धर्म ही शाश्वत है और वह धर्म आत्मा मे है। व्यवहारिक सब वस्तुये परिवर्तनशील हैं। बैलगाडी से आज हम हवाई जहाज पर आ गये। विज्ञान ने बहुत आविष्कार किये पर साथ मे प्राचीन सस्कृति व आदर्शो को भी समाप्त कर दिया, ऐसा नही होना चाहिये था। आज जनता आदर्श-विहीन हो रही है। चाहे राजाओ का राज्य हो, चाहे गणतन्त्र राज्य हो, स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नही है कि हमे अमुक सरकारी भवन तोडने का अधिकार है, मत्री के ई ट मारकर उसका सिर फोडने का अधिकार है। यह स्वतन्त्रता नही है, यह स्वच्छन्दता है, उद्दण्डता है। अनुशासन के साथ विनम्रता को न छोडते हुये मागें मागनी चाहिये, शासक भी यह सोचकर, समझकर कि कही इससे शासन पर कोई आच तो नही आयेगी, कोई हानि तो नही होगी, तभी मागें पूर्ण करें। केवल धमकियो से डर कर, उपद्रवो से घबराकर मागें नही मान लेनी चाहिये। दोनो पर कुछ बधन हैं, दोनो के कुछ कर्तव्य हैं, गणतन्त्र शासन की यही तो विशेषता है। आज गणतन्त्र दिवस है। योगेन्द्र मिश्र ने 'एन अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैशाली' नामक पुस्तक में लिखा है कि विश्व में गणतन्त्र का प्रारम्भ ही वैशाली से, भारत से हुआ।

उत्तर-पुराण में गुणभद्राचार्य ने महावीर के जीवन-प्रकरण मे लिखा है कि—नागरिको को अपने कर्तव्यो का पालन करना चाहिये। सकीर्णता छोडकर, देश के प्रति निष्ठा से रहे। जब विभिन्न जाति के जीव जन्तु, पशु-पक्षी एक साथ जगल मे रह सकते हैं, तो मनुष्य विभिन्न धर्मावलम्वी होकर एक देश मे क्यो नही रह सकते ?

कौरव-पाण्डव एक खून, एक धर्म, एक जाति के होकर सम्पत्ति के पीछे लडकर मिट गये, वश को कलक लगा दिया। जिसके नाम से अन्य राजा थर्राते थे, उन्होने ही देश को कमजोर बनाया। महाभारत ही देश की गुलामी का कारण रहा है। भारतीय अत्यन्त वीर रहे है, पर सदैव ही आपसी फूट ने, वैमनस्य ने इनका पतन किया है। यह देश अहिसा के कारण गुलाम नही हुआ अपितु आपसी वैर-वैमनस्य के कारण गुलाम हुआ है। इसलिये सकीर्णता को छोडकर मानवीयता धारण करो।

कुछ दिन पूर्व दिल्ली रेडियो-स्टेशन के एक प्रोड्यूसर रूस गये थे, वे वहा पन्द्रह दिन रहे। जब वे आने लगे तो वहा के कुछ अधिकारियो ने उनसे पूछा कि—आपने हमारा देश, खान-पान आदि देखा। आपको हमारी व आपकी सस्कृति मे क्या भेद लगा ? उन्होने उत्तर दिया कि—आपके यहा लगभग सब शिक्षित है। यदि यहा कोई बच्चा मेढक को पत्थर मारता है तो कोई आपके यहा उसे इस कार्य के लिये रोकता नही है, मना नही करता है। पर हमारे यहा की अनपढ, गरीब, झोपडी मे रहने वाली स्त्री भी अपने बच्चे को चीटी मारने से भी टोकती है। बस आपके और हमारे यही फर्क है। आप केवल मानव-जाति पर दया करने के लिये कहते हैं, पर हम प्राणीमात्र पर दया करते है, प्राणी मात्र पर दया करने के लिये कहते है। इसलिये हम स्वाभिमान के साथ कह सकते हैं कि हम विश्व के गुरु बनने की योग्यता रखते हैं। भगवान् महावीर ने हमे हजारो वर्ष पूर्व प्राणी मात्र पर दया करने, उनको जीने देने की शिक्षा दी है।

आज भारत ने काफी उन्नति करली है। बडे-बडे जहाज बनाने लगे है, तकनीकी क्षेत्र मे भी आगे बढे हैं। बडे-बडे भवनो का निर्माण भी करने लगे हैं, जैसे बम्बई मे सैंतीस मजिल का मकान बना है। पर इन भौतिक उपलब्धियो से ही सतुष्ट नही हो जाना चाहिये। एक ओर विशाल-भवन, बोझ से जमीन मे धस रहे हैं, दूसरी ओर तूफानो से झोपडिया उड रही हैं। इन अट्टालिकाओ व झोपडियो मे कैसे सामन्जस्य हो ? महावीर के

सिद्धान्तो को उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र में बाधा, उन्होने कहा कि—'अल्पारभपरिग्रहत्व मानुषस्य' कि मनुष्य कौन है ? जो आवश्यकता के अनुसार ही वस्तुओ को रखता हो, आवश्यकता से अधिक वस्तुओ को परोपकार के लिये व सेवार्थ दान करता है। जो बहुआरभ करता है उसकी दुर्गति होती है—'बह्वारभ परिग्रहत्व नारकस्यायुष' अर्थात् बहु-आरभ से स्वय मिटते हैं व दूसरे को भी मिटाते हैं। स्वय इस अर्थ मे कि—धनादि की बहुलता होने पर उनके वशज व्यसनादि मे फस कर अपने बुजुर्गों के नाम व प्रतिष्ठा को मिटा देते है। दूसरो को इस अर्थ मे मिटाते हैं कि उनके हक का धन भी वे बहु-आरभी ही समेट ले जाते हैं और दूसरे अभाव से ही मिट जाते हैं। समाजवाद यही है कि प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक नियन्त्रण मे व स्वय के नियन्त्रण मे रहे। सरकार कहा तक एक-एक व्यक्ति का ध्यान रख सकती है ? क्या घर-घर मे पुलिस तैनात करे ?

इस देश मे स्वतन्त्रता के पश्चात्, तीस साल से अधिकार का ज्ञान तो सबने कराया, पर कर्तव्य की शिक्षा किसी ने नही दी, इसीलिये यहा के शासक शासन चलाने मे असफल रहते हैं। आये दिन, तोड-तोड होती है।

मैं जब मेरठ मे था एक सभा मे एक केन्द्रीय मत्री भी आये। उन्होने अपने भाषण मे कहा कि—सब व्यापारियो को हथकडी डालकर सडक पर घुमाना चाहिये, क्योकि समाज मे असमानता इन्ही के कारण आती है, ये अधिक धन सग्रह करते हैं। उनके उत्तर मे मैंने कहा कि—मन्त्रियो के पास भी बहुत सग्रह होता है। यदि व्यापारी भी कहने लगे कि—सब मन्त्रियो को हथकडी डालकर सडक पर घुमाना चाहिये, क्योकि ये तो जनता की सेवा करने के लिये हैं, जनता का धन हडपने के लिये नही तब ? महावीर का धर्म पक्षपाती नही है। केवल व्यापारी ही अपराधी नही है, कानून सबके लिये समान है, यही जनतत्र है।

महाकवि कालिदास ने छात्रो के लिये लिखा है कि—'**शैशवे अभ्यस्त विद्यानां–योवने विषयेषिणाम्।" जब तक तुम विद्याध्ययन करते हो तब तक राजनीति मे मत उलझो।** तुम्हारा कर्तव्य व ध्येय विद्या मे, शिक्षा मे **परिपक्वता लाना है, यदि राजनीति मे उलझ गये तो अपरिपक्व ही रह जाओगे।** जब पार्लियामेट मे बैठे मत्रीगण आपस मे झगडने लगते हैं तो इसका विद्यार्थियो पर कितना असर पडता है। आपके घर ही छोटी-छोटी पार्लियामेट हैं, इनको सभालिये। इनको सभालने पर ही देश सभल सकता

है। जो घर नही मभाल मकते, वे राष्ट्र कैसे मभाल सकते हैं ? **सत्ता के प्रति लोलुपता न होकर प्रजापालन ही शासको का ध्येय होना चाहिये।** आज देश की स्थिति क्या है ? एक व्यक्ति के पेट मे दर्द हुआ। वह एक चिकित्सक के पास उपचार के लिये गया, उसने एक गोली देदी। फिर वह दूसरे चिकित्सक के पास गया, उसने कोई चूर्ण दे दिया। फिर वह तीसरे के पास गया उसने कोई पीने की दवा दे दी। चौथे के पास गया तो उसने कोई चाटने की दवा दे दी। घर आकर उसने चारो दवाईयाँ ले ली। वे चारो दवाईयाँ अन्दर पेट मे आपस मे लडने लगी कि दर्द मैं ठीक करूगी, दर्द मैं ठीक करूगी। इस लडाई मे एक भी दवा पेट-दर्द ठीक न कर सकी। इस प्रकार हमारे विभिन्न राजनीतिक दल आपस मे हम मुधार करेंगे, हम करेंगे, लडते रहते हैं, इससे वे देश का व प्रजा का कोई हित नही कर सकते। प्रजा को अपने दु ख स्वय ही दूर करने होगे।

पर फिर भी गाधीजी ने कुछ अच्छे नेता इस देश को दिये उसी का परिणाम है कि अनेक बुराईयाँ होने पर भी जनतत्र को बचा रखा है। हमारे अनेक पडौसी देशो मे गणतत्र प्रणाली समाप्त हो गई, सेना का शासन हो गया, पर तीस वर्षों से हमारे नेताओ ने इसे सम्भाल रखा है, यह भी बहुत बडी उपलब्धि है।

यह देश तभी उन्नत होगा, तभी सफल होगा, जब गणतत्र को शाश्वत बनाये रखेंगे। इस पर दृढ विश्वास रखकर आगे बढायेंगे। एक जेट विमान चलाने वाले पॉयलेट पर प्रशिक्षण मे लगभग तीन-चार लाख रुपया खर्च होता है। सात हजार मील की उडान का अनुभव होने पर उसे जेट विमान चलाने दिया जाता है। पर देश का शासन चलाने वाले के लिये कोई प्रशिक्षण नही, कोई ट्रेनिग नही। हर कोई व्यक्ति आकर शासक बन जाता है, मत्री बन जाता है। कैसी विचित्रता है ?

परिपक्वता धीरे-धीरे आती है। छात्रो को, विद्यार्थियो को, शिक्षा के साथ-साथ विवेक का भी ज्ञान करायें। एक ओर सरकार देश की उन्नति के कार्यो हेतु दूसरे देशो से कर्जा ले रही है और दूसरी ओर हमारे भावी कर्णधार सरकारी भवनो को, बसो को आग लगा रहे हैं। तोड-फोड कर रहे हैं, कैसे मेल बैठे ? उन्नति कैसे हो ? छात्रो व फैक्ट्रियो के मजदूरो की घर को आग लगाकर तमाशा देखने की जो प्रवृत्ति बन गई है, उसे कैसे रोका जाये। इसे रोकना अत्यन्त आवश्यक है। जापान मे विरोध प्रदर्शन करने के

लिये कोई तोड-फोड व आगजनी या हिंसात्मक कार्यवाहियाँ नही होती। वे विरोध प्रदर्शन करने के लिये अपने हाथो पर एक काली पट्टी बाध लेते हैं, पर साथ मे कार्य करना नही छोडते, फैक्ट्रियो के ताले बन्द नही होते। वास्तव मे वे ही सन्नागरिक हैं, बुद्धिमान हैं। आचार्य पूज्यपाद ने तत्वार्थसूत्र की टीका मे लिखा है कि विरोध भी मौन मुद्रा मे दर्शाना चाहिये। पर आज बस कडक्टर से जरा कहा सुनी हुई और छात्रो ने बस को आग लगाई। यदि ये छात्र अपने अज्ञान को आग लगादें तो कितना अच्छा हो? आन्दोलन करे तो भी अहिंसा व विनम्रता के साथ। जैसे बहू सास के ऊपर आया हुआ क्रोध निरपराध बच्चे, बेजान बर्तनो पर उतारती है, वैसे ही ये छात्र भी निर्दोष को सजा देते हैं, बेजान वस्तुओ की क्षति करते है।

प्रत्येक माता-पिता को अपने बच्चो को समझाना चाहिये कि देश की सम्पत्ति को नष्ट नही करना चाहिये। घर मे छोटा सा गिलास भी टूट जाता है, तो दिल दुखता है। तो देश की लाखो की सम्पत्ति तोडते समय दिल नही दुखता? यह भी तो एक घर है। प्रत्येक नागरिक को राष्ट्रीय भावना के लिये प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि हमारा देश-भारत, हमारी सस्कृति-भारतीय, इनको क्षति पहुँचाना हमारी ही क्षति है। नागरिक यदि सस्कृति के अनुरूप जीवन व्यतीत करेंगे तो शासक भी अवश्य करेंगे। हमे अपराधियो को मिटाना नही, उनको समझाना है। जैसे फटे कपडे को सिलाई करके पहनते हैं, वैसे ही फटे हुये व्यक्ति को भी सवार कर चलाओ, उसे मिटाओ मत। मानव है, प्रमाद हो जाता है। उसे समझाओ कि एक बार चोट लगी है, पुन वह बचकर चल सकेगा।

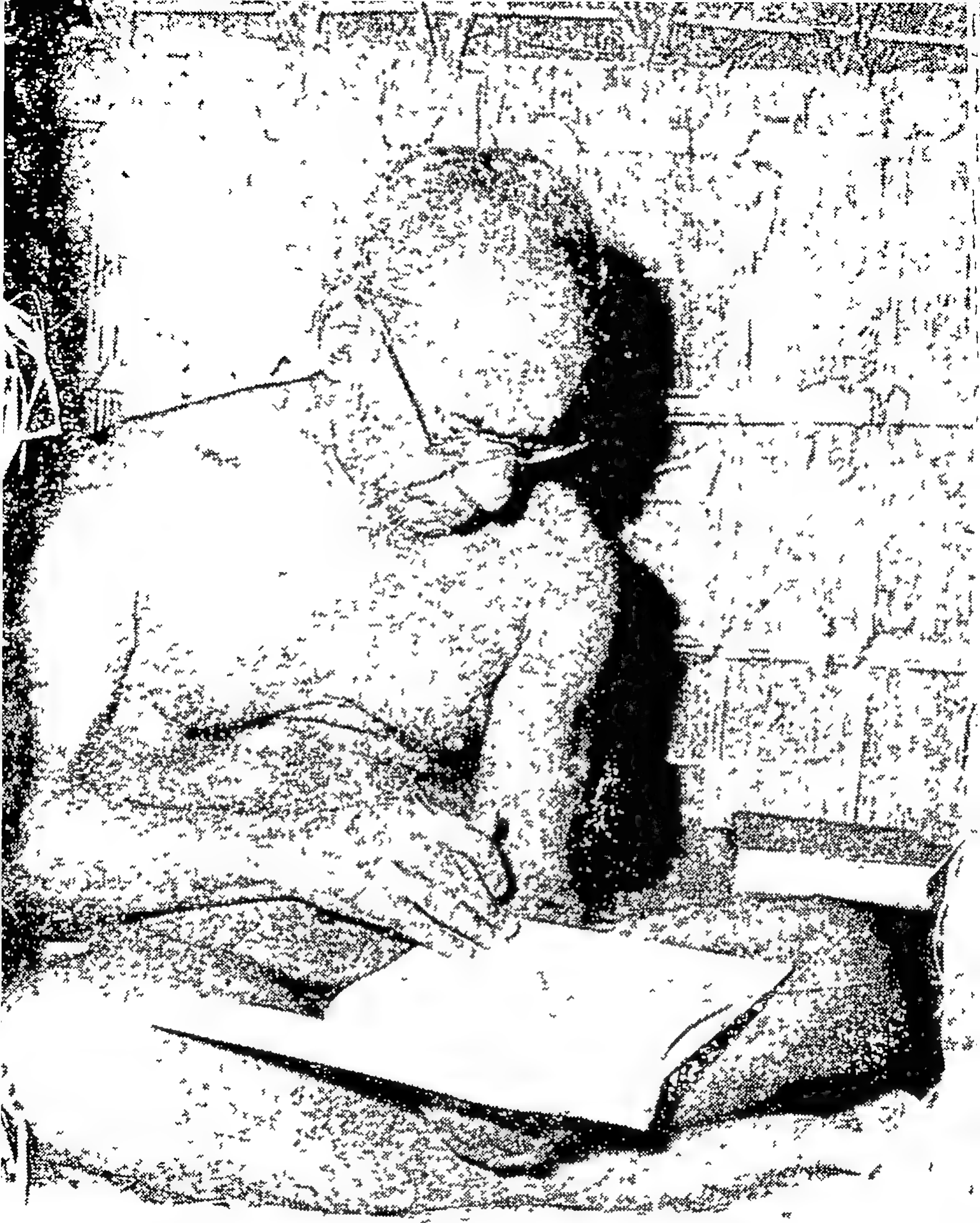
आज हम स्वतत्र भारत मे सास ले रहे है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये लाखो प्राणियो ने बलिदान किया है। सरदार भगतसिंह आदि फासी पर चढ गये। देश को सदैव उनकी याद बनाई रखनी चाहिये। उनके त्याग के बिना देश कैसे स्वतत्र हो सकता था? हमारे साहित्य, सस्कृति, मदिर आदि कैसे सुरक्षित रह सकते थे? देश को बचाने की भावना से शहीद होने वाले अवश्य स्वर्ग मे जायेंगे।

समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे एक कथा दी है—जगल मे एक मुनि तपस्या कर रहे थे। एक शेर उधर से आया। वह मुनि को खा जाना चाह रहा था, इतने मे एक जगली सूअर आया। वह शेर के भावो को समझ गया। वह मुनि को बचाना चाह रहा था। दोनो मे लडाई

होने लगी। लडते-लडते दोनों एक गहरे गड्ढे मे गिर गये और मर गये। शेर मुनि की हत्या व खाने के भावसहित मरा इसलिये नरक मे गया व सूअर उनकी रक्षा के भावसहित मरा इसलिये स्वर्ग मे गया। जिन्होंने इस देश की रक्षा की, इसको स्वतत्र कराया उन्हे नही भूलना चाहिये, उन पर श्रद्धा रखनी चाहिये। उन्होने अपना कर्तव्य निभाया, आप भी प्रतिज्ञा कीजिये कि—हम भी सदैव अपना कर्तव्य निभायेंगे, तभी गणतत्र सफल होगा। इसकी सफलता के लिये सकल्प कीजिये। सकल्प कल्पवृक्ष के समान है। 'सकल्प कल्पवृक्षस्य', सकल्प फल देने वाला है। सकल्प कीजिये कि—"मैं देश की उन्नति व विकास के लिये अमुक कार्य करूगा। छोटे-छोटे आयुर्वेदिक औषधालय खोलूगा।" पुण्य तिथियो पर जेलो मे जाकर चार शब्द धर्म के सुनाइये। **आपही आपकी भाषा, सस्कृति व देश को मिटा सकते हैं और कोई नहीं मिटा सकता और आपही उसकी उन्नति कर सकते हैं और कोई दूसरा आपकी उन्नति नहीं कर सकता।**

देश का भविष्य उज्ज्वल हो, यहा महावीर, राम, गाधी, शास्त्री, टैगोर, भगतसिह जैसे महान् व्यक्ति पैदा हो, यही भावना है।





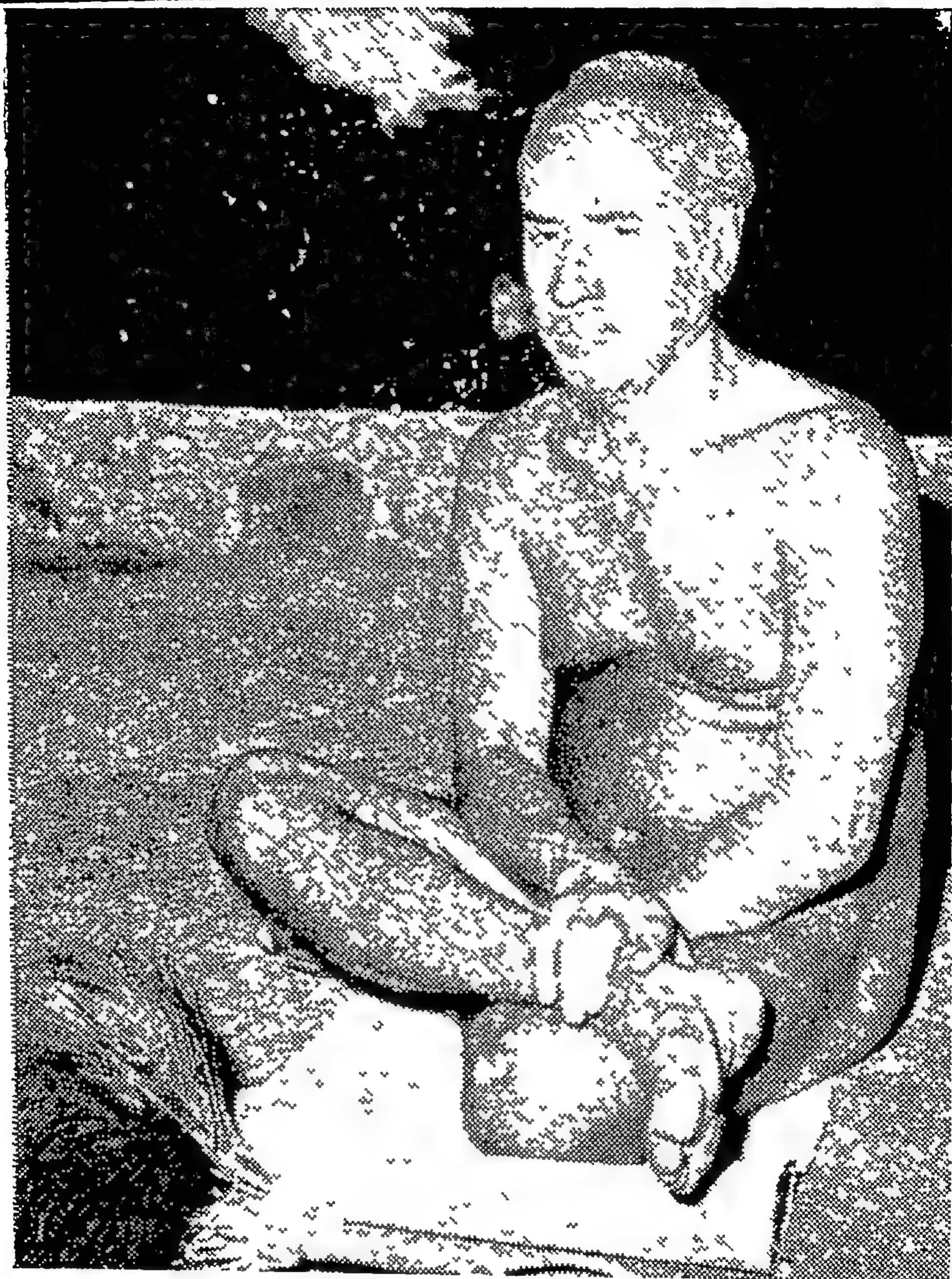
अध्ययन मे निरत मुनिश्री

मगल-प्रवेश	जयपुर	मगल-विहार
२४ दिसम्बर, १९७८		४ मार्च १९७९



— अन्तर्राष्ट्रीय बाल वर्ष में गणतंत्र दिवस को विद्यालय प्रांगण में विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुये।

— गुलाबी नगर जयपुर में मुनि श्री का स्वागत जुलूस



बाहर-भीतर नित्य दिगम्बर, निर्लिप्त हे ज्ञानी,
शाश्वत आत्म-तत्त्व की कीमत तुमने पहचानी।
भौतिक सुख के आज नहीं कल, उठेंगे मेले सारे,
'समयसार' को इसने पाने आतुर चरण तुम्हारे ॥

[illegible] विश्वविद्यालय के छात्र [illegible] को सम्मानित करते हुये मुनिजी
[illegible] श्री [illegible]जी
मुनिश्री के [illegible] प्रवास में [illegible] के [illegible] श्री देवराज एवं उनके धर्म-[illegible]

स्कूल आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माण शाला है

स्कूल ही आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माणशाला है। जहाँ बच्चो को स्वावलबन व सादगी की शिक्षा के साथ आध्यात्मिक शिक्षा भी देनी चाहिये। विद्यार्थियो को एकनिष्ठ होकर शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये। कौए की भाति चचलमन रखने वाले विद्यार्थी कभी बुद्धिमान नही बन सकते।

आज भारत मे सविधान लागू किये तीस वर्ष हो गये। भारतीय सविधान मे स्वीकार किये गये सिद्धान्त बहुत मौलिक हैं।

विश्व मे, अनेक देशो मे सत्ता के लिये सघर्ष चलता रहा है। उन्होने हिंसा का मार्ग अपनाया, अपने नेताओ को जेलो मे रखा, या उन्हे गोली से भून दिया। इस भारत देश मे भी तीस वर्ष मे अनेक सघर्ष चले, पर सब अहिंसात्मक रूप से चले। सघर्ष तो चलता है, पर उसका मार्ग व उद्देश्य पवित्र होना चाहिये, भारत मे यह विचारधारा आज भी सुरक्षित है। वर्तमान मे ही इस देश मे सत्ता परिवर्तन हुआ है, पर उसमे भी हिंसा का मार्ग नही अपनाया गया। जनता ने व नेताओ ने चुनावो के द्वारा ही सत्ता का परिवर्तन किया। पद–प्राप्ति भी अहिंसा व हृदय–परिवर्तन के द्वारा ही की। उन्होंने हिंसा को नही अपनाया। भारत का यह प्राचीन सिद्धान्त रहा है।

विद्यालयो मे झाकियो के माध्यम से गरीबो की सेवा, चिकित्सा–पद्धति, रोगियो की सेवा, परोपकार व सेवा भाव का पाठ पढाना चाहिये।

ऐसी भाकियो का बच्चो पर अच्छा असर पडता है। ऐसी भाकियो से उन्हे माता–पिता की सेवा, गरीबो की सेवा, दु खियो के प्रति दया की प्रेरणा मिलती है। मनुष्य के साथ-साथ घायल पशु-पक्षियो की सेवा सुश्रूषा व उनके प्रति भी दयाभाव दिखाना चाहिये। बच्चो को सिखाना चाहिये कि वे किसी भी पशु-पक्षी को घायल न करें, तब ही राष्ट्र की परम्परा व प्रकृति की शोभा कायम रह सकती है। विद्यालयो मे कभी भी हिंसात्मक व दुराचार की भाकिया जैसे–चाकू दिखाकर महिलाओ के गहने व पुरुषो से धन लूटना आदि नही दिखानी चाहिये। इससे बच्चो पर बहुत गलत प्रभाव पडता है, इससे वे गलत शिक्षाये ग्रहण कर लेते हैं, इन्ही के परिणामस्वरूप अराजकता व अव्यवस्था फैलती है। बालक राष्ट्र की सेवा पर ध्यान दे, अपने कर्तव्य निभाये व आदर्श नागरिक बनें।

प्राचीनकाल मे तक्षशिला व नालन्दा ये दो विश्वविद्यालय (भारत मे) थे। वहा के इतिहास व खुदाई आदि से प्राप्त अवशेषो से ज्ञात हुआ है कि उस समय का विद्यार्थी पूर्ण रूप से स्वावलम्बी था। वह अपना कार्य अपने हाथ से करता था। उस समय वहा व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती थी। सभी धर्म व दर्शनो का ज्ञान कराया जाता था, अपने धर्म व दर्शन के प्रति निष्ठावान् रहने की प्रेरणा दी जाती थी। सभी भाषाओ के प्रति प्रेम व वात्सल्य रखना सिखाया जाता था।

कौए की भाति चचल मन रखने वाले विद्यार्थी कभी बुद्धिमान नही बन सकते। कवि कालिदास ने इक्ष्वाकु वश की परम्परा बताई है, उस परम्परा को आज के बालको को अवश्य सिखानी चाहिये, वह परम्परा आज के युग मे भी बहुत उपादेय सिद्ध होगी। उन्होने कहा है—प्राचीन गुरुकुल प्रणाली यह रही है कि विद्यार्थी अध्ययन की पूर्णता के पूर्व किसी भी राजनैतिक गतिविधियो मे भाग नही लेते थे, एकनिष्ठ होकर विद्या–प्राप्त करते थे, उसमे प्रवीण होते थे। युवावस्था मे जब अध्ययन समाप्त कर चुकते थे तब देश, समाज, माता-पिता व परिवार के प्रति अपना कर्तव्य पालन करते थे। वृद्धावस्था मे त्याग व सादगी के साथ जीवन यापन करते थे, मरणोन्मुख होने पर भगवान् का नाम स्मरण करते हुये शरीर त्याग देते थे।

आज भी हमे इसी परम्परा को निभाने की आवश्यकता है। विद्यार्थियो को विद्याध्ययन की समाप्ति तक किसी भी प्रकार के राजनैतिक विवादो मे, कार्यो मे भाग नही लेना चाहिये। उसे तो विद्याध्ययन को ही

एकमात्र लक्ष्य मानकर चलना चाहिये। अपने अध्ययन मे मन लगाकर उस क्षेत्र मे प्रवीण होना चाहिये। राष्ट्र व समाज के प्रति, माता-पिता व परिवार के प्रति पूर्णरूप से वफादार होना चाहिये।

भारत मे जन्म को ही नही, मरण को भी मागलिक माना गया है। हमारे जवानो ने, भगवान् का नाम स्मरण करते हुये, हँसते हुए देश के लिये प्राण न्यौछावर कर दिये। महाराणा प्रताप व भामाशाह की झाकियाँ इन वच्चो मे इसी प्रकार के आदर्श व सस्कार उत्पन्न कर सकती हैं। भामाशाह के द्वारा देश के लिये अपनी सारी सम्पत्ति दान दे देना, वहुत सुन्दर आदर्श है। इन वच्चो को भी यही सीखना चाहिये कि हमे बुद्धिमान, चारित्रवान, शूरवीर व दानी वनना है। देश को ऐसे ही कर्णधारो की आवश्यकता है जो इन गुणो से परिपूर्ण हो। आध्यात्मिक शिक्षा भी देना चाहिये। वच्चो को ईश्वरचन्द्र विद्यासागर से स्वावलवन व सादगी की शिक्षा लेनी चाहिये।

भारत एक शाति प्रधान अहिंसात्मक देश है। प्रत्येक स्कूल व कॉलेज मे अहिंसा व कर्तव्य पालन की शिक्षा देनी होगी। **हमे तो विश्व मे आदर्श प्रस्तुत करना है कि समस्त पड़ौसी राज्य भी हमसे शिक्षा लेकर शातिपूर्वक जीवन व्यतीत करें।**

आज वैज्ञानिक उपलब्धियो से समस्त विश्व एक सूत्र मे बध गया है। एक दूसरे के निकट आ गया है, ऐसे समय मे हमे अपने आदर्शों को छोडना नही चाहिये, अपितु उन्हे दूसरो के सामने स्वय पालन करते हुये प्रस्तुत करना चाहिये। अपनी भारतीय आचार-विचार व सस्कृति की रक्षा करनी चाहिए, उनको भूलना नही चाहिये, भारतीय वेशभूषा ही धारण करनी चाहिये। महात्मा गाधी ने गोलमेज परिषद् मे भी अपनी वेशभूषा को नही छोडा।

देश के निर्माण मे अध्यापको का भी बहुत उत्तरदायित्व है, यद्यपि आज अध्यापको के सामने अनेक समस्यायें हैं, फिर भी उन्हे देश के लिये अच्छे नागरिक तैयार करने के लिये तत्पर रहना चाहिये। उनके त्याग व आदर्श का वच्चो पर भी अच्छा असर पडेगा। स्कूल ही आदर्श नागरिक तैयार करने की निर्माण-शाला है। सव विद्यार्थी अपने कर्तव्यो का पालन करते हुये देश, समाज व परिवार का नाम रोशन करें, तभी शिक्षा की सफलता है।



सफलता का सूत्र—

श्रद्धा-ज्ञान व चारित्र साधन

सम्यक्दर्शन विश्वास ही है, जिसके साथ ज्ञान भी आवश्यक है व आचरण भी। बिना क्रिया के किसी भी ज्ञान का महत्त्व नही है। श्रद्धा व ज्ञान के साथ आचरण की आवश्यकता है।

संसार मे समस्त वस्तुये अनगढ होती हैं, कच्चा माल कहलाती हैं, चाहे वह खान से निकले चाहे पहाड़ से। उसे फैक्ट्री मे डालकर शुद्ध किया जाता है, उसके साथ जिन अन्य तत्त्वो का संयोग रहता है, उन्हे दूर किया जाता है। जैसे—खान से सोना निकलता है उसके साथ कीट कालिमा आदि का संयोग रहता है, झरनो से, पहाडो से पानी आता है, उसमे भी कुछ दोष रहते है। इनके दोषो को प्रयत्नो से दूर किया जाता है। सोने की कालिमा दूर की जाती है, पानी के दोष दूर किये जाते हैं। कच्चे-माल से शुद्ध-वस्तु प्राप्त करने के लिये, उसे परिशुद्ध करने के लिये प्रयत्न किया जाता है। लोहे को लें, उसे भी भट्टी मे डालकर शुद्ध किया जाता है। हीरे को लें, उसे भी सान पर चढाकर साफ चमकदार किया जाता है। रेती मे कुछ निश्चित डिग्री का ताप देने पर कांच बनाया जाता है। तब उस कांच के आर-पार दिखाई देने लगता है, जबकि रेती के आर-पार दिखाई नही दे सकता। बिना प्रयत्न व प्रक्रिया के, कच्चे माल से शुद्ध माल प्राप्त नहीं किया जा सकता। रत्न, हीरे, सोना, लोहा सभी को शुद्ध व चमकदार बनाने के लिये प्रयत्न करते है। चौरासी लाख योनियो मे यह आत्मा भ्रमण करता रहता है तब इसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। उस समय यह भी कच्चा माल है, इसको भी प्रयत्न से परिशुद्ध किया जा सकता है व किया जाता है। इनसो

शुद्ध करने का साधन फैक्ट्री मन्दिर शास्त्र आदि हैं। भ्रमण करती हुयी आत्मा कच्चा माल है, इसी को शास्त्रीय भाषा मे मिथ्या दृष्टि कहा है। एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक के प्राणी कच्चा माल है, ये मिथ्यादृष्टि हैं। मिथ्यादृष्टि कहते हैं, तो इससे नियमित होता है कि यह सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है। ससारी जीव पर अन्य का सयोग है, आवरण है। वह सयोग है अन्य परमाणुओ का, जड पदार्थ का, पुद्गल का, जैसे सोने मे कीट कालिमा आदि का रहता है। जब तक इनका वियोग नही करते तब तक आत्मा परिशुद्ध नही हो सकता। वस्तु का विपरीत श्रद्धान होगा तब तक मिथ्यादर्शन दूर नही होगा। नियमसार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत।
ससयविमोहविब्भवविवज्जिय होदि सण्णाण ॥

अर्थात् विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, सशय, विमोह और विभ्रम रहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। विपरीत श्रद्धान—जैसे सीप मे चादी का श्रद्धान कर बैठना। विपरीत श्रद्धान करना सहज है, यह शीघ्रता से हो जाता है, क्योकि इसमे ज्ञान का उपयोग व परिश्रम नही के बराबर होता है। एक बार विपरीत श्रद्धान हो जाने के पश्चात् उसे छुडाना अत्यन्त कठिन है, जैसे—किसी ने कह दिया कि बलि चढाना धर्म है, और सब भेड-चाल से इसको मान बैठे। अब यह बलि धर्म नही है ऐसा समझना अत्यन्त कठिन हो गया। किसी को भी दुर्व्यसन लगादें, फिर वह उसे छोडता नही है, जैसे शराब ही है। कुछ लोग तो डाक्टर द्वारा छोड देने के निर्देश देने पर छोड देते है, पर कुछ ऐसे भी हठी होते हैं जो डाक्टर के कहने पर भी नही छोडते और स्वय की हानि करते हैं।

विपरीत श्रद्धा, मिथ्याश्रद्धा, अन्धश्रद्धा सस्ती व सहज है पर सम्यक्त्व प्राप्त करना कठिन है। सत्य को जानने के लिये मिथ्यात्व का स्वरूप, उसका परिणाम आदि भी जानना होता है, जैसे प्रकाश के ज्ञान व उपादेयता के लिये अन्धकार का ज्ञान भी आवश्यक है।

विपरीत श्रद्धा का प्रथम कारण है 'सशय'। इससे ज्ञान मे सदिग्धता बनी रहती है। विपरीत श्रद्धा से धोखा प्राप्त होता है। पर अध्यात्म मे धोखा देने वाले को दोष नही देते, बल्कि आपके ज्ञान मे कमजोरी थी, आपकी स्वय की गलती थी कि आप गलत को सही मान रहे थे, विपरीत श्रद्धा कर

बैठे थे, इसलिये आपने धोखा खाया, ऐसा कहा जाता है। अध्यात्म-शास्त्र किसी पर दोष नही डालता, दूसरे पर दोषारोपण नही करता, अपितु तुमने जो विपरीत श्रद्धा की, उसी का फल तो मिलेगा, ऐसा बताया जाता है। क्योकि जो कुछ भी प्राप्त होता है वह कर्म के आधार पर। दूसरे ने कुछ हानि पहुचायी है तो—तुमने पिछले जन्म मे उसे हानि पहुचायी होगी, ऐसा कर्म सिद्धान्त कहता है। कर्म-सिद्धान्त वहुत अद्‌भुत है।

एक तपस्वी साधु ध्यान मे बैठे थे। किसी ने आकर उन पर लाठी से प्रहार कर दिया। वहुत से लोग एकत्रित हो गये और इस क्रिया पर अपनी प्रतिक्रिया अभिव्यक्त करने लगे। वे विभिन्न विचारधारा के लोग थे। चर्चा चलने लगी कि इस व्यक्ति ने तपस्वी को लाठी मारी। वताइये इसके वारे मे कर्म सिद्धान्त क्या कहता है ? एक व्यक्ति ने वताया कि—इन तपस्वी का तो अशुभ कर्म का उदय था जो इनको लाठी का प्रहार सहन करना पडा और इस मारने वाले का शुभ कर्म का उदय है, क्योकि इसने एक तपस्वी साधु को लाठी मारी है, जिनकी तरफ से कोई प्रतिक्रिया नही हुई। यदि यह किसी साधारण व्यक्ति पर प्रहार करता तो वदले मे इस पर भी प्रहार होते। यहा इस पर किसी भी प्रकार का प्रहार (वदले मे) नही हुआ। इसलिये इसका शुभ उदय है। पर कर्म-सिद्धान्त को मानने वाले व्यक्ति ने कहा कि—जिसने प्रहार किया उसके आगे के लिए अशुभबन्ध हुआ है, क्योकि उसके भाव खराव हुये और इसीलिए यह उदय भी अशुभ कर्म का ही था। पर इन तपस्वी साधु ने शाति के साथ, समता के साथ अपने इस अशुभ उदय को सहन किया इससे ये निर्जरा कर रहे है।

राजा श्रेणिक ने तपस्यारत मुनि पर उपसर्ग किया, उन्ही की रानी चेलना ने उस उपसर्ग को दूर किया। उपसर्ग दूर होने पर मुनि ने आखे खोली और दोनो को समान भाव से आशीर्वाद दिया। यह देख श्रेणिक की आखो मे आसू आ गये। चेलना ने पूछा—ये आसू किसलिये ? श्रेणिक ने कहा—अरे! मैंने उपसर्ग किया था, उसका निवारण तुमने किया। इस वात को जानते हुये भी मुनि ने दोनो को एक साथ समान भाव से आशीर्वाद दिया। कितने समताभावी है। जिसने लाठी मारी उसको भी आशीर्वाद, जिसने पट्टी वाधी उसे भी आशीर्वाद, यही तो समताभाव है। ऐसा समताभाव वारहवें गुणस्थानवर्ती के ही होता है, इसी मे अहिंसा की पूर्ण परिपक्वता प्रकट होती है। ऐसी परिपक्वता प्रकट होने पर ही उनके सामने एक ही घाट

पर गाय और शेर पानी पीते हैं। वातावरण निर्मल हो जाता है, वैमनस्य नष्ट हो जाता है।

महावीर ऋजुकूला नदी के तट पर तपस्या मे लीन थे। उधर से एक बनगाय नदी पर पानी पीने आ रही थी। उसे पीछे से एक शेर ने देख लिया, वह उस वनगाय को मारने दौडा। वनगाय भी दौडी, एक झाडी मे उसके बाल उलझ गये। वनगाय को अपने बालो के प्रति इतना मोह होता है कि चाहे जान देनी पडे, पर बाल नही टूटना चाहिये। पीछे से शेर आ गया, किन्तु समीप ही तपस्या मे लीन महावीर की तपस्या व अहिंसा के प्रभाव से उस शेर ने गाय को कोई क्षति नही पहुचाई, अपितु उसके बालो को झाडी से सुलझा भी दिया।

पातजलि ने भी लिखा है कि **जो तपस्वी अहिंसा की पूर्णता पर पहुंच जाता है, उसके सामने गाय व शेर एक घाट पर पानी पीते हैं, उसकी अहिंसा का बहिरग मे भी अत्यन्त प्रभाव पडता है।** भगवान् महावीर जिस वन मे जाते थे। वहा के पेड-पौधो व पशु व पक्षियो पर भी प्रभाव पडता था।

सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति मे बाधक हैं—सशय, विमोह व विपर्यय। **सशय** मे सदिग्धता रहती है वस्तुस्थिति का निर्णय ही नही कर पाते। यह सर्प है या रस्सी है, आत्मा है या नही, वह शाश्वत है या अशाश्वत है ? आदि सदिग्ध विचार रहते है। **विपर्यय** मे विपरीत मान्यता होती है, सर्प को रस्सी समझने लगता है, देह को आत्मा मान बैठता है, ये दोष है। जहर को अमृत समझकर पीने से वह मारक ही सिद्ध होगा। ज्ञान व श्रद्धा दोनो ही होने चाहिये। यदि श्रद्धा है और ज्ञान नही है तो धोखा उठाना होगा और यदि ज्ञान है पर श्रद्धा नही है तो धोखा उठाना होगा। जैसे सूर्य मे रोशनी व आतप एक साथ रहते हैं वैसे ही ज्ञान व श्रद्धा दोनो ही होनी चाहिये। धर्मात्माओ के लिए सम्यक् श्रद्धा व ज्ञान आवश्यक है। **धर्मात्मा वह है जिसने आत्मा व परमात्मा के विश्वास के साथ आत्मानुभव भी किया है। धार्मिक व धर्मात्मा मे अन्तर है। धर्म को मानना, इसके अग को स्पर्श करने वाला धार्मिक है। धार्मिक तो सब हो सकते हैं, धर्मात्मा नहीं। धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि होगा, उसके तीनो दोष नष्ट हो चुके होते हैं।**

श्रद्धा व ज्ञान के साथ आचार्यों ने आचरण की आवश्यकता को माना है। जैसे—एक सेव फल है, उस पर यह श्रद्धा है कि इसको खाने से स्वास्थ्य

ठीक रहता है। यह सेव का फल है, यह भी ज्ञान है परन्तु जब तक उसका सेवन नही करेंगे, क्या वह लाभप्रद सिद्ध हो सकेगा ? केवल गुणानुवाद करने से ही कि यह बहुत ताकतवर है, बहुत लाभप्रद है, से वह लाभप्रद सिद्ध नही होगी, जब तक कि उसका सेवन न किया जावे। बिना क्रिया के किसी भी ज्ञान का महत्त्व नही है। आज के वैज्ञानिक युग मे बिना प्रयोग के, बिना क्रिया के, बिना प्रैक्टिकल के ज्ञान की कोई कीमत नही है।

किसान व बनिये के बच्चे कम पढे लिखे होने पर भी बचपन से, ही अपने परम्परागत व्यवसाय मे क्रियाशील रहने से, प्रैक्टिकल ज्ञान होने से, व्यावसायिक दृष्टिकोण से सफलता प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर पढे लिखे होने पर, बडी-बडी डिग्रियो के साथ दर-दर भटकते रहते हैं—म्हाने चाकर राखो जी, म्हाने चाकर राखो जी। क्योकि उन्हे प्रैक्टिकल, क्रियात्मक ज्ञान नही है। स्वावलम्बन की शिक्षा नही है। अत श्रद्धा व ज्ञान के साथ आचरण की आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन व ज्ञान के साथ आचरण नही हो तो वह लाभप्रद नही है। स्वाध्याय के साथ आचरण होगा तभी लक्ष्य की प्राप्ति होगी।

स्वास्थ्य ठीक न होने पर, घर से दवा लेने के लिये निकलते हैं, शहर मे। राह मे आठ-दस दवाखाने हैं, परन्तु हम तो एक निश्चित दवाखाने मे घुस जाते हैं, क्योकि उसके प्रति हमारा विश्वास है कि वहा उत्तम चिकित्सा होती है। वहा हम उस चिकित्सक के सन्दर्भ मे यह नही देखते कि वह दाढीवाला है, या साडीवाला है, जैन है, ब्राह्मण है या मुसलमान है। वह चिकित्सक भी यह नही देखता कि रोगी स्त्री है या पुरुष है, जैन है, ब्राह्मण है या मुसलमान है। बिना भेदभाव के हम चिकित्सक के पास पहुच जाते हैं और चिकित्सक भी बिना भेदभाव के चिकित्सा करता है। बाह्य - व्यवहार मे प्रपच मे यह दुनिया विश्वास के आधार पर चल रही है। व्यापार आदि विश्वास पर चलता है। दुकान मालिक नौकर के भरोसे दुकान छोडकर चले जाते हैं। यदि विश्वास मे कमी आ जावे तो नौकर व मालिक दोनो ही दु खी हो जाते हैं। मालिक को हानि उठानी पडती है और नौकर को दूसरी नौकरी नही मिल पाती। **विश्वासो फलदायक** विश्वास ही फलदायक है। यदि पति पर विश्वास न हो तो पत्नी सती नही कहला सकती, मालिक पर विश्वास नही तो वह नौकर नही हो सकता, गुरु पर विश्वास नही तो वह शिष्य नही कहला सकता। सम्यग्दर्शन विश्वास ही है। पर विश्वास के साथ ज्ञान भी आवश्यक है व

ग्राचरण भी। चिकित्सक पर विश्वास रखा, उससे निदान करवाया, दवा लिखवायी। वह चिकित्सक इन सबके साथ परहेज बताता है, दवा लेने की विधि बताता है, उन सबको जाना, ज्ञान कर लिया, बिना जाने तो दवा ले भी कैसे सकते हैं? पर, घर आकर यह सोचा कि यहा चिकित्सक देखने तो आ नही रहा, बस परहेज नही किया, तो रोग-मुक्त हो सकेगा? व्यवहार मे, लौकिक जगत् मे शरीर की निरोगता के लिये श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र, (विश्वास, ज्ञान व ग्राचरण) की आवश्यकता है तो आत्मा की निरोगता के लिये कैसे आवश्यक नही है? जब तक इनका विधिवत् पालन नही किया जायेगा, दु ख से मुक्ति नही मिल सकेगी।

गम्भीरो दुद्धरिसो, सूरो धम्मपहावणासोलो।
खिदि ससि सायर सरिसो कुसलो एलादरियोहोदि।।

गभीर दुर्द्धर्य, स्वसमय और परसमय के ज्ञाता, शूर, धर्मप्रभावनाशील, क्षिति-तितिक्षा से युक्त शशि और सागर के सदृश गुण एव कुशल श्रमण ही जिनशासन मे एलाचार्य पद के योग्य होते हैं।

सर्वोदय धर्म-तीर्थ ही तरणतारण है

धर्म वही है जो सबके लिये कल्याणकारी हो। धर्म सर्वोदय मे, स्याद्वाद मे, अनेकान्त के द्वारा प्राप्त हो सकता है। किसी एकान्त के माध्यम से धर्म प्राप्त नही हो सकता। विशाल दृष्टि रखने पर ही सकीर्णता की दीवार टूटेगी। जब तक दीवार मौजूद है—तब तक आगे की वस्तु दिखाई नही देगी।

प्रत्येक आत्मा मे अग्नि विद्यमान है। आवश्यकता है एक चिनगारी की। शक्ति सुप्त है उसे जगाने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है। आत्मा के, परमात्मा के ध्यान से यह आत्मा शुद्ध हो सकती है।

इस विशाल—विश्व की ओर ज्ञाता-द्रष्टा बनकर दृष्टिपात करते है, इसकी ओर उपयोग लगाते हैं—तो अनुभव होता है कि यह समस्त पृथ्वी-मण्डल इस विशाल आकाश के नीचे ही समाया हुआ है। आकाश के बाहर कोई प्राणी या कोई वस्तु नही है। आकाश कितना विशाल है, जिसके हृदय मे सारे पदार्थ समाये हुये हैं? आकाश निर्लेप है। वर्षा हो तो आकाश गीला नही होता, हवा से यह सूखता नही, शस्त्र के द्वारा इसके टुकडे नही किये जा सकते, अग्नि से यह जलता नही है। सब पदार्थ आकाश के नीचे रहते है, हवाई-जहाज, पशु, मनुष्य, पक्षी आदि इसी के नीचे उडते है, इसी के नीचे चलते हैं, पर यह किसी को बाधा नही पहुँचाता है। जो भी आये, रहे, उसको स्थान देना इसका धर्म है।

दो देशो के बीच मे पृथ्वी पर सीमारेखा होती है। दोनो सीमाओ पर

सेना रहती है, उसके द्वारा सुरक्षा की जाती है, पर आकाश पर कोई सीमा रेखा नही होती। आकाश से उडकर आने वाले पक्षी को कोई नही रोकता। यदि मानव आकाश मार्ग से या थल मार्ग से दूसरे देश मे प्रवेश करता है तो उसे पासपोर्ट की आवश्यकता होती है, पर पक्षी को किसी पासपोर्ट की आवश्यकता नही होती, कोई उसे बधन मे नही डालता, वह स्वच्छन्द होकर एक देश से दूसरे देश की सीमा मे प्रवेश करता है। मानव तो सीमाओ मे कैद है, उन सीमाओ के बाहर जाने के लिये उसे अनुमति की, पासपोर्ट की आवश्यकता है, पर पशु-पक्षी स्वतन्त्र है। कोई साप, शेर आदि भी, बिना पासपोर्ट, एक देश से दूसरे देश मे बे रोक-टोक आते-जाते हैं। अर्थात् प्रकृति स्वभाव से स्वतन्त्र है, वह किसी की स्वतन्त्रता मे बाधक भी नही है। पर मानव ने अपने लिये अनेक बन्धन बना लिये है—उससे वह कूपमण्डूक व सकीर्ण हो गया है। राजमहल से निकल कर शालवृक्ष के नीचे बैठ चिन्तन मनन मे रत महावीर ने इसी प्रकार के विचारो का मन्थन किया, अनुभव किया। उन्होने देखा कि मानव जीवन सीमित बना हुआ है, बधन मे बधा हुआ है, अपने शरीर को ही नही मन व आत्मा को भी इसने गुलाम बना रखा है। जब तक मन स्वतन्त्र नही होगा तब तक आत्मा भी गुलाम ही रहेगी, स्वतन्त्र नही हो सकती। मुझे स्वय को इसका अनुभव प्राप्त कर विश्व को बताना होगा कि प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है। आध्यात्मिक विद्या या धर्म से ही आत्म-स्वातन्त्र्य की प्राप्ति हो सकती है और धर्म केवल मानव के लिये ही नही है, धर्म प्राणी मात्र के लिये है, धर्म सार्वभौम है। जो सार्वभौम होगा वही मेरा सिद्धान्त है, जो मेरा सिद्धात है वह सार्वभौम है, सर्वोदयी है। भगवान् महावीर के धर्म तीर्थ को प्रवाहित करते हुये श्री समन्तभद्राचार्य ने युक्त्यानुशासन मे कहा है कि—

सर्वान्तवत्तद् गुणमुख्यकल्प, सर्वान्तशून्य च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकर निरत, सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ॥ ६२ ॥

हे तीर्थंकर महावीर ! आपका धर्मतीर्थ प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है—सर्वोदय है। जिसमे सामान्य विशेष, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, अस्ति-नास्ति रूप सभी धर्म गौण व मुख्य रूप से रहते हैं, ये सभी धर्म धर्मी मे परस्पर सापेक्ष हैं, अन्यथा द्रव्य मे कोई धर्म या गुण रह ही नही पायेगा। तथा यह सभी की आपत्तियो को दूर करने वाला है और किसी मिथ्याएकान्तवाद से इसका खण्डन नही हो सकता, अत आपका यह धर्म-तीर्थ सर्वोदय-तीर्थ कहलाता है। त्रिलोकसार मे लिखा है कि जैसे तुलसी वनस्पति का पत्ता है वह किसी जाति, मनुष्य या प्रान्त विशेष को लाभ नही देता, वह सबको समभाव

से लाभान्वित करता है। वनस्पति मे समभाव है, वह अपना धर्म परिवर्तित नही करती, वह समानरूप से सबका हित करती है। प्राय सब पदार्थों मे सबके कल्याण की भावना निहित है। पशुओ मे देखे तो गाय का दूध सबको समानरूप से शक्ति प्रदान करता है, हृष्ट-पुष्ट करता है, वह शूद्र के लिये जहर व ब्राह्मण के लिये अमृत नही बनता। समन्तभद्र स्वामी ने इसलिये आगे कहा कि—हे महावीर! इसी प्रकार आपका धर्म प्राणीमात्र के लिए समान रूप से उपयोगी है। आपका अहिंसामय, सत्यमय, वात्सल्यमय धर्म भी सार्वभौम है, सर्वकल्याणकारी है। आपने **सत्वेषु मैत्री** का सिद्धान्त दिया है। आपका सर्वोदयी सिद्धान्त तीन लोक के सब प्राणियो के प्रति मित्रता रखने की शिक्षा देता है। मित्र कहते ही शत्रु का अहसास होता है, कोई व्यक्ति किसी का मित्र है तो इसका तात्पर्य है कि कोई उसका शत्रु भी है, पर हे भगवन्! आपने सबसे मित्रता रखने के लिये कहा। हे महावीर! सर्वोदय तीर्थ को यथार्थ रूप से समझने के पश्चात् कोई वैर-भाव, झूठा दभ नही रख सकता। आपका धर्म तीर्थ है, यह धर्म अनादि काल से चलता आ रहा है, इसमे भेद-भाव को कोई स्थान नही है। यह तीन-लोक के लिये कल्याणकारी है। धर्म सर्वोदय मे, स्याद्वाद मे, अनेकान्त के द्वारा प्राप्त हो सकता है। किसी एकान्त के माध्यम से धर्म प्राप्त नही हो सकता।

महावीर के **सत्वेषुमैत्री** सिद्धान्त का मन्तव्य है कि—ऐसी भावना रखो कि समस्त प्राणी, जगत् मेरे मित्र समान है। इससे समस्त मानसिक द्वन्द्व, व्यथायें व शल्य दूर होंगे, समताभाव उत्पन्न होगा तभी दृष्टि सम्यक् बनेगी। कोई कहे कि—भारतीय सस्कृति के लिये राजस्थान की देन, तो कोई कहेगा कि—भारतीय सस्कृति के लिए कर्नाटक की देन, तो कोई केरल की देन की महिमा गाने लगेंगे, पर ये सब तो एकान्त दृष्टिकोण रहेगे। भारत को अखण्ड रूप मे देखना चाहिये। जब इन सबका समन्वय कर यह कहे कि विश्व की सस्कृति को भारत की देन, तो राजस्थानियो, कर्नाटक व केरल-वासियो की सकीर्ण दृष्टि दूर हो जायगी। विशाल-दृष्टि रखने पर ही सकीर्णता की दीवार टूटेगी। जब तक दीवार मौजूद है तब तक आगे की वस्तु दिखाई नही देगी, जब सकीर्णता की दीवार टूटेगी तभी दृष्टि विशाल होगी और तभी वह सबके लिए कल्याणकारी होगी।

हे महावीर! आपका धर्मतीर्थ सर्व कल्याणकारी है, सर्वोदयी है। इसमे सबका अभ्युदय निहित है। इसको स्पष्ट करते हुये पूज्यपाद आचार्य ने कहा—'**क्षेमं सर्वप्रजाना**', उन्होने किसी प्रान्त विशेप, देश विशेष या जाति

विशेष के क्षेम के लिये नही कहा, सर्वप्रजा के क्षेम के लिये कहा। विशाल विश्व की समस्त प्रजा सुखी रहे, यही उनकी भावना थी। उनकी दृष्टि विशाल है, यह नही है कि मैं सुखी रहू, चाहे कोई और सुखी रहे या नही। ऐसे मे कोई जीवित नही रह सकता, बगल की झोपडियो को आग लग गई हो तो आप अपनी बीच की झोपडी को कैसे बचा सकते है ? बगल की झोपडियो की आग बुझानी होगी तभी आपकी झोपडी बच पायेगी। पडौस के देशो मे अकाल पड रहा हो तो उसे दूर करने का प्रयत्न करना होगा। भगवान महावीर ने अपने केवलज्ञान की प्राप्ति व अनुभव से जगत् को विशाल दृष्टि दी, अपने चिन्तन को सीमित दायरे मे बाधकर नही रखा, उन्होने कहा—आप विशाल दृष्टि रखो। आकाश मे तैरो, कुये के मेढक जैसे सीमित दृष्टि मत रखो। विशाल ज्ञान-समुद्र मे तैरो। आपके ज्ञान से, तीन-लोक के सारे प्राणी शाति प्राप्त कर सकते है, शात रस मे नहा सकते हैं। अपनी आत्मा को परमात्मा बनाओ। उन महावीर के सर्वोदय तीर्थ मे सब भव्य प्राणी नहा सकते हैं व आत्मा से परमात्मा बन सकते हैं। भगवान के धर्मतीर्थ मे कोई भेदभाव नही है, गरीब अमीर, पशु-पक्षी सब धर्म का पालन कर सकते हैं। एक अकिंचन भी धर्म पालन कर सकता है तो एक मेढक भी धर्म-पालन कर सकता है और एक जरायु भी। उनका धर्मतीर्थ सर्वोदय के भाव को लिये हुये है। **जैसे सूर्य की किरण सबके लिये प्रकाशमय हैं वैसे ही महावीर के सिद्धान्त भी सबके उद्धार व अभ्युदय के लिये है। वस्तुत धर्म वही है जो सबके लिये कल्याण-कारी हो।**

भगवान महावीर के द्वारा प्रदत्त सिद्धान्तो का चिन्तन-मनन करने पर दृष्टि विशाल होती है, मन की सकीर्णता दूर हो जाती है, चिन्तन-मनन सब एक रूप हो जाते हैं। धर्म एक है, पर उसके एक-एक अग को पृथक् मान कर उसी को पूर्ण धर्म समझ बैठते है, यह एकान्त है। विश्व धर्म एक है, वह है 'अहिसाधर्म'। मैं अहिसा पर इसीलिये सर्वाधिक वल देता हूँ और इसी दृष्टि से विश्वधर्म की जय बोलता हूँ, विश्व के विभिन्न धर्मों की नही। साधनावस्था मे धर्म का एक अग रहता है, साध्यावस्था होने पर धर्म पूर्ण होता है।

प्रत्येक आत्मा स्वतन्त्र है अपने शुभाशुभ के लिये। एक बार गलत मार्ग पर चलने पर लौटना कठिन होता है। **धर्म ही तरण तारण है, इसके सिवा और कोई तरणतारण नहीं हो सकता। महावीर व राम भी धर्म के आधार से ही तिरे हैं,** धर्म पशु-पक्षी को भी तिराता है।

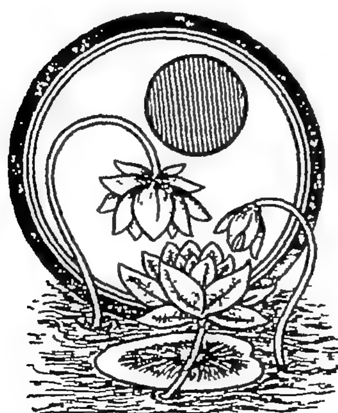
एक तालाव का काफी पानी सूख गया, थोडा मा पानी वीच मे वचा था। एक हाथी पानी पीने आया, वीच मे पानी देख वह वढ चला किन्तु वह वीच ही मे कीचड मे फस गया। हाथी चिल्लाने लगा। उसकी चिघाड मुनकर नदी के आस-पाम के विलो मे से कुछ चूहे निकल कर आये। उन्हे हाथी की दशा देखकर दया आ गई। हाथी को कीचड से निकालने के लिये वे सारे चूहो को वुला लाये, एक रम्मी हाथी के सू ड मे वाधकर वे हाथी को खीचने लगे, किंतु हाथी कीचड मे मे निकल नहीं मका। थोडी देर वाद एक कुत्ता आया। उसे भी हाथी पर दया आई वह भी वहुत सारे कुत्तो को वुला लाया। वे हाथी को निकालने की कोशिश करने लगे, पर हाथी उनसे भी न निकल मका। वे मव मनुष्य को वुला लाये। मनुष्य ने हाथी को रस्सी से वाध दूसरे हाथी के द्वारा खिचवाया, तव वह हाथी कीचड से निकल गया। अर्थात् फसे हुये हाथी को हाथी ही निकाल सकता है। उसी प्रकार **संसार-पक मे फंसी आत्मा को आत्मधर्म ही उवार सकता है, वस्तुत धर्म ही तरणतारण है।** आत्मा का, परमात्मा का ध्यान ही आत्मा को पार लगा सकता है। परमात्मा के वीतराग मार्ग, सर्वोदय वर्म को अपनाने से ही आत्मा परमात्मा हो सकता है, यह सर्वोदय धर्म प्रत्येक आत्मा मे है, अन्तर केवल इतना है कि किसी ने इसको विकसित कर लिया है, जगा लिया है, किसी ने नहीं। प्रत्येक आत्मा मे अग्नि मौजूद है। आवश्यकता है एक चिनगारी की, तीली की, जो उसे प्रकाशित करदे। शक्ति सुप्त है, उसको जगाने के लिए पुरुपार्थ की आवश्यकता है। आत्मा के, परमात्मा के ध्यान से (ध्यानाग्नि से) यह आत्मा शुद्ध हो सकती है। मम्यग्ज्ञान से यह आत्मा पवित्र होगी। हमारे अनेक ऋपि, मुनि, तपस्वियो ने, ज्ञानियो ने, सम्यग्ज्ञान रूपी जल दिया है जिससे हम अपनी आत्मा को प्रक्षालित कर पवित्र वना सकते हैं। कृप्ण ने भी कहा है कि—दुनिया मे कोई चीज पवित्र है तो केवल ज्ञान है—नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते। समस्त मसार को पहचानने की शक्ति ज्ञान मे है।

सर्वोदय की भावना सव पदार्थों मे है, शिक्षा लेने वाले पर निर्भर करता है कि वह किससे शिक्षा लेता है। एकेन्द्रिय वृक्ष छाया, फल, पत्ते, लकडी आदि प्रदान करता है। जव एकेन्द्रिय वृक्ष इतना उपकारी है तो क्या पचेन्द्रिय मानव इमसे भी गया वीता है? किसी का उपकार-भलाई न करने पर, सिर्फ अपने लिये ही जीने पर, जीवन को व्यर्थ गंवाने पर हमारी अनपढ ग्रामीण महिलायें भी कह उठती हैं कि ऐमे व्यर्थ की जिन्दगी से तो तू पत्थर ही हो जाता तो ठीक रहता, जिससे चक्की वनकर आटा पीसने के, दूसरे के

कुछ काम तो आता । एक व्यक्ति परार्थ मे, सेवा कार्यो मे ही जीवन व्यतीत करता है तो एक व्यक्ति केवल स्वार्थ मे, अपने ही कार्यो मे जीवन व्यतीत कर देता है । एक पत्थर आराध्य की मूर्ति वनकर, साकार से निराकार की ओर जाने का साधन वन जाता है और एक पत्थर किसी का सिर फोडने का साधन वन जाता है । दोनो मे श्रेष्ठ कौनसा है ? आप ही निर्णय करें । एक कारीगर पत्थर को भगवान बना देता है, पर क्या स्वय नही वन सकता ? एक प्रतिष्ठाचार्य मूर्ति मे मत्र फूकक्र उसे प्रतिष्ठित कर देते हैं, पर वे स्वय की आत्मा मे मन्त्र नही फूक सके इसलिये स्वय प्रतिष्ठित न हो सके, स्वय प्रकाशमान नही हो सके । **सर्वोदयतीर्थ कहता है कि आप स्वय अपनी आत्मा को भगवान बनाओ** । इसलिये भगवान महावीर के सिद्धात मे कहा कि—

सपूजको को प्रतिपालको को
यतीन को यतिनायको को
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले
कीजे सुखी हे जिन शाति को दे ।
होवे सारी प्रजा को सुख,
वलयुत हो धर्म धारी नरेशा ।।

अर्थात् सबका कल्याण हो, शाति प्राप्त हो । सवके कल्याण की भावना करो । इन्ही भावनाओ के साथ स्वय प्रकाशवान वनकर दूसरो को प्रकाश दिखाओ । स्वय ही ससार मे फसे रहोगे तो दूसरे को क्या मार्ग दिखाओगे ? दृष्टि को विशाल वनाकर प्राणीमात्र के कल्याण की वात करो । सम्यग्दृष्टि सकीर्णता मे नही डूवता ।



दान धर्म का सलाहकार है

आहार-दान की भाति ही औषधदान हेतु कुछ लोग शिविर लगाने, चिकित्सा प्रशिक्षण देने व तन-मन-धन से गरीब रोगियो का उपचार करने के लिये तत्पर हो जाये, तो देश की समस्या हल हो जाये। सरकार अकेली कुछ नही कर सकती—उसे जनता का सहयोग चाहिये। दान धर्म का सलाहकार है।

हमारे शास्त्रो मे चार प्रकार के दान का उल्लेख है—ज्ञानदान, औषधदान, आहारदान व अभयदान। ज्ञानदान का प्रभाव, महत्त्व, भव-भवान्तर तक चलता है। एक भव से दूसरे भव तक चलता रहता है। देशना-लब्धि तब तक चलती रहती है जब तक आत्मानुभव न हो जाये। चारो दान उत्तम हैं, पर ज्ञानदान का सर्वाधिक महत्त्व है। माघनदि आचार्य ने शास्त्रसार समुच्चय मे बताया है कि—

आलस्यो मंदबुद्धिश्च, सुखिनो व्याधि-पीड़ित।

—अर्थात् ज्ञान प्राप्ति मे आलस्य, मदबुद्धि, सुख-सुविधाओ की अधिकता, आधि, व्याधि, रोग-पीडा आदि बाधक है। जो आलसी होगा, वह कभी ज्ञान नही प्राप्त कर सकता। मदबुद्धि होगा तो वह भी ज्ञान-ग्रहण नही कर सकेगा। सुविधाओ की बहुलता होगी तो भी वह ज्ञान ग्रहण नही कर सकेगा। स्वास्थ्य ठीक न हो, तो धर्म पालन कैसे होगा? 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधन' यह हमारी भारतीय मान्यता है। इस लोक मे, जन्म मे अच्छे परिणाम नही तो आगे शुद्ध सुख कैसे प्राप्त हो सकता है? भारतीय धर्म व सस्कृति मे इन चारो दान का अत्यन्त महत्त्व है। **दान धर्म के सलाहकार हैं।** धर्म की प्राप्ति के साधन हैं। इनके बिना धर्म की बात, व्यावहारिकत थोथी है। जब तक व्यवहार मे हैं, मुक्त नही होते, तब तक चारो दान का अत्यन्त महत्त्व है।

व्यवहार मे धर्मशाला, मदिर आदि बनवाना वस्तिका दान है। इसका भी वहुत महत्त्व है।

एक शहर मे एक मुनिराज का चातुर्मास हुआ। उस शहर मे एक अत्यन्त कजूस सेठ रहते थे, वे कभी भी किसी को दान नही देते थे। उनकी पत्नी अत्यन्त धर्मात्मा एव दयालु थी। उसकी मुनिराज को आहार देने की वहुत इच्छा थी, परन्तु सेठजी नही देने देते थे। एक दिन सेठजी प्रात काल ही किसी कार्यवश दूसरे शहर जाने के लिये घर से रवाना हो गये। सेठानी ने सोचा कि यह अवसर अच्छा है। उसने कजूस सेठजी की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर अपने घर मुनिराज के लिये चोका बनवाया और मुनिराज को आहार करवाया। सेठजी के कार्य मे कुछ व्यवधान हो जाने से वे दूसरे शहर नही गये और घर लौट आये। घर पर उन्होने जो कुछ देखा उससे ज्ञात हुआ कि मुनिराज को आहार कराया गया है। उन्होने पहले तो सेठानी से झगडा किया, फिर पूछा कि इसमे कुल कितना खर्च बैठा तो सेठानी ने बताया कि कुल दस रुपये। सेठ ने कहा—अच्छा ठीक है। मैं यह रुपये मुनिराज से वसूल करूगा। यह कहकर वह मुनिराज के पास गया। पर मुनिराज मदिर मे नही थे, वे तो जगल मे तपस्या के लिये चले गये थे। सेठ उन्हे तलाशता रहा। मुनिराज जिस जगल मे गये उसमे वहुत हिंस्र-पशु थे। वहा एक भील-युगल रहता था, उन्होने मुनिराज को आगे जगल मे जाने से रोका कि—हे साधुराज! रात होने वाली है, आप आगे मत जाइये। आज की रात हमारे मकान (जो दो मजिला था) मे ही व्यतीत कीजिये, प्रात ही पधारिये। मुनिराज ने उनका आग्रह स्वीकार कर लिया और दूसरी मजिल पर चले गये। बाहर गैलेरी मे वह भील युगल लकडी लेकर रात पर पहरा देने के लिये खडे हो गये, जिससे जगली पशु मकान मे न घुस पावें। आधी रात मे भील-पुरुष को नीद का झोका आ गया और वह दूसरी मजिल से नीचे आ गिरा। नीचे हिंस्र-पशु खडे थे, वे उसे ले भागे और मार डाला। भीलनी बहुत दु खी हुई, किन्तु फिर भी चुपचाप खडी रहकर मुनिराज की सुरक्षा करती रही। प्रात मुनिराज जगल की ओर विहार करने लगे तब भीलनी को आशीर्वाद प्रदान किया। आशीर्वाद मे भी बहुत शक्ति होती है। मा के द्वारा खिलाई जाने वाली सूखी रोटी भी अमृत के समान प्रतीत होती है, क्योकि वह वात्सल्य-भावना से ओत-प्रोत होकर खिलाती है। होटल मे बहुत अच्छा खाना भी खाते हैं तो भी वह आनन्द प्राप्त नही हो सकता। मुनिराज ने कहा कि—वह भील युवक दान की पवित्र भावना के साथ मरा है, उसे सद्गति प्राप्त

हो, यही हमारा आशीर्वाद है। मुनि जगल की ओर चल दिये। कुछ समय वाद वे दूसरे शहर की ओर गये। सेठजी उनकी ताक मे बैठे ही थे, वे वहा पहुच गये। उन्होने मुनिराज को प्रणाम किया और कहा—मुनिराज! आपने उस शहर मे चातुर्मास किया था? मुनिराज ने कहा—हा, किया था। सेठजी ने कहा—उस समय आपने मेरे घर पर मेरी अनुपस्थिति मे आहार किया था, मेरे दस रुपये खर्च हो गये थे। आप मेरे दस रुपये लौटाइये। मुनिराज परिग्रह-त्यागी, कहाँ से रुपये दे? सेठ ने कहा—आपके वहुत भक्त हैं, किसी से मागकर देदे। मुनिराज हैरान! वे किमसे रुपये मागे? सेठजी भी अपनी जिद पर अडे रहे। मुनिराज! अमुक शहर के राजा-रानी आपके परम भक्त हैं, आप उनके नाम हुण्डी लिख दीजिये, वे मुझे दस रुपये दे देंगे। मुनिराज वहुत असमजस मे पड गये, वे हुण्डी क्या जानें? परेशान हो, उन्होने एक पत्र पर णमोकार मत्र लिखकर दे दिया और कहा—जाओ अमुक राजा-रानी को दे दो। सेठजी उस शहर मे पहुचे। द्वारपालो से कहा—मुनिराज ने यह पत्र लेकर राजा की सेवा मे भेजा है। द्वारपाल ने उन्हे अन्दर भेज दिया। सेठजी ने कहा—यह आप लोगो के लिये मुनिराज ने भेजा है, राजा ने पत्र पढा। उस समय रानी प्रसव-वेदना से पीडित थी। राजा ने उन्हे यह पत्र दिया, कहा— मुनिराज ज्ञानी है, उन्होने तुम्हारे कष्ट निवारण हेतु यह मत्र भेजा है, इसे पढो। रानी ने वह मत्र पढा और तत्काल एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। राजा ने पुत्र प्राप्ति व मुनिराज का पत्र लाने की प्रसन्नता मे पत्रवाहक सेठजी को खूव धनधान्य भेंट किया। उसी समय वह नवजात वालक वोल उठा कि "अरे सेठ! मैंने केवल एक रात भील रूप में मुनिराज को वस्तिका-दान दिया था। उसी रात मेरी मृत्यु हो गई। उस वस्तिका दान के फलस्वरूप मैं आज इतने उच्च कुल मे, धर्मप्राण कुल मे जन्मा हू। आहारदान की तो तुलना ही नही है। एक ग्रास आहार (मुनि को) दान करने का पुण्य फल सुमेरु-पर्वत जितना प्राप्त होता है। तू उस आहार-दान का पैसा वसूल करना चाहता है। धिक्कार है तुझे।" यह सुन कर सेठ लज्जित हो गया, उसे दान का महत्त्व समझ मे आने लगा और वह राजा से प्राप्त धनधान्य को स्वीकार करने से इन्कार करने लगा।

आहार-दान की भाति औषध-दान भी वहुत उत्तम है। शुद्ध-औषधि का मिलना, वह भी त्यागी-व्रतियो के लिये, अत्यन्त कठिन है। पर आपके जयपुर शहर मे श्री सुशीलजी ने 'वैयावृत्त्य–भवन' की स्थापना कर त्यागी-व्रतियो के लिये शुद्ध औषधि की व्यवस्था की है, वह निश्चय ही सराहनीय

है। यदि कुछ और लोग शिविर लगाने, चिकित्सा प्रशिक्षण देने व तन-मन-धन से गरीव रोगियो का उपचार करने मे सुशीलजी की भाति तत्पर हो जायें तो देश की समस्या हल हो जाये, ऐसी चीजो को प्रोत्साहन देना चाहिये। वास्तव मे केवल सरकार ही सब कुछ नही कर सकती। उसे जनता का सहयोग चाहिये। जनता स्वय अपने भाईयो के लिये, उनकी सेवा हेतु आयुर्वेदिक चिकित्सालय खोले तो वहुत लाभप्रद होगा। आदर्श नगर मे भी भाईयो ने 'महावीर कल्याण केन्द्र' खोला है, नि सन्देह वह भी प्रशसनीय है। औपधदान भी धर्म-ज्ञान ग्रहण, पालन करने मे अत्यन्त सहायक है।

एकमात्र चीन देश मे शत-प्रतिशत गाँवो मे चिकित्सा सेवा विद्यमान है। अमेरिका जैसे विकसित देश मे भी अस्सी प्रतिशत गावो मे ही यह सुविधा उपलब्ध है, वीस प्रतिशत मे अभी भी उपलब्ध नही है। हमारे यहा एक डाक्टर पर तीन-चार लाख के लगभग रुपया खर्च हो जाता है, पढने व अनुभवी होने तक दस वारह वर्ष का समय लग जाता है, तव वह एक कुशल डाक्टर बनता है। इतना खर्च (इसमे अधिकतम सरकार का होता है) होने पर वह अपने आप को चन्द्रलोक पर पहुचा हुआ समझने लगता है, उसके अपने खर्चे वढ जाते हैं, रहने का स्तर वढ जाता है, हर कार्य मे परान्मुखी होता है, मसलन् दवा कम्पाउण्डर देगा, इन्जैक्शन नर्स लगायेगी, दवा की पुडिया नौकर बाधेगा, वह स्वय कुछ नही करेगा और फिर दहेज मे हजारो-लाखो की माग करेगा। ऐसा चिकित्सक कैसे गावो मे जाकर सेवा कर सकता है? गाव का जीवन कैसे व्यतीत कर सकता है? वह वडे शहरो मे ही रहना चाहेगा और रहता भी है, इसलिये हमारी ग्रामीण जनता, गरीब भाई-वहिन चिकित्सा के अभाव मे ही दम तोड देते हैं। परन्तु चीन मे ऐसा नही है। वहा की व्यवस्था अच्छी है, वहा के व्यवस्थापक वुद्धिमान हैं।

चीन मे दसवी कक्षा तक पढने के पश्चात् नौ महीने का एक प्रशिक्षण (ट्रेनिग) दिया जाता है, जिसमे कुछ सामान्य रोग जैसे खासी, जुकाम, बुखार आदि के वारे मे समझाया जाता है, लगभग वीस औषधियो का ज्ञान कराया जाता है, जिससे वह प्रारभिक चिकित्सा कर सके। तत्पश्चात् उसे गावो मे भेज दिया जाता है। वहा वह अत्यन्त सादगी के साथ रहता है। जहा रहता है वही एक आलमारी मे औषधिया रखी रहती है, रोगी चाहे रात मे आवे या दिन मे, हर समय वह तत्पर रहता है। स्वय ही पुडिया वाधकर देता है। अपना सव कार्य भी स्वय करता है। रोगियो से औपधि के पैसे नही लेता,

सरकार ही जीवन-यापन के लिये पर्याप्त तनख्वाह देती है, औषधिया देती है, उसमे वह पूर्ण ईमानदारी वरतता है। इस प्रकार छोटे-छोटे गावो मे इस प्रकार के चिकित्सक रहते हैं, वडे रोगो के लिये शहरो मे वडे चिकित्सक रहते हैं, उनको वह वहा पहुचा देता है।

जव तक हमारे इस गरीव देश मे भी चिकित्सा नीति मे परिवर्तन नही होगा तव तक गावो की गरीव व अशिक्षित जनता को चिकित्सा सुविधा सुलभ नही हो सकती। वड़े-वडे डाक्टरो की आवश्यकता है, पर वे वडे शहरो मे, वडे चिकित्सालयो के लिये ठीक है। गावो के लिये ऐसे वडे-वडे दिग्गज डाक्टर उपयोगी नही, क्योकि वे छोटे गावो मे जाते ही नही। वस्तुत उनमे सेवा की भावना नही होती। उनका ध्येय तो धन व यश कमाना होता है।

जनता को स्वय इस प्रकार के औषधालय खोलकर सरकार के कार्य मे मदद करनी चाहिये। जिनसेनाचार्य ने महापुराण के सोलहवें अध्याय में जैनो के लिये सविधान प्रस्तुत किया है—उसमे पच्चीस प्रतिशत आपको धार्मिक कार्यों हेतु दान देने के लिये लिखा है, छ प्रतिशत सरकार को कर रूप मे देने के लिये लिखा है, (आजकल तो यह कर अत्यन्त वढ गया है, वह भी उचित नही है) शेष वचा उनहत्तर प्रतिशत (६९), उसमें से पचास प्रतिशत व्यापार में लगाइये, तथा शेष उन्नीस प्रतिशत में से कुछ अन्य आवश्यकताओ के लिये खर्च कीजिये व कुछ वचाइये। इसको उन्होंने **वर्णलाभ क्रिया** का नाम दिया। इस प्रकार अकलक सहिता, जिनसेन सहिता, अरहनन्दि सहिता आदि कुल दस सविधान (जैनो के लिये) वने हुये हैं, जिनमे सवमे दान को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है।

जैसे यहाँ वैयावृत्य व आरोग्य का कार्य प्रारभ किया गया है, प्रोत्साहन देकर वैसे और भी औषधालय प्रारभ करवाने चाहिये। अपने भाईयो की सेवा के लिये आपको स्वय ही तन-मन-धन से तत्पर होना चाहिये, तभी समस्याये हल होगी। केवल सरकार की ओर ताकने से कार्य नही होगा। जनतत्र का तात्पर्य है—जनता का, जनता के द्वारा, जनता के लिये, सरकार तो केवल रखवाली करने के लिये है। सव लोग एक दूसरे के प्रति प्रेम व सेवा भाव रखें, तभी जनतत्र सफल हो सकेगा। अपनी पर्वतिथियो मे जैसे—महावीर जयन्ती, निर्वाण-दिवस, रामनवमी, अन्य पुण्य दिवसो पर रोगियो, कुष्ठियो व कारागृहियो को आहार-दान दीजिये, मिष्ठान्न वाटिये, कारागृहियो

को लड्डू बांटिये और थैलियो पर कोई नीति वाक्य लिखवाइये। जिससे जीवन में वे उन दिनो की महिमा समझे, उन महापुरुषो का नाम लें, जिनके जन्म आदि दिवसो के उपलक्ष्य में उन्हे यह प्राप्त हुआ। थैली पर लिखे नीति-वाक्य की भी उपयोगिता है। कभी कभी एक वाक्य ही जीवन परिवर्तित कर देता है। नि सन्देह औषध व आहार दान, अत्यन्त उपकारक हैं, स्व के लिये भी व पर के लिये भी।



उत्तम उपकार—

"अथ मिथ्यादृष्टि जीवनि कौं मोक्षमार्ग का उपदेश देय, तिनका उपकार करना, यहु ही उत्तम उपकार है। तीर्थंकर गणधरादिक भी ऐसा ही उपकार करैं हैं। तातैं इस शास्त्रविषैं भी उनही का उपदेश के अनुसारि उपदेश दीजिये है।"

• मोक्षमार्ग प्रकाशक ८/३६३

सुसंस्कार, सादगी और संयमाचरण

आत्मा पर सुसस्कार के लिये, उसे पूज्य व मूल्यवान बनाने के लिये ही मन्दिर आदि बने है। वहाँ वीतराग को इसी भावना से नमस्कार करते है कि उनके से गुण हमारी आत्मा मे भी प्रकट हो। आत्मा के सस्कार ही मानव के लिये उपादेय है। सुख चाहते हो तो धन-सम्पत्ति से पूर्व अपनी आत्मा की रक्षा करो।

मन्दिर निर्माण कराया जाता है धर्मध्यान के लिये। वहा सादगी न होकर यदि आडम्बर और वैभव है, तो उसके कारण वह आर्तरौद्र का कारण बन जाता है। मन्दिर, शास्त्र ये सब साधन है। पर आत्मा की ओर ध्यान न देकर प्रदक्षिणा मे ही समय लगादे, तो जहा है वही रह जायेंगे। मन्दिर जाने का अर्थ है—कुसस्कारो को छोडना। वैभाविक सस्कार स्थायी नही होते।

मानव जीवन मे सस्कारो का बहुत महत्त्व है। सस्कारित वस्तु ही मूल्यवान होती है। सोने के एक टुकडे पर जब सुनार सस्कार करता है, तो उसकी कीमत उस सोने के टुकडे से बढ जाती है। मानव-जीवन मे बचपन से ही सुसस्कार डालने चाहिये। पशु-पक्षियो मे भी जब सस्कार डालते हैं तो वे सरकस मे अनेक करतब दिखाते है, आज्ञा प्राप्त होते ही तुरन्त उसका पालन करते हैं। बालक को जैसे-जैसे सुसस्कार व शिक्षा दी जाती है वह गहरा गम्भीर होता जाता है।

एक राजा था। उसके राज्य मे एक शिकारी को जगल मे अत्यन्त सुन्दर, समान-वय के दो तोते के बच्चे मिले। शिकारी ने उन्हे बेचना चाहा।

वह राजमहल में आया। तोते बहुत सुन्दर थे, राजा ने उन्हें खरीद लिया। दोनो के लिये दो सोने के पिंजरे बनवाये गये। एक पिंजरे को अपने अन्त पुर मे टाँक दिया, और एक पिंजरे को अपने अस्तबल मे। अस्तबल मे घोडे की मालिश करने वाला घोडे को अनेक गालिया देता था। तू गधा है, चल पीछे हट, इत्यादि। अन्त.पुर मे सब बहुत आदर सत्कार व तमीज के साथ बाते करते थे, आने वाले का स्वागत करते थे—आइये, पधारिये, आपका स्वागत है, आदि। दोनो तोते जैसी बाते सुनते थे, वैसी ही सीख गये। एक दिन राजा उन तोतो का निरीक्षण करने गये। अस्तबल के तोते ने राजा के आते ही कहा—तू गधा है, चल पीछे हट! राजा को बुरा लगा। इतनी सुविधाये, उत्तम खान-पान उपलब्ध कराने पर भी यह मुझे गधा कहता है। फिर वह अन्तःपुर वाले तोते के पास गये। उसने राजा को देखते ही कहा—आइये! पधारिये। आपका स्वागत है। राजा खुश हो गया। वह समझ गया कि यह सगति व सस्कार का अन्तर है। तभी तो एक कवि ने कहा है—

एक ही माता, एक ही पिता, एक ही तरुवर बसे।
अरे, अरे राजा, सगत इसकी डसे।

एक ही पेड पर, एक ही मा से उत्पन्न होने के बाद अलग-अलग सस्कार डाले गये, इसी के परिणामस्वरूप एक पर सुसस्कार हो गये और दूसरे पर कुसस्कार।

लोहे पर सस्कार करते हैं उसका ताला-चाबी बनाते हैं, तो उसकी कीमत बढ जाती है। इससे भी अच्छी वस्तुयें बनाते है तो कीमत और भी बढ जाती है। जैसे-जैसे अच्छे सस्कार करते जाते है वस्तु की कीमत बढती जाती है, वह मूल्यवान होती जाती है। इसी प्रकार आत्मा पर सुसस्कार करने से वह मूल्यवान हो जाती है, पूज्य हो जाती है। आत्मा पर सुसस्कार करने के लिये ही मन्दिर आदि बने हैं। घर मे बैठकर इतने अच्छे परिणाम व सस्कार नही हो सकते। घर मे बैठकर तो घर गृहस्थी की बाते ही ध्यान मे आती रहेगी, बच्चा रोयेगा तो ध्यान विचलित हो जायेगा। वहा 'आत्मलीन' नही हो सकते। मन्दिर मे वीतराग भगवान् के सामने भगवान के गुण, उनकी महिमा आदि अच्छी बाते स्वयमेव हमारी आखो के सामने, मस्तिष्क मे घूमने लगती हैं। मन्दिर एक पवित्र स्थान है। वहा नित्य दस-पाच मिनट बैठकर भगवान का ध्यान करते है, मन को स्वच्छ व निर्मल बनाते है, उनके गुणो को अपनी आत्मा के साथ जोडते है, तो मन मे पवित्रता

आने लगती है। 'वन्दे तद्गुण लब्धये'—हम उन्हे नमस्कार भी इसी भावना से करते है कि उनके से गुण हमारी आत्मा मे भी प्रकट हो।

लौकिक जगत् मे कौन पिता ऐसा है जो अपने बालक को शूरवीर न देखना चाहता हो। कौन मा होगी जो बालक को सुसम्कारित नही देखना चाहेगी ? प्रत्येक माता अपने बच्चो को 'आदर्श' देखना चाहती है, पर बच्चो को सुसस्कारित करने के लिए उसके पास समय नही होता। प्रत्येक महापुरुष पर माता पिता के द्वारा डाले गये सस्कार ही प्रतिफलित हुये हैं। महात्मा गाधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर पर माता-पिता के सुसस्कार ही तो थे, वे कोई मोटेसरी स्कूलो मे नही गये थे। आजकल मोटेसरी स्कूलो मे छोटे-छोटे बच्चो को, मातायें अपने कर्त्तव्यो व झझटो से बचने के लिये भेज देती है। वहा उन पर इतना ध्यान नही दिया जा सकता जितना मा दे सकती है। जो सस्कार मा डाल सकती है, वे कोई दूसरा नही डाल सकता। यदि मा स्वय सुशिक्षित होगी, सुसस्कृत होगी व पवित्र आचार-विचार वाली होगी तो वह बच्चो मे शाश्वत सस्कार डालेगी। कच्चे घडे को कुम्हार जैसा आकार देना चाहता है, दे सकता है, पर जब घडे का अग्नि के साथ सयोग हो जाता है, उसके बाद उसमे कोई परिवर्तन नही हो सकता, फिर वह टूट सकता है पर परिवर्तन नही हो सकता, क्योकि वह कठोर हो जाता है। बच्चा भी कच्चे घडे के समान कोमल होता है उसमे सस्कार डालना माता का कार्य है।

सादगी अपनाइए :

अपने अच्छे सस्कारो के परिणाम से ही आप यहा सेठी कॉलोनी मे रहने वालो ने मन्दिर का निर्माण करवाया। मन्दिर बनवाना इतना कठिन नही जितना उसका प्रबन्ध व व्यवस्था को बनाये रखना है। प्रबन्ध के लिये कीमती सामान की आवश्यकता नही है। मन्दिरो मे सादगी होनी चाहिये। मन्दिरो मे विलासिता की वस्तुओ की आवश्यकता नही है। तीर्थंकरो ने कपडे, छत्र-चवर, वैभवादि छोड दिये, फिर उनके लिये अत्यन्त मूल्यवान सोने-चादी के चवर-छत्रो की क्या आवश्यकता है ? वहा सादगी होनी चाहिये। शास्त्र-वेष्टन (शास्त्र बाधने के कपडे) भी सादा, खादी के बने होने चाहिये। मन्दिरो मे जितना आडम्बर किया जाता है, वे ही सब चोरी के कारण हैं। आजकल आये दिन मन्दिरो मे चोरियां होती हैं, वे सब इन वैभवादि की वस्तुओ व आडम्बर के कारण ही होती हैं। मन्दिर निर्माण कराया जाता है, धर्म-ध्यान करने के लिये। किन्तु छत्र-चँवर व अन्य आडम्बर

व वैभव होने के कारण वह आर्त्त-रौद्र ध्यान का कारण बन जाता है। रात मे कोई चोर तो नही आ जायेगा, चौकीदार अपना कर्त्तव्य पूरा करता है या नही ? आदि विचार चलते रहते हैं और इस प्रकार धर्मध्यान के स्थान पर आर्त्तरौद्र ध्यान प्रारम्भ हो जाता है। प्राचीन मन्दिर बहुत सादगी लिये हुये होते थे। दक्षिण के मन्दिरो मे छत्र-चँवर चादी के, सोने के नही हैं, वे पाषाण मे ही उत्कीर्ण हैं। अष्टमगल भी पाषाण में ही वेदी के नीचे उत्कीर्ण हैं। चादी-सोने की वस्तुये मन्दिर मे रखकर आप स्वय ही तो चोर के लिये रास्ता बनाते है।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि आप यह (सेठी कालोनी मे) मन्दिर निर्माण करा रहे हैं तो प्रथम निर्णय यही लें कि मन्दिर मे कोई वैभव, कीमती सामान नही रखेंगे। मन्दिर को अत्यन्त सादगीयुक्त रखेंगे। पूजादि के बर्तन चादी-सोने के नही रखेंगे। मन्दिरो मे चादी-सोने की आवश्यकता क्या है ? किसी स्थान पर लोगो के पास धन बहुत अधिक हो गया, कोई दान लेने वाला नही बचा। तब उन लोगो ने मन्दिर मे सोना-चादी देना प्रारम्भ कर दिया। जिनने सब परिग्रह छोड दिया, उन्ही के मन्दिरो मे परिग्रह लगा दिया। मन्दिरो की व्यवस्था-निर्माणादि के लिये रुपया तो लगाइये, पर सोना-चादी एकत्रित मत कीजिये।

मन्दिर पूजा प्रक्षाल करने के लिये है, पर वहा भी होड हो गई, प्रतिस्पर्धा हो गई कि अमुक मन्दिरो मे चादी के बर्तनो द्वारा पूजा-प्रक्षाल होती है तो हम भी चादी के बर्तनो द्वारा करेंगे अथवा सोने के बर्तनो द्वारा करेंगे। मन्दिरो मे ये वैभवादि का सग्रह व प्रदर्शन करना बुद्धिमानी नही है। भगवान् महावीर ने परिग्रह छोडने को कहा है। मरने के बाद इनमे से कोई चीज साथ जाने वाली नही है। रत्नाकर कवि ने एक कविता मे यह भाव प्रस्तुत किये हैं कि जब तक हेय व उपादेय को नही जानेंगे तब तक यह मन्दिर जाना, पूजा-पाठ करना सब व्यर्थ है। पुष्पमाला, रत्न, मोती, माणक, आभूषण ये सब शरीर के लिये, हाडमास की खूबसूरती के लिये हैं, आत्मा के लिये नही है। आत्मा की खूबसूरती के लिये तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र ये त्रिरत्न हैं। इनको एक बार भी आत्मा मे धारण कर लेते तो पुन ससार मे न आना पडता। शरीर को तो अनन्तभव तक आभूषण पहनाये, उसका शृ गार किया, पर ये सब आत्मा के लिये निष्प्रयोजन हैं, आत्मा के लिये इनका कोई लाभ नही है, उपयोग नही है। वादिवृषभाचार्य ने लिखा है कि—ये आभूषण आर्त्त रौद्र ध्यान के हेतु हैं। पहले आभूषण बनाने की चिन्ता, सोच-विचार

रहता है, जव आभूषण वनवा लेते हैं तव उन्हे सम्भालने की चिन्ता व सोच-फिक्र हो जाता है। मरने के क्षण तक आर्त्त रौद्र ध्यान वढाते रहते है। महावीर ने इसीलिये समस्त वैभव को त्याग दिया।

कुछ वर्षों पूर्व तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री पाठक ने महावीर जयन्ती के अवसर पर कहा था कि--महावीर भगवान् ने स्वेच्छा से धन-सम्पत्ति व राज्य को त्याग दिया, पर आज के राजा नही छोड रहे, इसलिये हमे जवर्दस्ती (उनके प्रिवीपर्स आदि) छुडाने पड रहे हैं। महावीर मे और हम मे यही फर्क है।

मनुष्य धन-सम्पत्ति को कोई सकट या आपत्ति आने पर ही छोडता हैं अन्यथा नही। धन-सम्पत्ति के पीछे मानव धर्म को भूल जाता है। महावीर ने अपरिग्रहवाद को इसीलिये महत्त्व दिया था कि परिग्रह से मानव धर्म को भूल जाता है। मनु ने मनुस्मृति मे कहा है कि यदि सुख चाहते हो तो धन-सम्पत्ति से पूर्व अपनी आत्मा की रक्षा करो। यही तो महावीर ने कहा था। उनके सिद्धान्तो की आधारशिला है—'आत्मरक्षा की भावना'। आत्मा की रक्षा नही करोगे तो किसकी करोगे ? कौनसी चीज शाश्वत है, जिसकी रक्षा की जा सकती है ? शरीर अशाश्वत है, इसकी रक्षा करने पर भी यह छूट जायेगा। इससे काम करते हैं इसलिये इसके लिये भोजनादि जुटाना है पर इसी मे रमकर क्या आत्मा को भूल जाये ? जो अशाश्वत है उसके पीछे रात दिन लगे हैं, जिससे मृत्यु के वाद सम्वन्ध छूट जायेगा, जो केवल सयोग है उसके पीछे लग रहे हैं, अध्रुव के पीछे लग रहे हैं और ध्रुव को छोड रखा है, शाश्वत को भूल रहे है।

इसलिये वच्चो मे प्रारम्भ से ही सुसस्कार डालिये, उन्हे प्रात काल अपने साथ मन्दिर लेकर जाइये, उन्हे णमोकार मत्र सिखाइये, महावीर का जीवन चरित्र वताइये, उनके प्रमुख व प्रेरणादायक जीवन-प्रसग समझाइये। वच्चे के जन्मते ही कीमती कपडे पहनाते हैं, उसका शृगार करते हैं, पैन्ट पहनाते हैं, वह नही चाहता तो भी जवर्दस्ती पहनाते हैं, पर आत्मा परमात्मा की वात करने मे थोडी सी भी जवर्दस्ती नही अपनाते। शृगार सिखाने के लिये तो माताओ के पास समय रहता है, पर सुसस्कार डालने के लिये उनके पास समय नही होता। वास्तव मे हम चमडे का शृगार करते रहने से चमार हो गये है। जैन नही रहे। जैन तो तव होगे, जव वच्चे-वच्चे मे

आत्मा के प्रति रुचि, धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करेंगे, उनमे सुसस्कार डालेंगे। आचार्य कुन्दकुन्द की माता पालने से ही उनमे सुसस्कार भरती रही।

आप णमोकार मत्र वोलते हैं, आपका टेपरिकार्डर उसे पकड लेता है और वार-वार उसे सुनाता है। यदि वच्चे को भी णमोकार मत्र सिखाया जाये तो वह भी तुरन्त उसे पकड लेगा, सीख लेगा, क्योकि उस समय उसकी ग्राह्य शक्ति व स्मरण शक्ति वहुत अच्छी होती है। वह वार-वार आपको णमोकार मत्र सुनायेगा, हजारो लोगो को सुनायेगा। यदि शृगारिक बातें उसे सिखाते हैं तो वह वैसी ही बातें सुनायेगा। अचेतन टेपरिकार्डर भी णमोकार मत्र पकड लेता है तो वालक तो चेतन है, उसे णमोकार मत्र सुनाये तो वह क्यो नही याद कर सकता? उस पर क्यो नही अच्छे सस्कार पड सकते?

ब्रिटेन मे दो-तीन साल से यह चर्चा व प्रयोग चल रहे हैं कि कुये के पानी को मत्रोच्चार कर उसे रोगी को पिला देने से उसका रोग दूर हो सकता है। अर्थात् जल मत्रो को पकड लेता है। हम जब अभिषेक करते हैं तव णमोकारादि मत्रोच्चारित करते हैं, उसके गधोदक को सिर पर लेते हैं, वह इसलिये कि जल ने उन मत्रो को पकड लिया, इससे वह अत्यन्त पवित्र हो गया है। आधुनिक मानव मनोवैज्ञानिक तरीको से प्रभावित होता है और तव उसके भाव वदलते है। सिद्धचक्र का पाठ पढते हैं। उसमे पढते है कि मैनासुन्दरी ने गधोदक के प्रभाव से अपने पति व उनके साथियो को कुष्ठ रोग से मुक्त कराया, इनसे भी विश्वास जमता है।

रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है कि इस शरीर के लिये जीवनभर, जितना भी किया वह सव हेय है, ये सव तो पशु-पक्षी भी करते हैं। विना किसी स्कूली शिक्षा के वे खाना-पीना करते रहते हैं। मानव वुद्धिमान है, उसे अपने लिये हेय–उपादेय को जानना चाहिये। आत्मा के सस्कार ही मानव के लिये उपादेय है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र, ये त्रिरत्न आत्मा मे मौजूद हैं, ये वाहर से नही लाने पडते। परन्तु धार्मिक सस्कारो के द्वारा, तत्त्व-ज्ञान को समझने पर जव अपनी आत्मा पर परिपूर्ण विश्वास करें, स्वय का स्वय मे ही विश्वास प्राप्त करें, तभी सम्यग्दर्शन प्रकट होगा। मन्दिर-शास्त्र ये सव साधन हैं।

मील का पत्थर दूरी ज्ञात करने का साधन है, यदि हम दो घण्टे तक उस पत्थर के चक्कर लगाते रहेंगे तो जहा थे वही रह जायेंगे, किंचित मात्र भी दूरी तय नही कर सकेंगे, रास्ता पार नही कर सकेंगे। इसी प्रकार केवल मदिर की प्रदक्षिणा मे ही समय लगादे, आत्मा की ओर ध्यान न दें, तो जहा है वही रह जायेंगे, कुछ भी कल्याण नही होगा। रास्ता तो तय करने से पूरा होगा, चलने से पूरा होगा।

हम अपने जीवन मे बीस वर्ष से निरन्तर मन्दिर जा रहे है तो परिणामो मे कितनी निर्मलता आई, जीवन मे कितनी सादगी आई। जब तक इसकी जाच-पडताल नही करेंगे तब तक सारा क्रियाकाड करने पर भी जहा थे वही रह जायेंगे। नित्य प्रति मन्दिर जाने पर जीवन मे कुछ भी परिवर्तन नही आये, परिग्रह जरा सा भी कम न हो, कषाय नही छोडी, तो क्या लाभ हुआ ? मन्दिर जाने का मतलब है इन सब कुसस्कारो को छोडा जाये। जब मन्दिर जाने वालो के जीवन मे कोई परिवर्तन नही होता, तभी तो युवावर्ग को मन्दिर मे विश्वास नही होता। यदि एक व्यक्ति मे परिवर्तन आये तो उसका प्रभाव युवावर्ग पर पडेगा, ऐसे प्रभाव से वह भी उस मार्ग पर चलने लगेगा।

एक ठाकुर थे। उन्होने किसी से कुछ रुपये उधार ले रक्खे थे। जब भी वह व्यक्ति अपने रुपये मागने आता ठाकुर कोई बहाना बना लेते, दो-तीन दिन बाद देने का वायदा करने लगते। एक दिन वह व्यक्ति आने वाला था। ठाकुर ने अपने पाच-छ वर्षीय बालक को दरवाजे पर बैठने को कहा और समझाया कि जब वह व्यक्ति मुझे पूछने आये तो तुम कह देना कि पिताजी घर मे नही है। थोडी देर बाद वह व्यक्ति आया, बालक ने कह दिया पिताजी घर मे नही हैं। पर बच्चे पर इस प्रकार झूठ बोलने का बहुत गलत प्रभाव पडा। उसने एक दिन अपने पिताजी के कोट की जेब से चार रुपये निकाले और खर्च कर दिये। ठाकुर ने जब कोट की जेब से चार रुपये कम पाये तो घर मे सबसे पूछताछ की, सबने इन्कार कर दिया। उस बालक ने भी इन्कार कर दिया। ठाकुर के बार बार पूछने व सत्य बोलने पर पिटाई न करने के आश्वासन पर बालक ने कहा—हा, मैंने ही वे रुपये लिये थे। तब ठाकुर ने पूछा—तो तुमने झूठ क्यो बोला ? बालक ने कहा—पिताजी, आपने भी तो उस दिन झूठ बोला था। तब उस ठाकुर को समझ आया कि यह बच्चा मेरे कारण झूठ बोलना सीख गया। तो आप बच्चे पर जैसे सस्कार डालेंगे वैसे ही तो पनपेंगे।

महात्मा गाधी ने कुछ ईसाई वच्चो की सगति से अपने वचपन मे एक वार अभक्ष्य भक्षण (बकरे का मास का भक्षण) कर लिया। रात मे सपने मे उन्हे बार-बार उस बकरे की आवाज सुनाई दी, लगा कि वह पेट मे से वोल रहा है। सोचा, अरे उच्च कुल मे जन्म लेकर वैष्णव धर्मावलम्बी होकर यह क्या कर डाला मैंने ? प्रात पिताजी के कमरे मे जाकर उन्हे सब वृत्तान्त कहा। पिता सारी वात सुनकर रोने लगे, उनकी आखो से अश्रुधारा बहने लगी। गाधीजी ने कहा—आप दु खी हो रहे हैं ? मैंने आपको कहकर क्या गलत किया है ? पिता ने कहा, नही वेटे ! यह आसू तो खुशी के हैं कि तुमने सत्य वोला। तुम अवश्य महान् वनोगे। वास्तव मे सत्य बहुत शक्तिशाली है। सत्य वोलने वाला ही महान् वन सकता है।

वैभाविक सस्कार, कुसस्कार स्थायी नही होते, वे छूट सकते हैं, छूट जाते हैं, पर तभी जव अन्तरग मे उनका अहसास होता है, तव तक कभी-कभी बहुत अनिष्ट हो चुकता है। वर्तमान परिस्थितियो को देखते हुये खान-पान आदि का विवेक रखें। मन्दिरो के माध्यम से माता-पिता वच्चो मे खान-पान आदि का विवेक उत्पन्न करे। तभी आपका यह मन्दिर वनाना सार्थक है, चावल चढाना सार्थक है, अन्यथा कोई भी क्रियाकाड करे, उससे कोई लाभ नही।

जल छानकर पीजिये :

जैन धर्म के सिद्धान्त वैज्ञानिक आधार लिये हुये है। जैन धर्म मे कहा—पानी छानकर पीओ। सव इस सिद्धान्त का मजाक वनाने लगे। पर दो वर्ष पूर्व सयुक्तराष्ट्र की रिपोर्ट मे लिखा था कि प्रतिवर्ष अनछने पानी पीने से उत्पन्न रोगो के कारण सम्पूर्ण विश्व मे पचास लाख मानव मर जाते है।

भागवत मे भी लिखा है कि पानी छानकर पीओ और देखकर चलो। देखकर चलने मे स्वय की सुरक्षा होगी, किसी गड्ढे आदि मे नही गिर सकोगे और दूसरे छोटे-छोटे जीव जो जमीन पर चलते रहते हैं उनकी भी सुरक्षा होगी। पानी स्वय मे पवित्र है, पर उसमे अन्य तत्त्व मिल गये, तो वे हमे रोगी वनाते हैं, उन्हे दूर करने के लिये पानी छानते हैं। हमे धर्म की दृष्टि से भी और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी खान-पान को शुद्ध वनाये रखना चाहिये।

इन्दौर मे १६७१ मे चातुर्मास था। वहा एक महिला अधिकारी अस्पताल का निरीक्षण करने के लिये आई थी। हमारे पास भी वह आई।

चर्चा चली तो वह वोली—मैं यहा टी० वी० अस्पताल का निरीक्षण करने आई हूँ। हमने पूछा—आजकल कई टी० वी० के रोगी रोगमुक्त नही होते, क्या वात है ? उन्होंने कहा—टी० वी० तो जैन धर्म मे ठीक हो सकती है। हमने कहा—जैन धर्म का टी० वी० से क्या सम्वन्ध है ? तव उन्होंने वताया कि—मेरे घर मे एक जैन स्त्री रहती है, वह खाने-पीने, नहाने धोने सव कार्यों मे छना हुआ पानी उपयोग करती है, सीमित व उचित भोजन करती है। इससे मैं कहती हू कि टी० वी० जैन धर्म पालन से दूर हो सकती है। केवल औषध खाने से रोग दूर नही होता, उसके साथ सयम भी आवश्यक है। महावीर ने सयम की वात वताई, वह वहुत उपयोगी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे सयम पालन करना चाहिये। प्रारम्भ से सयम का पालन (खान-पान मे) करे तो कोई रोग ही न हो।

महात्मा गाधी ने अपनी एक पुस्तक मे लिखा है कि—"जव से मैंने रात्रि भोजन त्याग दिया, मैं अनेक परेशानियो से वच गया हूं। आखिर पेट को भी विश्राति चाहिये। इजन गर्म हो जाता है तो उसे ठण्डा करने के लिये कुछ देर विश्राम दिया जाता है। वैल थक जाते है, उन्हे भी विश्राम दिया जाता है, तो पेट को भी कुछ देर आराम की जरूरत है, सुवह उठने के वाद रात्रि मे सोने तक खाते ही रहोगे तो कैसे स्वस्थ रहोगे ? सत्य तो यह है कि हम खाना खाने की विधि भी नही जानते। दिन मे दो या तीन वार भक्ष्या-भक्ष्य का विवेक रखते हुये जो कुछ भी खाये चवा-चवाकर खायें। अस्पताल मे आज जो रोगियो की सख्या वढ रही है, उसका प्रमुख कारण असयम है। जीवन मे सयम विल्कुल नही है। व्यर्थ मे ही राष्ट्र की सम्पत्ति व शक्ति नष्ट हो रही है। आज जरा से रोग होने पर इन्जैक्शन ले लेते है, कोई घरेलू उपचार नही करते, यह नही सोचते कि वह इन्जैक्शन और दो वीमा-रियो को पैदा करेगा। आज कैंसर, पोलियो आदि घातक वीमारियाँ फैल रही हैं। जिस मा के वदहजमी रहती है उससे उत्पन्न वालक के पोलियो हो जाता है, और भी अन्य कारण है।

धर्म मे अष्टमी, चतुर्दशी को एकासन, रस-परित्याग कर भोजन ग्रहण करना वताया है, ये व्यर्थ नही हैं। इनसे अनेक परेशानियो से वचेंगे, स्वास्थ्य लाभ होगा। आज खूव अस्पताल खुल रहे हैं, उनमे शैय्यायें वढाई जा रही हैं, उनको कम करने का उपाय नही करते, उन्हे वढाने का ही प्रयास कर रहे हैं।

शारीरिक व्यायाम, सयमित भोजन, नियमित जीवन ही उपयोगी है। भक्ष्य-अभक्ष्य का सयम, ध्यान रखना अत्यावश्यक है। वच्चो को भी इस वात को सिखाना व पालन कराना वहुत आवश्यक है, आज बच्चो को विस्किट खिलाते हैं, यह सर्वथा अच्छे नहीं हैं। कभी आपात्काल मे, मुश्किल के समय इसका उपयोग करें तो ठीक है पर हमेशा प्रयोग नही करना चाहिये।

सामाजिक जीवन आदर्श वनाने के लिये मानसिक स्वास्थ्य ठीक रखना आवश्यक है, ये दोनो एक दूसरे पर आधारित हैं। मानसिक स्वास्थ्य के लिये मन्दिर, पूजा-पाठ, ध्यान, योग, जप-तप, त्याग महत्त्वपूर्ण हैं।

समस्त प्राणी जीवन में शाति के साथ मृत्यु के समय भी शाति चाहते हैं। भारतीय सस्कृति मे जन्म को ही नही, मरण को भी मांगलिक वनाया है। इसी का नाम सल्लेखना है, भागवत् मे इसी को प्रायोपवेषण कहा है। जव मुत्यु निश्चित है तो उससे घवराना क्यो ? डाक्टर ने जवाव दे दिया, इन्जेक्शन भी कारगर नही हो रहा, तव तो भगवान का नाम लेना चाहिये। पशु व मनुष्य मे यही तो फर्क है कि—पशु का विवेक केवल खाने-पीने तक सीमित है पर मनुष्य इससे ऊपर उठा हुआ है। उसमे आत्मा-परमात्मा का चिन्तन करने की शक्ति है, इसलिये मनुष्य अपने मरण को मागलिक वना सकता है।

आयु अतिमूल्य से परे है। ससार की विपणी मे सर्वस्व मिला है, परन्तु आयु नही मिल सकती। कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम इसकी वृद्धि का उपाय नही जानता। कोटि स्वर्ण देकर भी आयु का क्षण नही खरीदा जा सकता। यह अमूल्य है। यदि इसे ऐसे ही गवा दिया तो इससे बढकर और क्या हानि हो सकती है।

जिनालय : आत्मा का बीमा भवन

जिन्होंने आत्मा को अजर-अमर बनाने के लिए आगम दिये, सिद्धान्त दिये, शास्त्र दिये, चिन्तन दिया, उनका उपकार नही माने तो क्या यह कृतघ्नता नही है ? आचार्यों ने आत्मा के बीमे के लिये ये मन्दिर बनवाये। वीतराग की वाणी व सिद्धान्त भी आत्मा को अजर-अमर बनाने का सन्देश व मार्ग प्रशस्त करती है।

आचार्यो ने शास्त्रो मे सर्वज्ञ की वाणी के अनुसार समझाया है, बताया है कि–पदार्थो मे अनन्त शक्ति है। आचार्यों ने कहा है कि सामान्य मति–श्रुत ज्ञान वाले व्यक्ति अपने जीवन मे अनेक प्रयोग व प्रयत्न करके देखते- रहते हैं। जैसे अमेरिका मे एक गाजर के सुई की नोक जितने दस हजार सूक्ष्म अश करके नई दस हजार गाजर उत्पन्न की गई हैं। हमारे ग्रन्थो व प्रतिक्रमण आदि मे वनस्पति मे अनन्त जीवो की मान्यता है उसे विज्ञान ने प्रयोगो के आधार पर सिद्ध किया है। भौतिक विकास का कोई अन्त नही है। जन्म से ही भौतिकता मे रचे-पचे रहने के पश्चात् मानव वृद्धावस्था मे इसमे (भौतिकता से) थक जाता है, ऊब जाता है, भौतिकता मे फिर उसका मन नही लगता और तब वह शान्ति की खोज करता है कि शान्ति कहाँ मिलेगी, कैसे मिलेगी ? बालक को प्रारम्भ से ही परम्परागत उद्योग जैसे बुनाई, काष्ठकला, मूर्तिकला आदि की, परम्परागत व्यापार व्यवसाय की शिक्षा देते हैं। आखिर जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य क्या है ? हमारे ऋषि-मुनियो ने तपस्वियो ने चिन्तन मनन के पश्चात् कहा कि ये सारे कार्य, उद्योग व व्यवसाय–व्यापार सिर्फ शरीर के पोषण के लिये हैं, आत्म-पोषण व कल्याण के लिये इनका कोई उपयोग नहीं है, कोई मूल्य नहीं है।

मैं जब मेरठ मे था वहा उस समय रूस से एक हिन्दी अध्ययन दल आया हुआ था, जिसके अध्यक्ष श्री चेलिसेव थे। वहाँ के टण्डन हिन्दी भवन मे शुद्ध हिन्दी मे बोलते हुए श्री चेलिसेव ने एक बहुत मार्मिक बात कही— "हम रशियन शरीर के इन्जीनियर हैं, हमने शरीर की सूक्ष्मतम चिकित्सा की, करेंगे और करते रहेगे परन्तु हमने इस शरीर मे रहने वाली आत्मा के बारे मे कभी नही सोचा, उसकी चिकित्सा नही की, उसकी विद्या नही सीखी, मैं भारत इसीलिए आया हू कि हम आपस मे इस विद्या की अदला-बदली करलें।"

मैंने उनकी (चेलिसेव की) जिज्ञासानुसार प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य की 'जैनदर्शन' नामक पुस्तक पढने को दी, उसको देखने के पश्चात् उन्होंने कहा कि – हम सामान्य लोगो को भी धर्म का ज्ञान कराने हेतु कोई सरल ग्रन्थ दीजिये। यह ग्रन्थ बहुत गूढ है। आप कहानी रूप मे तत्वज्ञान समझा देने वाला ग्रन्थ दीजिये। रूस मे आचार्य अमितगति के ग्रन्थ 'धर्मपरीक्षा' को रूसी भाषा मे अनुवाद कर गत तीन वर्षों से विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम मे रखा जा रहा है। उसमे तत्त्वज्ञान को समझाने के लिए आरम्भ से अन्त तक कहानी का सहारा लिया गया है। अर्थात् तत्वज्ञान समझाने के लिए कहानी का प्रयोग किया है। तत्त्वज्ञान को भगवती-आराधना मे, जिनसेनाचार्य ने महापुराण व आशाधरसूरि ने अनागारधर्मामृत मे अच्छी तरह समझाया है। इनमे बताया है कि आप अपने तत्त्वज्ञान को समझाते जाईये, किसी चीज का, तथ्य का खण्डन या निराकरण स्वत हो जायेगा। आप केवल सत्य को, सिद्धान्त को बताइये, अपनाने वाला अपना लेगा, समझने वाला समझ लेगा। जैसे कमल पानी मे उत्पन्न होता है, अग्नि मे उत्पन्न नही हो सकता। यदि कोई तर्कों के आधार पर सिद्ध करना चाहे कि कमल अग्नि मे भी उत्पन्न होता है तो क्या इसका कोई विश्वास करेगा ? इसी तरह धर्म अहिंसा मे है। यदि कोई तर्कों के आधार पर हिंसा मे धर्म मानना चाहे, मनवाना चाहे तो भी मनवाया नही जा सकता।

माँ जब गुस्से मे आकर बच्चे के चाटा मार देती है तो साथ मे स्वय भी दु खी हो जाती है कि मैंने क्यो उस बच्चे को चाटा मार दिया ? उसको यह ज्ञात है कि मेरा मारना उचित नही था। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य के मन में भी छोटे से हिंसात्मक भाव भी उत्पन्न होते हैं तब उसको यह ज्ञात रहता है कि यह उचित नही है। फिर भी चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से हिंसा करते रहते हैं।

जैसे चेलिसेव ने कहा कि हम शरीर के इन्जिनियर हैं और भारतीय आत्मा के; भारतीय दर्शन की प्रारम्भ से ही आध्यात्मिक विचार-धारा रही है। हमारे आचार्यों ने सर्वप्रथम देवदर्शन के लिए कहा। आप एक अच्छे दर्जी से कपडे सिलवाने जाते हैं, वदले मे उसे मजदूरी देते हैं। जिस-जिस वस्तु की आपको आवश्यकता होती है, उसे प्राप्त करते हैं, खरीदते हैं। आप उसी व्यक्ति से वस्तुयें खरीदते हैं जिसकी प्रामाणिकता पर आपको विश्वास होता है। आप सदैव उमी व्यक्ति से वस्तुयें खरीदते रहे और फिर भी उसकी प्रामाणिकता पर सदेह करें, यह उचित नही है। वीतराग भगवान् ने स्वय सर्वज्ञ-प्राप्ति के वाद समवशरण मे आत्म कल्याण का उपदेश दिया, मार्ग वताया। उस वाणी को सुनने के वाद कोई कहे कि इस वाणी से कल्याण नही हो सकता, तो क्या उसके विचार, उसकी दृष्टि सम्यक् है ? एक व्यक्ति गाय को पाले, उसका दूध पीवे और वाद मे उसे किसी वधिक (कसाई) को वेच दे, क्या यह कृतघ्नता नही है ? तीर्थंकर की, वीतराग की वाणी को पढे, सुने और फिर ऐसा कहे कि इससे कल्याण नही हो सकता, इससे मुक्ति नही हो सकती, क्या यह उस कसाई जैसी वात नही हुई ? दाँत मे फसे पदार्थ को एक छोटे से तिनके के माध्यम से निकालते हैं, उम फसे हुए पदार्थ से जो वैचेनी हो रही थी उसे वह तिनका दूर करता है, शरीर की इस तकलीफ को दूर करने वाले छोटे से तिनके को उपकारक मानते है, तो जिनने अपनी आत्मा को अजर–अमर वनाने के लिए आगम दिये, सिद्धान्त दिये, शास्त्र दिये, चिन्तन दिया उसका उपकार नही मानें, तो क्या यह कृतघ्नता नही है। प्यासे को राह मे कोई पानी पिलाता है तो वह उसका उपकार मानता है, धन्यवाद देता है तो हम उम आगम का उपकार न माने ?

एक वहुत पुरानी घटना है। मैं रेल से पूना से वेलगाव जा रहा था। प्लेट फार्म पर एक अफ्रीकी–दम्पति खडे थे। उन्हे कही पर भी स्थान नही मिल रहा था, रेल मे वहुत भीड थी, वहुत दौड-धूप भी की थी, वहुत परेशान हो रहे थे। मुझे एक डिव्वे मे स्थान मिल गया था, मैं वैठा था, उसी डिव्वे मे एक पत्रकार भी वैठे थे। उन्होंने (पत्रकार ने) सीट पर से अपना विस्तर हटा कर उनका विस्तर लगा दिया और स्वय का नीचे आने जाने वाले मार्ग पर लगा लिया। मै वैठा सोच रहा था कि कैसा व्यक्ति है ? अच्छी भली जगह मिली थी, उसे भी दूसरो को दे दी। मैंने आखिर उनसे पूछ ही लिया कि आपने ऐसा क्यो किया ? पत्रकार ने उत्तर दिया कि ये लोग भारत मे अतिथि वन कर आये हैं। जव यहा से वापस जायेंगे तव वे क्या प्रभाव लेकर

जायेंगे कि भारतीयो ने हमे कोई सहयोग नही दिया ? ये हमारे देश की सभ्यता लेकर जायेंगे । इसीलिये हमारा कर्त्तव्य है कि स्वय असुविधा प्राप्त करके भी इन्हे सुविधा प्रदान करे । हम चाहते है कि दूसरे हमारी सेवा करे, पर हम स्वय किसी की सेवा न करें, तो यह कैसे सम्भव होगा ?

धर्म मे सकीर्णता नही है, विशालता है । धर्म मानव-मात्र के कल्याण के लिये है । कोई आपका उपकार करता है, पर आप उसके प्रति कृतघ्न रहे तो धर्म भी कल्याणकारी नही हो सकता ।

वेल्जियम मे विश्व धर्म सम्मेलन था । महात्मा गाधी पीस फेडरेशन के सचालकगण हमारे पास आये कि भारत से दो प्रतिनिधि चाहिये । डा० ए० एन० उपाध्ये व भट्टारकजी को इसके लिये तैयार किया गया । समाज मे भट्टारकजी के विदेश जाने का विरोध होने लगा कि ये व्रती-तपस्वी हैं, ये वहा विदेश मे भोजन कहाँ करेंगे ? सव मुझ पर नाराज होने लगे । हमने वेल्जियम के भारत स्थित राजदूत से सम्पर्क किया, उनसे वेल्जियम मे रह रहे जैन निवासियो के वारे मे पूछा । ज्ञात हुआ कि वेल्जियम मे पैंतालीस घर जैनो के है । राजदूत से उनके पते व फोन नम्वर आदि प्राप्त किये गये फिर उन जैन व्यक्तियो से सम्पर्क किया गया व उनसे पूछा गया कि हम भारत से एक साधु को भेज रहे हैं, आप क्या सहयोग दे सकते हैं ? क्या आप उनके भोजन-आहारादि की व्यवस्था कर सकेंगे ? उन लोगो ने सहर्ष स्वीकार किया और अपनी ओर से भी आग्रह किया । उन्होने भट्टारकजी के पधारने को अपना अहोभाग्य माना । भट्टारकजी वहाँ गये, वहाँ के जैन घरो मे आहार ग्रहण किया । भट्टारकजी ने उनका रहन-सहन देखा, उनका खान-पान देखा, तो पाया कि कई जैनो ने तो वहाँ जाकर भी प्याज खाना प्रारम्भ नही किया । वहाँ के भारतीय राजदूत एक मुसलमान व्यक्ति थे उन्होने भी भट्टारकजी व डा० उपाध्ये के लिये वहुत सुन्दर व उत्तम व्यवस्था करवाई ।

इसी प्रकार सिंगापुर मे हुए विश्व धर्म शान्ति सम्मेलन के समय ज्ञात हुआ कि वहाँ पर पिच्यासी परिवार हैं जैनो के । वहाँ के लोग धर्म-श्रवण के लिये तरसते हैं । उन्होने भट्टारकजी को कहा कि हमारे यहाँ सव सुविधायें है, भौतिक साधन हैं, पर धर्म-ध्यान का साधन नही है, वस यही दु ख है । भट्टारकजी के लौटने पर वे रोने लगे, अश्रुपूरित नयनो से वे उनसे कुछ समय ठहरने की प्रार्थना व आग्रह करने लगे ।

विश्व धर्म शान्ति सम्मेलन भारत के सचिव मेजर जनरल एस. एस ऊवान ने कहा कि आपके भट्टारकजी की ओर से कभी कोई तकलीफ नही हुई। हम जहाँ भी जाते हैं वही पर आपके अनुयायी मिल जाते है और इनकी भोजन-आहारादि की सारी व्यवस्था कर देते है।

आज विदेशो मे हमारे धर्म-प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है। शास्त्रो मे लिखा है कि समवसरण मे पशु-पक्षी भी आकर धर्म सुनते थे तो क्या हमारे विदेशी भाई इनसे भी गये वीते हैं जो हमारे धर्म का श्रवण-अध्ययन भी नही कर सकते ? हमे अपनी परम्पराओ को ध्यान मे रखते हुए धर्म का भी ध्यान रखना चाहिये, धर्म को नही भूलना चाहिये। धर्म की रक्षा करते हुए उसका प्रचार करना चाहिये। धर्म की सीमाओ मे रहकर भी उसे विदेशो मे प्रचारित कराइये।

मुनि सुशील कुमार जव विदेश गये तो सवने वहुत विरोध किया। इस सन्दर्भ मे वहुत विचार-विमर्श, परामर्श चला। मैंने कहा—आप जा रहे हैं तो सफल होकर लौटिये, यही भावना है, शुभ सदेश है। उन्होने मुझे लिखा है कि आपने मुझे इस कार्य के लिये वहुत प्रेरणा व सम्वल दिया है। आज वे विदेश मे एक हजार व्यक्तियो को जैन धर्म का ज्ञान करा रहे हैं, उनको प्रतिदिन प्रात एव सायकाल णमोकार मत्र का जाप कराते है।

काका कालेलकर ने 1971 मे अपने मगल-प्रभात नामक अखवार के अग्रलेख मे लिखा था कि **विश्व-कल्याण के लिये अनेकान्त धर्म का प्रचार करना चाहिये। यह सिद्धान्त मानवमात्र के कल्याण के लिये है, इसका लाभ उठाना चाहिये।**

इग्लैण्ड मे रह रहे एम० के० गाधी ने हजारो व्यक्तियो को शाकाहारी वनाया है। उनसे एक सौ अस्सी व्यक्तियो ने जैन-विवाह पद्धति से विवाह कराने का आग्रह किया। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आज हमारे धर्म को विदेशो मे भी प्रचारित व प्रसारित कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

जव हम एक कुत्ते को णमोकार मत्र सुना सकते हैं तो क्या उन विदेशियों को नही सुना सकते ? जव एक भील भी जैन वन सकता था तो क्या ये उत्सुक, जिज्ञासु विदेशी जैन नही वन सकते ? तीर्थंकरो ने, आचार्यो ने निगोदकाय जीव को भी आश्वासन दिया है। धर्म हमारा ही नही है,

प्राणीमात्र का है। सूर्य का प्रकाश किसी एक के लिए नही होता, वह सबके कल्याण के लिये है, वीतराग-वाणी भी सबके, प्राणीमात्र के कल्याण के लिये है। पारस पत्थर जिस लोहे को स्पर्श कर जाये उसे स्वर्ण बना देता है, **वीतराग भगवान की वाणी व सिद्धान्त भी आत्मा को अजर-अमर बनाने का सदेश व मार्ग प्रशस्त करती है।**

एक वन मे एक बारहसीगा विचरण कर रहा था। वह अपने शरीर की ओर निहार रहा था। जब उसने अपने खूबसूरत सीग देखे तो अत्यन्त गर्वित हो उठा और जब उसने अपने पैरो की ओर देखा तो उनकी बदसूरती देख कर घृणा करने लगा। इतने मे उसे बाण उठाये एक बहेलिया आता दिखाई दिया, उसे देख कर वह घबराया। उससे अपनी जान बचाने के लिये वह भागा, भागता गया। एक स्थान पर रुका तो देखा एक मुनिराज बैठे है। मुनिराज ने भी उसकी ओर देखा। उसकी घबराहट देख कर उन्होने पूछा—क्या बात है ? उसने कहा कि—मैं अपने सीगो की खूबसूरती पर व पावो की बदसूरती पर विचार कर रहा था, इतने मे बहेलिये को देखा, बस जान बचाने के लिये भागा चला आ रहा हूँ। मुनिराज ने कहा—अरे ! तुम जिन सुन्दर सीगो पर गर्व कर रहे हो वह ही तुम्हारे लिये प्राणघातक सिद्ध हो रहे हैं और ये बदसूरत पैर जिन पर तुम घृणा कर रहे हो, इन्होने ही तुम्हे बचाया है। हम भी शारीरिक-सौन्दर्य की ही देखभाल-साजसवार करते है जो हमारे ससार भ्रमण का कारण है और आत्मा, (जिसको लोग शुष्क विषय मानकर उस) की कोई साजसवार नही करते।

हमारी अपनी आत्मरक्षा के लिये वीतराग भगवान ने जो सिद्धान्त दिये, आचार्यों ने उन्हे अकित कर सुरक्षित रखा है। **आज सब जीवन-बीमा की बातें करते हैं, यह धर्म आत्मा के बीमे की बात करता है। हमारे आचार्यों ने आत्मा के बीमे के लिये ये मन्दिर बनवाये हैं।** चाहे स्त्री हो, पुरुष हो, सब स्वाध्याय से, वीतराग भगवान के भजन-पूजन, जप-जाप से अपनी आत्मा को अमर बना सकते हैं, वे हमारी आत्मा की बीमा कम्पनिया है। हमारे वीतराग भगवान् गारन्टी देते है कि जैसे मैंने मार्ग अपनाया, वैसे तुम भी अपनाओगे तो निश्चित रूप से मुक्त हो जाओगे, अजर-अमर हो जाओगे। जिस भवन मे उन वीतराग भगवान की प्रतिमा विराजमान है, उस भवन के दर्शन से भी भवभवान्तर के अशुभ मिट जाते है—

दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवताप हारि, भव्यात्मना विभव सम्भव भूरिहेतु ।
दुग्धाब्धि फेन धवलोज्ज्वल कूटकोटि, नद्धध्वज प्रकर राजि विराजमानम् ।।

जब केवल जिनेन्द्र भगवान् का भवन देखने से ही भवभवान्तर के अशुभ दूर होते हैं तो उस वीतराग के मार्ग पर चलने से तो भवभवान्तर ही मिट जायेंगे । जब बीमा–कम्पनियो का उपचार मानते हैं तो मन्दिर–शास्त्र स्वाध्याय से उपकार कैसे नही होगा ? हम हड्डी–चमडे के इस ढाचे का तो ध्यान रखते हैं पर इसके अन्दर विराजमान आत्मा का भी ध्यान करले तो आत्मा अवश्य ही परमात्मा बन जाये । पानी खीचते-खीचते रस्सी घिसने से पत्थर पर गढ्ढे बन जाते है तो क्या नित्य प्रति श्रद्धा व भावना के साथ मन्दिर जाने, शास्त्र स्वाध्याय करने से कल्याण नही होगा ? क्या इनसे कर्मक्षय नही होगा ? जो मन्दिर का, शास्त्रो का उपकार नही मानते यह उनकी भूल है ।



- जिस दीपक में ज्योति होती हैं, वह भगवान की आरती में पहुच जाता हैं, किन्तु ज्योतिहीन कहीं फेंक दिया जाता हैं । मूल्य ज्योति का हैं । अपने शरीर में आत्मज्योति छिपी हैं उसे जगाओ ! नहीं तो श्मशान के ईंधन और वृथाजीवी मनुष्यों में क्या अन्तर हैं ?

- मन, जो निरन्तर भटकने का आदी हैं, स्वाध्याय में लगा देने से स्थिर होने लगता हैं । मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि में परम सहायक होती हैं । एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्षता प्रदान करते हैं ।

धर्म बिना कोई नहीं अपना

क्षरण भर के सत्सग व स्वाध्याय से असख्यात कर्म कट जाते है, आलस्य बुद्धि दूर होती है, प्रसन्नता द्विगुणित होती है, पुण्य बध होता है और वीतराग भी हो सकते है। वीतराग भगवान की वाणी मन को, आत्मा को जरा भी छू जाये तो उसका अवश्य ही आत्म कल्याण होगा।

अपना समय विकथा मे, आर्तरौद्र ध्यान मे न लगा कर, धर्म की कथाओ, गाथाओ को समझने मे लगाइये। रुचि व श्रद्धा आसन्न भव्य का लक्षण है।

ऋषि मुनियो ने अपने तत्त्वज्ञान, चिन्तन व मनन के द्वारा शास्त्रो की रचना की है। हम उन शास्त्रो को उनकी रचनाओ को पढकर आनन्दित होते है। जब छोटे बच्चे प्रारभ मे विद्यालय मे पढने जाते है, उनको वहा चिडिया की कविता सिखायी जाती है, तब वे प्रसन्न हो उठते है, उसको याद कर लेते है, गाते है, सबको सुनाते हैं। जब वे बच्चे कुछ बडे होते है, उनका अध्ययन-स्तर आगे बढता है, तो वे चिडिया की कविता से भी उत्तम कविता सामग्री ढूढने लगते हैं और पर्याप्त रुचि व सस्कार हो तो तत्त्वज्ञानी जिज्ञासु भी बनते हैं।

हमे तत्त्वज्ञान को, शास्त्रो को पढने की कला भी सीखनी चाहिये। उनका शुद्ध उच्चारण करना चाहिये। शास्त्रो की गाथाओ का यदि शुद्ध उच्चारण के साथ सगीतमय, काव्यमय पाठ करते है तो वह पढने वाले व सुनने वाले दोनो को भाव-विभोर, आनन्दमग्न कर देती है। सगीत, गाने वाले व सुनने वाले दोनो को भाव-विभोर कर जाति-पाति, काला-गोरा, ऊँच-नीच का भेद मिटा देता है। सगीत के प्रभाव मे जहरीला नाग भी झूमने लगता

है, रोता हुआ वालक चुप होकर सो जाता है। सगात वातावरण को ही प्रभावक वना देता है। यदि हम समयमार आदि ग्रथो की गाथाओ का सुमधुर स्वय मे पाठ करे तो आनन्द के साथ तन्मयता भी द्विगुणित होगी। सगीत मे वहुत शक्ति है। यदि वाद्य यत्रो को शृगार की राग मे, धुन मे, वजाते है तो श्रोता के मन मे शृगारिक भाव उत्पन्न होने लगते हैं। यदि प्रात काल मदिरो मे वीतराग-भाव के भजनो का सस्वर-पाठ हो, मधुर घटियाँ वजे तो वैराग्य-भाव क्यो नही उत्पन्न हो सकते ? आसपास का वातावरण स्वच्छ व शुद्ध रखने हेतु ही गली-मोहल्लो मे मदिरो की आवश्यकता हुई। उन मदिरो के माध्यम से हम कुछ समय तो आत्म-चिन्तन के लिये दे सकते है। चौवीस घटे हम इस शरीर की सेवा मे, राग मे शृगार मे ही विता देते है, इसमे से थोडा सा समय तो हमे अपनी आत्मा के लिये देना चाहिये, तत्वज्ञान के मनन-चिन्तन मे ही लगाना चाहिये। जीवन मे तत्वज्ञान का वहुत महत्व है।

जव राम की आज्ञा से कृतान्तवक्र सेनापति सीता को वन मे छोडने गया, उस समय उसे सीता पर वहुत ही करुणा-दया आई कि इस सीता का भी भाग्य है ? विवाह के कुछ समय पश्चात् ही चौदह वर्ष का वनवास भोगा, उसमे भी रावण के यहा पहुच गई तो अत्यन्त मानसिक कष्ट भोगा, राम युद्ध करके रावण के चगुल से छुडा कर लाये तो अव फिर एक धोवी के कहने मात्र से पुन वनवास भोगना पड रहा है। सीता को वन मे छोडते समय वहुत अश्रुपूरित नयनो से सेनापति ने उससे राम के प्रति कुछ सदेश देने के लिये पूछा। सीता ने कहा कि—वस तुम उनसे यही कहना कि जैसे लोकोपवाद के डर से मुझे त्याग दिया है, वैसे किसी के वहकाने से, किसी के कहने से कि धर्म ढकोसला है,' कभी धर्म को मत छोडना। यह सीता के तत्त्वज्ञान का ही फल था कि उसने इतने कष्ट उठाने के वाद भी अपने पति राम पर या अन्य किसी पर उन कष्टो के लिये दोपारोपण नही किया तथा राम के लिये धर्म न छोडने का ही सदेश दिया।

जव सीता की अग्नि-परीक्षा ली गई और उसमे वह सफल हो गई तो राम ने अयोध्या चलने के लिये कहा, तो सीता ने राम से कहा—हे राम ! आप विवाह न होने तक तो वहुत सुखी थे, परन्तु जव से मुझसे विवाह हुआ तवसे आपको अत्यन्त कष्ट उठाना पड रहा है। पहले चौदह वर्ष का वनवास, उसमे भी मेरे कारण रावण से युद्ध, फिर लोकापवाद आदि कठिनाइया आपके जीवन मे आई। ये सव कष्ट व दु ख मेरे अशुभ कर्म के उदय के कारण, मेरे कारण ही उत्पन्न हुये। मेरे कारण ही आपको एक क्षण के लिये भी

शान्ति न मिल सकी। रविषेणाचार्य ने पद्मपुराण मे इसका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। तत्त्वज्ञानी सीता ने सब दोष का कारण स्वय को मानकर अपने पति को निर्दोष सिद्ध कर दिया। यह सब धर्म-ज्ञान का ही प्रभाव था।

हमारी भारतीय सस्कृति आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। मेरा सब मुमुक्षुओ से यही कहना है कि चौवीस घटो मे से आधा घटा तो स्वाध्याय, सत्सग के द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लाभ उठाये। भर्तृहरि ने लिखा है कि—क्षण भर के सत्सग व स्वाध्याय से भी असख्यात कर्म कट जाते है, आलस्य वुद्धि दूर होती है, प्रसन्नता द्विगुणित होती है, पुण्यवध होता है, इससे वीतरागता भी उत्पन्न हो सकती है और प्रयास से सम्यग्दृष्टि भी हो सकती है। सत्सग व स्वाध्याय आत्मा की अजरता-अमरता प्राप्त करा सकते है।

आपके घरो मे रेडियो, टेलीविजन तथा मनोरजन के, भौतिक सुविधाओ के अनेक साधन है, आप उनको छोडकर प्रात काल ही यहा (प्रवचन सभा मे) क्यो आये? क्योकि आपको इन भौतिक सुविधाओ-साधनो से शाति नही मिलती, आप शाति के लिये धर्म का ही सहारा लेते हैं। अत सिद्ध है कि शाति धर्म मे है, स्वाध्याय मे है, तत्त्वज्ञान मे है, चिन्तन मे है और इसके लिये भौतिकता से विमुख होकर इन्ही की ओर लौटना होगा।

एक बालक मेले मे अपने पिता की अगुली पकड कर घूम रहा था। मेले मे लगी दुकाने व अन्य सभी वस्तुओ को देख कर वह अत्यन्त आनन्दित व खुश हो रहा था। अचानक पिता की अगुली छूट गई। बालक पूरे मेले मे, घबराया हुआ, रोता हुआ घूमता रहा। यद्यपि मेले मे वे ही वस्तुयें अव भी विद्यमान थीं जो पहले थी, जिन्हे देखकर वह बालक पहले प्रसन्न हो रहा था, पर अब पिता की अगुली छूटने मात्र से वह दु खी हो रहा था, वे वस्तुयें भी उसे प्रसन्न नही कर पा रही थी। इस प्रकार यदि सब वैभवादि होते हुये भी यदि धर्म का सहारा, धर्म का आश्रय, धर्म की पकड छूट गई तो कोई सुखी नही रह सकता। उन वैभवादि की वस्तुओ मे कोई सुख नजर नही आयेगा। जो वैभव पहले, धर्म का अवलम्वन रहने से सुख का कारण बना हुआ था, वही दु ख का कारण बन जायेगा। इसीलिये धर्म का आश्रय लेकर प्रतिदिन आत्मचिंतन के लिये थोडा सा समय अवश्य देना चाहिये।

भर्तृहरि ने लिखा है कि—

आयुर्वर्षशतंनृणायदिमित रात्रौतर्द्धं गत ।
तस्यार्द्धस्यपरस्यचार्द्धमरमंवैवालवृद्धत्वयो ॥
शेष व्याधि वियोगदु ख निहितं सेवादिभिर्नीभते ।
जीवेवादितरग चंचलतरे सौरव्य कुत प्राणिनाम् ॥

मान लीजिये कि आपकी आयु सौ वर्ष की है। उस सौ वर्ष की आयु मे से पचास वर्ष तो सोने मे, निद्रा मे ही व्यतीत हो गये। शेप रहे पचास वर्ष, उनमे से पच्चीस वर्ष विद्याध्ययन मे, खेलखूद मे ही व्यतीत हो गये, शेप रहे पच्चीस वर्ष, उसमे विवाह-प्रपच, दुनियादारी के धन्वे, रोजी-कमाई आदि मे लगे रहे, अव मौत कव आकर तुम्हे ले जायेगी यह पता नही, धर्म ध्यान कव करोगे ? क्या आयु आपके हाथ मे है ?

किसी प्रसिद्ध साहित्यकार ने कहा है कि धन कमाते ममय स्वय को अजर-अमर समझ कर उद्यम करना चाहिये और धर्म करते समय सदैव तत्पर रहना चाहिये, यही समझना चाहिये कि क्या पता अगले क्षण भी जीवन है या नही ? मृत्यु के लिये कोई भेद-भाव नही है, वह समय आने पर छोटे को, वडे को, ऊँच को, नीच को, अमीर को, गरीव को, सवको डस लेती है, उसे किसी के प्रति दया नही होती।

आज हम अपनी आध्यात्मिक सस्कृति, तत्त्वज्ञान को भूल गये है। आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित ग्रथ लघुतत्त्वस्फोट का अमेरिका के कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय के वौद्ध-दर्शन विभाग के अध्यक्ष ने अग्रेजी मे अनुवाद कर गत एक हजार वर्ष मे प्रथम वार प्रकाशित करवाया है। विदेशो मे तत्त्वज्ञान के जिज्ञासु व पिपासु वैठे हैं, उन्होने हमारे आध्यात्मिक ग्रथ को अपनी भाषा मे अनुवाद कर प्रकाशित करवा दिया, पर हमारे यहा कोई अनुवादक, पाठक, जिज्ञासु व पिपासु भी नही हैं। जैसे तत्त्वज्ञान के एक सौ पिचहत्तर ग्रथो का जर्मन-वासियो ने अपनी भापा मे अनुवाद कर प्रकाशन करवाया है। 'पउमचरिय' ग्रथ का आज से एक सौ पच्चीस वर्ष पूर्व अनुवाद करके प्रकाशन करवा लिया। हम तो अपने तत्त्वज्ञान से उदास हो गये और विदेशी सव भौतिक सम्पदा सावनो मे युक्त होते हुये भी शाति के अभाव के कारण हमसे हमारा तत्वज्ञान मागते हैं। हम वहा से मशीनरी व अन्य भौतिक वस्तुये मगा रहे हैं और वे हमसे तत्वज्ञान माग रहे हैं। हमे अपनी निधि के महत्त्व का ज्ञान नही है। हमारे नवयुवको को, वच्चो को इसका ज्ञान कराना आवश्यक है।

जैसे एक मा बच्चे के हाथ से काच का गिलास छुडना चाहती है, उसे फूटने से बचाना चाहती है तो बहुत प्यार से समझाते हुये, दूसरे हाथ मे लड्डू आदि पकडा कर उस गिलास को छुडा लेती है, अपना काम पूरा कर लेती है, उसी प्रकार हमे अच्छे व सरल साहित्य के द्वारा तत्वलाभ के प्रति रुचि उत्पन्न करानी चाहिये, जो उनका मनोरजन भी करे, आत्मरजन भी करे। अच्छे धार्मिक साहित्य के द्वारा, सरल धार्मिक साहित्य के द्वारा, धार्मिक कहानियो के द्वारा, सगीतमय भजनो के द्वारा युवा वर्ग व बालको की धर्म के प्रति रुचि प्रदीप्त करनी चाहिये।

बालक को माता-पिता, मकान, दुकान, स्कूटर तो उत्तराधिकार मे सौंपते हैं। बेटी-दामाद को कर्जा लेकर भी, झूठी शान के लिये अथवा मजबूरी मे, धन-दौलत, मकान, रेडियो, टेलिविजन आदि देते हैं, पर क्या कभी उनमे धार्मिक विचार उत्पन्न कराने हेतु कभी कोई धर्म ग्रन्थ उन्हे सौंपा है ? क्या कभी उन लोगो की रुचि उत्पन्न कराने हेतु नवीन सरल धार्मिक साहित्य का सृजन, प्रकाशन कराया है ? पुत्री के जन्मते ही उसके विवाह की, उसको देने के लिये दहेज की चिन्ता करने लगते हैं, उस समय से ही थोडा-थोडा सामान जुटाने मे लगते हैं। बस सारा समय आर्तरौद्र ध्यान मे ही व्यतीत कर देते हैं। पर क्या कभी उनके आत्म-कल्याण के बारे मे आपने विचार किया है ? यह दोष माता-पिता का है, पर दोष थोप देते हैं बच्चो पर, युवा वर्ग पर। अपना समय विकथा मे, आर्तरौद्र ध्यान मे न लगाकर धर्म की कथाओ, गाथाओ को समझने मे लगाइये। यदि विनाश से बचना है तो धर्म का सहारा लीजिये। अपने पुत्र-पुत्री को उत्तराधिकार मे सब सम्पत्ति व दहेज देते समय एक-दो धार्मिक पुस्तके भी साथ दीजिये और उसको पढने की प्रेरणा भी दीजिये। यदि उनमे से एक-दो गाथायें भी जीवन मे प्रभावी हो जाये जीवन मे उतर जायेगी तो आत्मा अजर-अमर बन जायेगी। यदि लेखक वर्ग, चिन्तक वर्ग ऐसे उपाय खोजे, नवीन धार्मिक साहित्य का सृजन करें, तो युवावर्ग भी धर्म मे पीछे नही रहेगा। यदि घर मे मा सुशिक्षित है, तो वह बच्चो मे धार्मिक सुसस्कारो का बीज वपन कर सकती है। शिक्षित नारियाँ एक स्वस्थ व शिक्षित समाज का निर्माण कर सकती हैं।

समयसार मे आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि—

जह णाम को वि पुरिसो
रायाण जाणिदूण सद्दहदि।

तो त ग्रणुचरदि पुणो
ग्रत्यत्थीग्रो पयत्तेरण।१७।
एव हि जीवराया
रणादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
ग्रणुचरिदव्वो य पुणो
सो चेव दु मोक्खकामेरण ।

ग्रर्थ—जैसे कोई धन का इच्छुक पुरुष राजा को छत्र, चँवर ग्रादि राजचिन्हो से पहचान कर श्रद्धान-निश्चय करता है ग्रौर उसके वाद प्रयत्न-पूर्वक उनकी सेवा करता है, इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को जीव रूपी राजा का ज्ञान करना चाहिये, उसी का श्रद्धान करना चाहिये, फिर उसी का ग्रनु-सरण-ग्रनुभव करना चाहिये ।

ग्राज ग्रनेक साधन मौजूद है । उन ग्राधुनिक साधनो का उपयोग ग्रात्मकल्याण के लिये करें तव ही लाभ है । महानुभावो ! ग्रात्म-कल्याण के लिये प्रतिदिन निश्चित रूप से ग्राधा घटा तो कम से कम दीजिये, स्वाध्याय कीजिये । जव ग्रापकी रुचि प्रदीप्त हो जायेगी तो ग्राप स्वय ही इसका समय वढा देंगे ।

इस देह की इज्जत ग्रात्मा के कारण है, ग्रात्मा के निकल जाने के वाद इस देह को तुरन्त श्मशान घाट मे पहुचाने की व्यवस्था करते हैं । फिर तो यह चमड़ा भी किसी उपयोग का नही रहता । हम इस देह की, हड्डी-चमडे की सेवा तो करते हैं, इसका ध्यान रखते हैं, पर ग्रात्मा का नही ।

एक महिला ने एक वहुत प्रसिद्ध सुनार से एक नथ वनवाई । सुनार ने छह महीने के परिश्रम व प्रयास से ग्रत्यन्त सुन्दर नथ वनाकर दी । ग्रव वह महिला उठते-वैठते, मन्दिर मे, समाज मे हर समय उस सुनार की कुशलता के गीत गाती रहती । एक दिन मन्दिर की सीढियो मे एक पडितजी मिले, उन्होने उस महिला की, नथ की व सुनार की चर्चा सुन रखी थी । महिला ने पडितजी को रोककर ग्रपनी नथ व सुनार की प्रशसा मे गीत गाना प्रारभ कर दिया । पडितजी हँसे, महिला ने हँसने का कारण पूछा ! पडितजी वोले—ग्ररे वावली ! जिसने तुझे नाक दी उसके तो तू गीत नही गाती ग्रौर उस सुनार के गीत गाती है ।

हम भी उस महिला की भांति इस शरीर के शृगार का, शरीर के मैल हटाने का तो ध्यान रखते है पर इसके ग्रन्दर विराजमान ग्रात्मा के

शृंगार का, उसका मैल हटाने का विचार नही करते। ऋषि मुनियो की वाणी, जिनवाणी, आत्मा पर लगे मैल हटाने का सर्वोत्तम साधन है। तभी तो कहा है कि—

जग सुहित कर, सब अहित हर
श्रुति सुखद, सब संशय हरे।
भ्रम रोग हर जिनके वचन—
मुख चन्द तें अमृत झरें ।।

'पद्मनन्दि पर्चविशति' मे आचार्य गारण्टी देते हैं कि यदि आपने रुचि व श्रद्धापूर्वक आत्मा व परमात्मा की बात सुनी तो आप निश्चित रूप से निकट भविष्य मे मोक्ष जाओगे। रुचि व श्रद्धा आसन्नभव्य का लक्षण है—

तत्प्रति प्रीत चित्तेन येन वार्तापिहिश्रुता।
निश्चित स भवेद् भव्यो, भाविनिर्वाण भाजनम् ।।

भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये, मुकद्दमा जीतने के लिये वकील से सलाह लेते हैं तो बदले मे उसे फीस देते है। पर उन ऋपि-मुनि, तीर्थंकरो ने कर्मों को जीतने का मार्ग बताया हम उनकी कोई फीस नही लौटा रहे। यह हमे मुफ्त मे मिल गया इसलिये हम इसकी कोई कीमत नही समझ रहे।

हमे परस्पर प्रेम व वात्सल्य से धर्म का प्रचार करना चाहिये, स्वाध्याय, मनन व चिन्तन करना चाहिये। जैसे पारस पत्थर से लोहा थोडा भी छू जाता है तो वह भी स्वर्ण बन जाता है, इसी प्रकार वीतराग भगवान की वाणी मन को, आत्मा को जरा भी छू जाये तो अवश्य ही आत्म-कल्याण होगा। थोडा सा भी वीतराग वाणी को समझ लें, जीवन मे उतार लें तो जन्म सफल हो जायगा।



हमारा कर्तव्य और पुरुषार्थ

दिव्य-दर्शन मे आत्म-दर्शन है। समस्त आत्मा का धर्म एक है। चिन्तन उदार, विशाल व वीतराग दृष्टि-वाला तभी हो सकता है, जब अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करेंगे, एकान्त से नही। एकान्त डुबो देता है, मनुष्यत्व को समाप्त कर देता है, चिन्तन को कुण्ठित कर देता है।

इस विश्व मे मानव जन्म लेता है, जन्म के पश्चात् वह अपने सस्कारो के अनुसार, परिवार, वातावरण, परिस्थिति, देश, राष्ट्र आदि मे से अच्छाइयो व बुराइयो को अपनी दृष्टि से अच्छा समझ कर सहज ही ग्रहण कर लेता है अपना लेता है। अच्छाई-बुराई का निर्णय, तत्त्वज्ञान का निर्णय करना इतना आसान नही है जितना उनके बारे मे पढना, चर्चा करना, उपदेश देना है। आप किसको सर्वथा अच्छा व किसको सर्वथा बुरा समझेंगे ? तटस्थ दृष्टि वाले महापुरुषो ने, महान् आत्माओ ने, तीर्थंकरो ने किसी भी वस्तु-तत्त्व को सर्वथा एकान्तरूप से अच्छा या बुरा नही माना।

जैसे अग्नि, यह स्वय मे न अच्छी है न बुरी है। जब यह पच पकवान बनावे, धातु आदि गलाने मे सहायक हो, प्रकाश फैलाये, तब हम इसे अच्छी समझते हैं और जब यह शरीर को, मकान को जलाये, भस्म करे, तब बुरी समझते हैं। तो क्या अग्नि को एकान्त रूप से अच्छी या बुरी कह सकते हैं ? अग्नि पवित्र, शुद्ध है, भेदभाव रहित है। यह पवित्र है, इसीलिये विवाह, धार्मिक-अनुष्ठान आदि मे अग्नि को साक्षी रखते हैं। यह पडित, मूर्ख, ब्राह्मण, शूद्र किसी के प्रति भेदभाव नही रखती, यह किसी को नही छोडती, सबको जला देती है।

जैसे अग्नि को सर्वथा अच्छा या बुरा नही कह सकते, उसी प्रकार जब विशाल विश्व की ओर दृष्टि डालते है, लौकिक वस्तुओ की ओर देखते हैं तब अपने सस्कारो के आधार पर ही वस्तुओ को अच्छी या बुरी समझते हैं। एक प्रदेश मे जिस वेशभूषा को सुन्दर व उचित समझते हैं, उसी वेशभूषा को दूसरे प्रदेश मे असुन्दर व अनुचित मानते हैं। इस प्रकार का व्यवहार हमारे जीवन मे प्रत्येक वस्तु के साथ होता है, इससे ज्ञात होता है कि आखिर हमे अनेकान्त की शरण लेनी होगी, अनेकान्त-तत्त्वज्ञान के चौराहे पर खडा होना होगा। जैसे—चौराहे पर खडा सिपाही चारो ओर से आने वाले ट्रैफिक का नियन्त्रण करता है, एक ओर का ट्रैफिक रोकता है, दूसरी ओर का चालू रखता है। इसी प्रकार एक का प्रमुख तो दूसरे का गौण दृष्टिकोण रखकर सतुलन बनाये रखेगे तभी सत्य-ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

अमृतचन्द्राचार्य ने लघुतत्वस्फोट मे कहा है—

स्वयं हि कुम्भादितया न चेद् भवान् भवेद् भवेत् किं बहिरर्थसाधनम्।
त्वयीश कुम्भादितया स्वयं स्थिते प्रभो! किमर्थं बहिरर्थसाधनम्॥१३॥

यदि मिट्टी स्वय, अपने आप कुभ (घडा) बन जाये तो फिर उसके लिये दण्ड की, चाक की, कुम्हार की क्या आवश्यकता है? वह मिट्टी अपने आप घडा बन जाये, स्वय ही उसमे पानी भर जाये, आप को पिला दे, तो फिर पुरुषार्थ की क्या आवश्यकता है? सारे साधन हैं पर कुम्हार नही हो तो भी घडा नही बन सकता। कुम्हार है, पर मिट्टी आदि नही तो भी घडा नही बन सकता। बिना साधनो के, बिना पुरुषार्थ के तथा बिना विधि के कुम्भ स्वय नही बन सकता।

इस देश मे दैववाद ने बहुत हानि पहुँचायी है कि ऐसा होना ही था, ऐसा ही होगा। प० टोडरमलजी ने इसलिये कहा है—'होनहार काल-लब्धि कछु नाहि, जो करे, जो होवे वही काल-लब्धि है, होनहार हैं।' टोडरमलजी दैववाद से निकम्मे बनने वालो को बचा रहे है, सोने वालो को जगा रहे है।

इस ससार मे अच्छाई या बुराई सब पुरुषार्थ के द्वारा ही होती है, बिना पुरुषार्थ के कोई वस्तु नही हो सकती। यदि वस्तुयें बिना पुरुषार्थ के, स्वय ही निर्माण हो जायें तो फिर भाग-दौड की, दौड-धूप की आवश्यकता क्या है?

किसान कितना परिश्रम करता है, धूप, वारिश, ठड, मव कुछ सहन करता है, हमे उसके पुरुपार्थ, मेहनत, का पता नही होता, जव हम भी वैसी मेहनत करें तभी ज्ञात होगा। किसान से वढकर कौन महान् है ? कोई वहुत पढे लिखे, डिग्रीधारी व्यक्तियो को वडा या महान् समझते हैं। पर किसान अत्यन्त परिश्रम के साथ एक वीज से ढेर सारा अनाज उत्पन्न करता है, शाति के साथ जीता है और सवको शाति से जीने के लिये अनाज वितरित करता है और दूसरी ओर ये कॉलेज मे पढने वाले, डिग्री लेने वाले, उपद्रव करते हैं, आग लगाते है, तोड-फोड करते हैं, यह पढाई किस काम की ? हमारे यहा सिर्फ ज्ञान की कीमत नही, उसके साथ उसी के अनुकूल पुरुपार्थ-आचरण हो, तभी उसकी कीमत है। जव तक नागरिक सभ्य-मस्कृत नही होगा, पुरुपार्थी नही होगा तव तक वह सफल नही हो सकता।

क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जो सिर्फ ब्राह्मणो की वस्ती वसा कर दिखा मके ? उस वस्ती मे दर्जी का कार्य भी ब्राह्मण ही करे, वढईगिरी का कार्य ब्राह्मण ही करे, हरिजनो का कार्य भी ब्राह्मण ही करे, क्या यह सम्भव है ? सवके सहयोग व उपकार से ही समाज व्यवस्थित रह सकता है। हम अपने जीवन मे दूध-घी पशुओ से प्राप्त करते है, जीवन मे उनका भी सहयोग है। यदि इनका सहयोग न मानें तो ज्ञात होता है कि हम धर्मान्धता व दिव्य-दर्शन मे फर्क नही मानते। धर्मान्धता सरल है, यह जितनी शीघ्रता से प्राप्त होती है, उतनी ही शीघ्र पतित-पातिनी भी होती है, पर दिव्यदर्शन मे आत्म-दर्शन है। दिव्यदर्शन मे वह ज्ञाता-द्रष्टा के रूप मे ससार को देखता है, किसी को छोटा नही समझता, किमी को तिरस्कृत दृष्टि से नही देखता, विश्व के समस्त प्राणियो को आत्माओ को अपने समान देखता-समझता है। समस्त आत्मा का धर्म एक है। आत्मा ब्राह्मण या ईसाई नही है, अन्यथा वताइये गधा किस जाति का है ? गधा ब्राह्मण है अथवा ईसाई ? आज चिन्तन कूपमण्डूकवृत्तिमय हो रहा है। चिन्तन उदार विशाल व वीतराग दृष्टि वाला तभी हो मकता है जव अनेकान्त दृष्टि से चिन्तन करेंगे, एकान्त से नही। एकान्त मनुष्य को डुवो देता है, मनुष्यत्व को समाप्त कर देता है, उसके चिन्तन को कुण्ठित कर देता है।

सव कीडे-मकोडे, पेड-पौधे, सव मे जीवत्व शक्ति है, ये भी जीव है। इनके सहयोग के विना मानव जीवित नही रह सकता। पेड-पौधो के अभाव मे क्या मानव-जीवन सम्भव है ? खाद्य सामग्री प्रदान करने के साथ ये पेड-

पौधे प्रकृति का सौन्दर्य बढाते हैं और वायुमण्डल को दूषित होने से भी बचाते हैं। ब्रिटेन मे यह सिद्ध कर दिया गया है कि पेड-पौधो के बीच रहने वाला मानव स्वस्थ व निरोग रहता है।

भगवान् महावीर ने केवल मानव संस्कृति का नहीं प्राणी संस्कृति का विधान किया है। उन्होने एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय, सज्ञी पचेन्द्रिय व सिद्धालय तक के समस्त जीवो मे परमात्मा का दर्शन किया। समन्तभद्र ने बताया है कि इनमे परमात्मा का दर्शन कैसे किया गया है —

'अहिंसा भूताना जगति विदित ब्रह्म परम।"

उन्होने अहिंसा के द्वारा कृमि-कीटो मे भी अपने समान जीव देखा। वह अहिंसा ही ब्रह्म है, धर्म है। वीतराग-परमात्मा के ज्ञान मे व हमारे ज्ञान मे द्रव्यदृष्टि से कोई अन्तर नही है। वह प्रत्यक्ष जानते हैं हम परोक्ष जानते हैं, वे युगपत् जानते हैं, हम क्रम से जानते हैं, पर ज्ञान दोनो मे है, प्रगट कितना किया, विकसित कितना किया, इतना ही अन्तर है। हम राग व मोह के कारण फस रहे हैं, वे राग-मोह रहित है।

मैं वह हूँ जो है भगवान्,
जो मैं हूँ वह है भगवान्।
अन्तर यही ऊपरी जान,
वे विराग, यह राग वितान ॥

यह राग और मोह ही हमे सकीर्णता व कूपमण्डूक वृत्ति मे डालता है। आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि —

पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तत्रैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति।
तथेति वक्तु मृतरुढ गौरवादहन्नजात प्रथयन्तुविद्विष ॥

द्वात्रिंशिका — ६।२

यह मान्यता कि ये हमारे पुराने विचार हैं इसलिये श्रेष्ठ हैं, ये नये विचार हैं, इसलिये श्रेष्ठ हैं, भ्रामक हैं, गलत है। न पुरातन ही श्रेष्ठ है, न नया ही श्रेष्ठ है, न वर्तमान ही श्रेष्ठ है, केवल सत्य ही श्रेष्ठ है। सत्य

किसकी देन है ? सत्य न महावीर की देन है, न राम की देम है। सत्य प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है। महावीर ने केवल उसे अनुभूत कर प्रगट किया है। स्वय उस मार्ग पर चलकर उसको प्रशस्त किया है और उस धर्म मार्ग पर सत्य मार्ग पर चलने से ही वे महावीर बने।

हम महावीर की जय बोलते है, राम की जय बोलते है, पर चिन्तन कीजिये कि उनके बताये हुये मार्ग पर कितना चलते है ? यदि उनके बताये मार्ग पर नही चलते तो उनका नाम लेने का, उनकी जय बोलने का क्या अधिकार है ? प० टोडरमलजी की जय बोलते है तो उनके पदचिह्नो पर चलकर दिखाना है। गाधीजी का नाम लेकर वोट मागने वाले यदि उनके बताये मार्ग पर न चले, तो उनका नाम लेने का उनके नाम से वोट मागने का क्या अधिकार है ?

तत्त्वज्ञान से कोसो दूर रहने वाले शुष्क-मस्तिष्क की कोई कीमत नही। हमे ज्ञान व क्रिया का सामन्जस्य बैठाना होगा। ज्ञान रहित क्रिया व क्रिया रहित ज्ञान दोनो ही हानिकारक है।

हतंज्ञान क्रिया हीनं, हता च अज्ञानिना क्रिया।
धावन्न किलान्धको दग्धा, पश्यन् अपि च पगुलः॥

जो जीवादि पदार्थ का, आत्मा का चिन्तन करता है वह अपनी आत्मा की स्वतन्त्रता कायम रखते हुये समस्त आत्मा को स्व-समान समझता है। **चैतन्य-चैतन्य मे स्वरूपगत दृष्टि से कोई भेद नहीं है। इसलिये धवला, महाधवला मे आचार्यो ने, आचार्य नेमिचन्द्र ने, सब ने पूछा—'सव्वे शुद्धा शुद्धनया'। निगोद काय से सिद्धालय तक के जीव एक समान है, उनमे द्रव्य-दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। यही सही आस्तिक दृष्टि है।** सकीर्णता मे डूब कर केवल अपने परिवार-धर्म के प्रति ही विश्वास व आस्था रखना आस्तिकता नही है। केवल अपने परिवार को, अपने धर्म को अपना समझे शेप को पराया, यह अपने-पराये की दीवार हटाये विना दृष्टि, चिन्तन सम्यक् नही हो सकता। वह स्याद्वादी नही बन सकता, जो यह कहे कि—मैं कहूँ वही सत्य है शेप सब असत्य। स्याद्वाद-अनेकान्त दृष्टि रखने पर ही हम महावीर के सच्चे अनुयायी बन सकते हैं।

जिसमे सत्य है, जो सत्यमय है, वही धर्म है, भगवान् है। हम केवल

अपने पूर्वजो का, महापुरुषो का महान् आत्माओ का नाम स्मरण करें, उनकी जय बोले, स्वय उस पर शक्ति अनुसार आचरण न करे तो कभी भी सफलता नही मिल सकती।

आज विज्ञान युग है। इसमे विज्ञान के नाम मे जो कुछ भी कहा जाये वह सब सत्य है और आज विज्ञान की स्थिति यह है कि एक वैज्ञानिक एक तथ्य को प्रस्तुत करता है और दूसरा उसका खण्डन कर देता है। सत्य का कभी खण्डन नही हो सकता। अग्नि अनादि काल से जलती आ रही है, क्या कोई इसका खण्डन कर सकता है? वह स्वय जलती है, पर सर्वथा दूसरो को, सबको नही जलाती, यदि वह सबको जलाती तो फिर आकाश को क्यो नही जलाती? वह कागज को, शरीर को जला देती है, पर आत्मा को नही जलाती। आत्मा को, आकाश को जलाने की शक्ति उसमे नही है। इसीलिये तत्त्वज्ञो ने कहा कि—आत्मा निराकार, निरजन, चैतन्यमय है, न वायु इसे सुखा सकती है, न आग इसे जला सकती है, न तलवार इसके टुकडे कर सकती है, न पानी इसे गीला कर सकता है, इस अजर-अमर आत्मा के प्रति जब यह विश्वास होगा तभी वह आस्तिक होगा, तभी दृढता आयेगी व अनुभूति के लिये सक्षम होगा और अमरता प्राप्त करने के लिये बढ सकेगा।

कोई कहता है कि—पेड-पौधे सुन्दर है, कोई नदी-तालाबो को सुन्दर बताते हैं, तो कोई पहाडो-गुफाओ को, पर कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि—इन वस्तुओ को जानने की शक्ति आत्मा मे है। अत आत्मा के समान सुन्दर वस्तु अन्य कोई नही। समस्त बाह्य सौन्दर्य को जानने वाला सबसे सुन्दर है। हम आत्मा के सौन्दर्य को भूलकर बहिरग सौन्दर्य पर ही मोहित हो रहे हैं। जब हम आत्मा के सौन्दर्य को देखेंगे, पहचानेगे, उसका अनुभव करेंगे तभी हमारी दृष्टि सम्यक् होगी, कर्मो का नाश होगा और तभी सासारिक दु खो से मुक्त होगे।

दुनिया मे अनेक पक्ष है। एक पक्ष यह है कि इस दुनिया को ब्रह्मा ने बनाया है। यदि कुछ समय के लिये यह मानले तो जिस ब्रह्मा ने हमे बनाया है, उसी ने इन पशु-पक्षियो को भी बनाया है, अन्य मानवो को भी बनाया है। फिर जब पशु-पक्षियो का शिकार, मानव-जाति पर अत्याचार करते है तो क्या उस सृष्टा-ब्रह्मा के विरुद्ध कार्य नही करते? अपने सृष्टा के विरुद्ध कार्य करना, क्या नीतियुक्त है?

हमे केवल मानवीय दृष्टि व सस्कृति पर ही चिन्तन नही करना है। हमे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल, छहो द्रव्यो का चिन्तन करते हुये अपनी आत्मा का वीतराग भाव मे चिन्तन करना होगा, तभी दृष्टि विशाल बनेगी। मानव-जाति तक ही सीमित न रहते हुये प्राणी-मात्र के अन्दर चैतन्य का दर्शन करना है। हमे एकागी नही बनना, अनेकान्त दृष्टि रखने पर ही समस्त ससार मे से चीरते हुये तत्त्वज्ञान को, सत्य को पा सकेंगे। हम दोनो पैर से ही सम्यक् गति से चल सकते हैं, दूसरा सहारा लेना पडता है।

सब प्राणियो मे जीवत्व को पहचानेगे, समझेंगे, तभी दूसरे जीवो के प्रति सम्मान की भावना रख सकेंगे। तभी 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्', को समझ सकेंगे और तभी जीवन की अनेक बाधाओ व दु खो से मुक्त हो सकेंगे।

कोई हमे, प्यास लगने पर पानी पिलाकर तृप्त करता है, तो हम उसका भी उपकार मानते है, तो जिन सर्वज्ञ-वीतराग भगवान् ने हमारे आत्म-कल्याण के लिये चिन्तन दिया, मार्ग प्रशस्त किया है, उनका हम उपकार न माने इससे बडी कृतघ्नता व विडम्बना क्या होगी? हमारे वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकरो ने अपनी दिव्यध्वनि, दिव्य अर्थो की ध्वनि के द्वारा हमारी आत्मा को परमात्मा बनाने की विधि बताई है, हम उनके ऋण से कैसे मुक्त हो सकते है?

यदि हम किसी गलती पर हो तो हमे तुरन्त अपनी गलती महसूस कर लेनी चाहिये, स्वीकार कर लेनी चाहिये, उसे स्वीकार करने मे हिच-किचाहट क्यो? जब कभी कोई असत्य बोलता है तो उस असत्य को सत्य सिद्ध करने के लिये अनेक बहाने ढूढता है। इसलिये आचार्यो ने अधिक बोलने के लिये मना किया है, क्योकि बोलने के पश्चात् उन शब्दो के गुलाम हो जाओगे। तभी तो तीर्थंकर भी सर्वज्ञता प्राप्ति के बाद ही बोले, तभी उनकी वाणी खिरती है। छद्मस्थ जीव के तो मिथ्यात्व के कारण वीतराग वाणी निकल ही नही सकती, इसलिये वह अपने कथन का गुलाम होता है।

सत्य की पूर्णता को मापना आसान नही है। सत्य कही बाजार मे नही मिलता, वह आत्मा की आवाज है, वह आत्मा मे से ही प्रसूत होगा। सत्य की प्राप्ति तपस्या से, विनम्रता से होगी, सत्य किसी जाति विशेष मे,

धर्म विशेष मे जन्म लेने से प्राप्त नही होता। यह तो प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है। ससार के समस्त प्रपच मे रच-पचकर आखिर सत्य की प्राप्ति के लिये आध्यात्मिक जगत् की ओर लौटना होता है।

आज स्वीडन सरकार ने हिंसात्मक अस्त्र-शस्त्रो के प्लास्टिक खिलौनो के रूप मे प्रचलन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया है, जैसे टैंक, पिस्तौल आदि, क्योकि इनसे इसी प्रकार की हिंसात्मक भावना उत्पन्न होती है। इसीलिये भगवान् महावीर ने भावहिंसा को भी त्याज्य माना है। हम अहिंसक देश-वासी आज हिंसात्मक कार्यो मे मग्न है। यदि हम सुख-शाति चाहते है तो हमे अहिंसा की ओर लौटकर आना होगा।

हमे प्राणी-मात्र के प्रति कल्याणकारी भावना रखनी होगी। मानव-जाति के प्रति सेवा-भावना रखनी होगी, सेवा मानव-जीवन के लिये कल्याण-कारी है। जब आपको कोई तकलीफ होती है तो आप तुरन्त डॉक्टर के पास, वकील के पास भागते है, इनका सहयोग लेते है। समाज मे, देश मे परस्पर सहयोग की, सेवा भावना की, सहिष्णुता की आवश्यकता है।

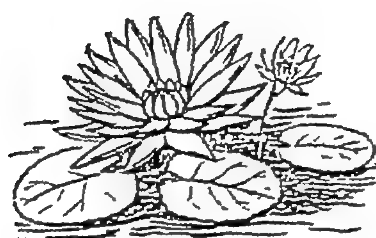
यह नगर विकास न्यास भी तभी सफल व विकसित होगा जब यहाँ के कर्मचारियो की अपने कर्तव्य व देश के प्रति निष्ठा हो। उनकी विचारधारा स्वच्छ व निर्मल हो।

जब तक कर्तव्य बोध की भावना व कर्तव्य बोध नही होगा तब तक नागरिक, नगर विकास न्यास और सरकार सफल नही हो सकते। आज देश मे सर्वत्र, सब कर्तव्य को भूलकर केवल अधिकार की बाते करते है, इसलिये हमारा देश उन्नत नही हो पाया, वातावरण अशात हो गया। सफलता की कुजी कर्तव्य-पालन है। इसी से देश उन्नत होगा। नागरिको मे राष्ट्रीय, मानवीय व प्राणी-मात्र के कल्याण की भावना होगी तभी देश आदर्श बन सकेगा। केवल सुन्दर-साफ सडके, सुन्दर भवन बनाने से, शस्त्रास्त्र इकट्ठा कर होड से, देश विकसित नही होगा। चाहे मत्री हो या नागरिक सबको अपने कर्तव्य को निभाना होगा।

रूस मे टेलिविजन पर राष्ट्रीय ध्वज दीखते ही वहाँ के एक छोटे से बच्चे ने भी स्वय खडे होकर राष्ट्रीय ध्वज को सम्मान दिया, अर्थात् वहाँ

छोटे से बालक में भी राष्ट्रीय भावना है। जब तक राष्ट्र के प्रति श्रद्धा-विश्वास नही होगा तब तक विकास नही हो सकता। सोचिये, जिसका अन्न-जल ग्रहण करते हो उनके प्रति कैसे कृतघ्न हो रहे हो ?

आध्यात्मिक दृष्टिकोण मे, निश्चयनय मे, तो यह शरीर भी अपना नही है, राष्ट्र क्या ? पर व्यवहार में इन सबको सम्मान देना होगा। न्याय-नीति के साथ गरीबो को भी आवश्यक सुविधाये प्राप्त हो, नगर विकास न्यास की यही भावना व कर्तव्य होना चाहिये। प्राणी-मात्र सुखी रहे यही भावना हो।



☐ ससार की कोई वस्तु ऐसी नहीं हैं जिसे काल स्पर्श नहीं करता हो। जैसे माला के पुष्पों में से सूत निकलता हैं वैसे ही काल समस्त जड़-चेतना को विद्ध कर स्थित रहता हैं। जन्म और मरण के स्मृतिपल समयाकन से जाने जाते हैं। काल ने बलि को इन्द्र बनाया और काल ने ही उसे हटा दिया—"समय एव करोति बलाबलम्" अर्थात् बलवान् तथा निर्बल समय के ही पर्याय हैं।

☐ दीपक अधेरे में जलता हैं, जहाँ प्रकाश का अभाव हैं, वहाँ जा पहुचता हैं। दीपक के उपादान बहुत सीमित हैं—रुई, तेल और मिट्टी, परन्तु उसका दान असीमित हैं।

कर सेवा जन जन की.... ..

सेवा व्यवहार दृष्टि से धर्म है। धर्म केवल मन्दिर जाने मे ही नही है। यदि हम मानवीय धर्म छोड देते है, तो माला-जपना, शास्त्र पढना सब अधूरे है। जो परिग्रह की चिन्ता मे लगे रहे, वे सब बह गये और जिन्होने परिग्रह को छोड दिया, वे बच गये।

सेवा धर्म का अग है। एक जीव दूसरे जीव की सेवा व उपकार करके ही जीवित रह सकता है। जो सेवा को धर्म नही समझते, वे अज्ञान मे हैं। यदि आप सेवा न कर सके, तो अनुमोदना तो कीजिये।

शास्त्रो मे आचार्यों ने 'मनु' से मनुष्य की उत्पत्ति बताई है। गोम्मटसार मे भी कहा है कि मनु मनुष्य का मार्गदर्शन करते है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से मान कषाय की अधिकता के कारण मनुष्य (गति) कहा गया है। मनु की परम्परा मे होने के कारण ही मनुष्य कहलाये।

समाज, धर्म व तत्त्वज्ञान, ये परस्पर पूरक है। धर्म व समाज के बीच की कडी है—मनुष्य। मनुष्य जन्मता है, अपना कल्याण करता है। अपने कल्याण के साथ वह दूसरे का मार्गदर्शक भी बन सकता है। मार्गदशक के व्यवहार मे, समाज मे व शास्त्रो मे बहुत से भेद-प्रभेद है। उनमे से एक भेद **सेवा** है। बहुत से कवियो ने लिखा है—

'सेवा धर्म समाज की, आगम के अनुकूल'

सेवा क्या चीज है ? इसके लिये तत्त्वार्थसूत्र मे लिखा है—'परोस्परोपग्रहो जीवानाम्'। सेवा धर्म का सलाहकार है, सेवा भी धर्म है। धर्म का दो

दृष्टिकोणो से विचार किया गया है। १ व्यावहारिक दृष्टि व २ निश्चय दृष्टि। सेवा व्यवहार दृष्टि से धर्म है।

प्राकृतिक चीजो मे निरपेक्ष-सेवा भाव दिखाई देता है जैसे पेड, पहाड आदि। कई जीव भी निरपेक्ष सेवी होते है जैसे—गाय। आप गाय को सूखी घास, तिनके देते हैं और वह आपको अमृत-कलश, दूध देती है। आपसे वह पैसा-धन क्या चाहती है? कुछ नही। केवल घास व जल चाहती है। ये दोनो चीजे आप उसे देते है, इसके प्रतिदान मे वह आपको दूध दे देती है वह अपने सिर पर आपका एहसान नही रखती। उससे ज्यादा दूध प्राप्त होने पर दूध बेचकर धन-लाभ भी करते हैं। आपने अपने स्वार्थ के लिये सूखी घास व तिनके दिये, इसके बदले मे उसने क्षीर सरिता बहादी। उसके दूध से मानव-जाति को कितना पोषण प्राप्त होता है पर क्या उसके मन मे आपसे कुछ प्राप्त करने की लालसा है? उसे कोई चाह नही है, वह नि स्वार्थ सेवा करती है। साधु भी गृहस्थ से प्रतिदान मे आहार लेता है, पर उस गाय मे कोई चाह नही है, उसे जो घास ग्रास के रूप मे देते है वह भी निज-स्वार्थ के लिये। ऐसी सेवा महान् है। पेड है, वह फल देता है, छाया देता है, लकडी देता है अर्थात् प्रकृति की सारी चीजे परोपकारी है, परोपकार के लिये है। इसीलिये हमारे आचार्यो ने 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' कहा। प्रकृति की सब वस्तुयें जीवो के उपकार के लिये है। पहाड से पत्थर निकालते हैं, उनसे मन्दिर, मूर्ति, मकान आदि बनवाते हैं। पेड एकेन्द्रिय जीव है, उसका फल देने के पीछे, पहाड की पत्थर देने के पीछे क्या इच्छा है? इनका जीवन ही परोपकार के लिये है। पेड धूप सहन करता है, सर्दी सहन करता है, वर्षा सहन करता है, तब आपको फल प्रदान करता है। पेड को झुककर एक घडा पानी नित्य दे देते है और वर्षो तक वह फल देता रहता है।

जब हम प्रकृति पर दृष्टि डालते है तो देखते है कि प्रकृति के मनुष्य पर बहुत उपकार हैं। बादल समुद्र मे जल लेता है, लेता रहता है, इसलिये उसका मुह काला हो जाता है, पर जब वह देने लगता है तो देता जाता है और तब उसका मुह स्वच्छ, उज्ज्वल-धवल हो जाता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य केवल लेता ही रहे, देवे नही तो ससार खत्म हो जाय, नष्ट हो जाय। वह भी सद्गति नही प्राप्त कर पाये। इसीलिये उसके लिये सेवा-भाव आवश्यक बताया है। आचार्य शिवकोटि ने भगवती-आराधना मे (गाथा सख्या ३३३) कहा है कि—**जो सेवाभावी हैं, परोपकारी हैं, जो मन-वचन-**

काय व तन-मन-धन से सेवा करते हैं उनके तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है।

मॉं, बच्चो की सेवा करती है। क्या उसमे उसका कोई स्वार्थ निहित है ? बच्चे की सेवा मे माँ का किंचित् स्वार्थ है—मेरा बेटा बडा होगा, बहू आयेगी, वो हमारी सेवा करेगी। पर पशु-पक्षियो मे यह भावना नही होती कि हमारी सन्तान बडी होगी, बेटे की बहू आयेगी, वह हमारी सेवा करेगी, वे हमारे लिये अनाज के दाने लाकर देगे आदि। चिड़ियाँ आदि भी अपने बच्चो से यह वाछा नही रखती कि ये बडे होकर मेरे हाथ-पैर दबायेंगे, मेरी सेवा करेगे दाने-चुग्गा लाकर देगे। किन्तु मनुष्य चाहता है कि मैंने इस पुत्र को जन्म दिया है तो यह जीवन भर मेरी सेवा करे, हाथ-पैर दबावे, बहू भी आवे तो वह भी मेरी सेवा करे। यद्यपि मनुष्य सबसे बुद्धिमान प्राणी है पर स्वार्थवश माँ भी अपने बच्चे से सेवा की आकाक्षा रखती है। पर कुछ बच्चे बडे होकर अपने माता-पिता की सेवा नही करते, उनका तिरस्कार करते है।

तीन वर्ष पूर्व की घटना है। ब्रिटेन मे एक अत्यन्त धनी परिवार मे एक पुत्र व पुत्री, दो सन्तानें थी। पुत्र बडा होकर व्यवसाय हेतु दूसरे शहर मे जाकर रहने लगा। पुत्री ससुराल चली गई। घर मे केवल माँ बच गई, अब उसका मन न लगता। मन लगाने के लिये माँ ने एक कुत्ता पाल लिया, उसके कार्यो मे स्वय को व्यस्त रखने लगी। एक बार बहुत दिनो तक उस घर का दरवाजा ही नही खुला। बिजली-विभाग वाले, टेलिफोन-विभाग वाले आये। दरवाजे खट खटा कर चले गये। इस तरह छ महिने व्यतीत हो गये। तब कुछ लोगो ने पुलिस को सूचित किया। पुलिस आई, दरवाजा तोडा गया तो देखा वह महिला मरी पडी है, पास ही उसका कुत्ता मरा पडा है, उनके शवो पर कीडे-मकोडे तैर रहे थे केवल हड्डी के ककाल, ढाचे मात्र रह गये थे। वहाँ की विधान सभा मे इस घटना की चर्चा चली कि–यह कैसा जीवन है कि पुत्र-पुत्री तक को यह ज्ञात नही कि हमारी जन्म-दात्री मर गई है, उन्होने अपनी माँ की कभी खबर ही नही ली। अन्तिम समय भगवान का नाम सुनाना, सेवा-उपचार करना कुछ भी तो नही हुआ। हम ब्रिटेनवासियो का जीवन कुत्ते के जीवन से भी गया बीता हो गया। हमारा वैभव, सम्पत्ति बेकार है। इस प्रकार का जीवन तो पशुओ से भी निम्न स्तर का है।

इसीलिये महात्मा बुद्ध ने अपने उपदेशो मे बार-बार कहा कि—माता-पिता की सेवा करो, बुजुर्गो की सेवा करो, रोगियो की सेवा करो। उन्होने व्यावहारिक जीवन के इस पहलू पर बहुत अधिक जोर दिया। एक बौद्ध-भिक्षु

आनन्द कौशावी ने चातुर्यामधर्म व अहिंसा-धर्म नाम की पुस्तके लिखी। चातुर्यामधर्म (पुस्तक का प्रकाशन बम्बई मे हुआ है जिसका प्राक्कथन काका कालेलकर ने लिखा है) मे उन्होने कहा कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ के युग मे सेवा-भाव केवल जैनों मे ही था। ईसाईयो ने भी सेवाभाव वही से प्राप्त किया है। जैनो ने तो आज सेवाभाव छोड दिया, पर उन्होने ग्रहण कर लिया। जीवन्धर राजकुमार ने कुत्ते को णमोकार मत्र सुनाया उसकी सेवा की। तभी तो आशाधर सूरि ने कहा कि यदि पुत्र अपने माता-पिता की सौ वर्ष तक भी सेवा करता है तब भी वह उनके ऋण से मुक्त नही हो सकता। उन्होने पुत्र को, माता-पिता की तन-मन-धन व मन-वचन-काय से सेवा करने का उपदेश दिया। ऐसा उन्होने इसलिये कहा कि पशु-पक्षी तो यह चाहते ही नही है कि हमारी सतान हमारी सेवा करे, वे तो स्वावलम्बी होकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं और जो चाहते हैं कि हमारा पुत्र हमारी सेवा करे तो उनके पुत्र उनकी सेवा नही करते। फिर भी अभी मानव-समाज मे बहुत से ऐसे पुत्र हैं जो अपने माता-पिता की सेवा करते हैं।

मैं मध्यप्रदेश मे महावीरजी आ रहा था। मार्ग मे एक स्थान पर देखा कि एक युवक अपने वृद्ध पिता को गोद मे उठाकर बैल गाडी तक ले जा रहा है। पिता ने बहुत कहा कि—मैं स्वय ही चला जाऊगा, पर बेटे ने कहा—नही पिताजी, आपने मुझ पर इतने उपकार किये हैं, गोद मे खिलाया है, तो मैं आपको कैसे धूप मे पैदल चलने दू ? मैंने देखा, एक अनपढ किसान मे भी सेवाधर्म विद्यमान है। उसको किस आशाधर सूरि ने सेवा भाव सिखाया ? किस पडितजी ने सेवा पाठ पढाया कि तुम माता-पिता की सेवा करो ? केवल स्कूल-कालेज मे डिग्री लेने मात्र से कोई ज्ञानी व बडा नही हो जाता। वह गाव का अनपढ किसान भी एम ए की डिग्री से बडा ज्ञानी था, क्योकि वह अपने वृद्ध पिता की तन-मन से सेवा कर रहा था।

आप चाहे कि आपके पुत्र आपकी सेवा करें, पर आप अपने माता-पिता की, दूसरो की सेवा न करें, यह कैसे सम्भव है ? यदि आपने अपने माता-पिता की सेवा की है तो आपका पुत्र भी आपकी सेवा करेगा। यदि आपने माता-पिता को ठुकराया है, उनका तिरस्कार किया है तो आपका पुत्र भी आपको ठुकरायेगा, आपका तिरस्कार करेगा। इसी आशय से एक आचार्य ने कारिका लिखी—

जावो हरइ कलत्तं वढतो बढ़िमाहरइ।
अत्थं हरइ सम्मत्थो पुत्तसमो वेरियेणत्थि ॥

भावार्थ है कि दुनिया मे कोई वैरी है तो एक शत्रु है व दूसरा पुत्र है। प्राण मे प्यारा पुत्र भी वैरी है, यह कैसे ? इसके लिये उन्होने कहा कि—जन्म मे पूर्व वह अपने माता-पिता की शक्ति हरण करता है, जन्म के पश्चात् वह माता द्वारा पिता की सेवा का पचास प्रतिशत भाग हरण कर लेता है। उसे बडा करते हैं, पढाते लिखाते हैं, शादी करते हैं। तब उसे कुछ कहो तो वह कहता है कि हमे उपदेश देने की आवश्यकता नही है। बडे होने पर पुत्र हमारी सेवा करें, इस भावना से उसको सब सुविधायें प्रदान करते है। पर कुछ ऐसे भी लोग हैं दुनिया मे जो अपने पुत्र व उसकी पत्नी से सेवा नही कराते, वे कहते हैं कि हम क्यो उनके गुलाम बनकर रहे ? वे चाहे तो आज भी उनकी सेवा कर दे, पर स्वय की सेवा नही करायेंगे।

मुनियो के मरण के समय सल्लेखना का विधान है, वह इसीलिये कि वे मरण समय किसी के द्वारा भी सेवा न करावे। मरणोन्मुख जीव की पर के द्वारा सेवा भी छोड दी जाती है।

जिनसेनाचार्य ने महापुराण के सोलहवें अध्याय मे लिखा है कि—विवाह के बाद बेटे-बहू को माता-पिता अपने पास न रखें। ऐसा क्यो ? आपके कारण (माता-पिता के कारण) उनकी स्वतन्त्रता मे बाधा उत्पन्न होगी, इसलिये वह बेटा आपका दुश्मन बन जायेगा और फिर वह सेवा नही करेगा। यदि तुम उसको पृथक् कर दोगे, वह अपना भोजन पृथक् बनायेगा तो वह आपकी सेवा के लिये तरस जायेगा। यदि आप उसको गुलाम रखेंगे, यह भावना रखेगे कि वह आपकी सेवा करे तो विस्फोट, विरोध उत्पन्न हो जायेगा। इसीलिये महापुराण मे वर्णलाभ-क्रिया के अन्तर्गत जिनसेनाचार्य ने लिखा कि पुत्र के विवाह के पश्चात् पचो को बुलाकर सिद्ध-परमेष्ठी की पूजा कर, सब के सामने पुत्र को उसके हिस्से का धन देकर उसे पृथक् कर दो। जो धन अपने लिये रखो वह भी उसे सच्चाई के साथ दिखादो-बतादो कि यह मैं अपने लिये रख रहा हू। आचार्य ने कहा कि—पुत्र को गुलाम मत बनाइये, उसे स्वतन्त्र कर दीजिये। वह स्वय सोचेगा कि मुझे मेरे माता-पिता ने जन्म दिया है, उन्होने मुझे पाल-पोस कर इतना बडा किया है, मुझे भी उनकी सेवा करनी चाहिये। यह बात स्वाभाविक रूप से उसके मन मे आयेगी। इस डर से नही कि गली-मोहल्ले वाले क्या कहेंगे, इसलिये कृत्रिमता के साथ सेवा न करें। कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणसार मे कहा है कि बिना भक्ति के सेवक नही बन सकता। सही है—जब तक माता-पिता के प्रति श्रद्धा नही होगी तब तक उनकी तन-मन-धन व मन-वचन-काय से सेवा नही कर सकता। माता-पिता की सेवा तो फिर भी

लोग करते है, पर आचार्यो ने कहा है कि कई व्यक्ति सब की सेवा हेतु कार्य करते हैं, अनेक प्रकार से नि स्वार्थ सेवा करते है, कोई धर्मशाला बनाकर वस्तिका दान करता है, कोई औषधालय खोलता है कि हजारो लोग नीरोगी हो। किसी के पास धन नही है तो वह तन व मन से ही रोगियो की, आने-जाने वालो की सेवा करता है।

मैं हिमालय की तरफ था। उस समय वहाँ बाढ आने के कारण सब तरफ पानी भर गया। हजारो यात्री उसमे फस गये। एक मजिस्ट्रेट उधर से गाडी मे जा रहा था, उन्होंने जब उन हजारो परेशान यात्रियो को देखा जो जान बचाने के लिये दस-पन्द्रह मील से पैदल चले आ रहे थे, जिनका सब सामान बाढ की भेंट हो चुका था। वे रुके और तुरन्त उन लोगो को हजारो रुपये के कपडे, भोजन, कम्बल आदि आवश्यक सामान दिलाये और उन यात्रियो को अपने स्थान तक जाने के लिये टिकटो की व्यवस्था करवाई। वही पर कुछ ऐसे भी दुकानदार थे जो एक कप चाय पाँच रुपये मे दे रहे थे कि यही मौका है धन कमाने का ? धर्म केवल मन्दिर जाने मे ही नही है सेवा मे भी धर्म है। उस मजिस्ट्रेट ने उन यात्रियो की सकट के समय मे सेवा की। उस समय सत्ताईस बसें बाढ मे बह गई, एक बस यात्रियो सहित बह गई, क्योकि वे अपने सामान का लोभ नही छोड सके। जो परिग्रह की चिन्ता मे लगे रहे, वे बह गये और जिन्होने परिग्रह को छोड दिया वे बच गये। तत्त्वार्थ सूत्र मे भी लिखा है कि—"बहुआरभपरिग्रहत्व नारकस्यायुष"। मैं वहाँ जिस धर्मशाला मे ठहरा था, वहाँ भी उन दु खी यात्रियो को ठहराया गया, उनकी व्यवस्था हेतु हमने मेरठ व सरधना के जैन समाज के लोगो से कहा तो मेरठ के शीतलप्रसादजी व सरधना के लोग तुरन्त भोजन, कपडे व कम्बल आदि लेकर आये।

सेवा, मानवीय धर्म है। इसे हम कैसे छोड सकते है ? यदि हम मानवीय धर्म छोड देते हैं तो माला जपना, शास्त्र पढना सब अधूरे है, केवल वहिरग हैं। कुत्ते को, नाग-नागिन को णमोकार मत्र सुनाया, निगोद-काय जीवो को भी आश्वासन दिया, दया को धर्म माना तो सेवा भी तो दया के साथ है। प्राणीमात्र का कल्याण हो, इस दया-भाव के कारण तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है, उनमे आत्मा-परमात्मा के अनुभव के साथ यह भावना भी रहती है कि—"सुखी रहे सब जीव जगत के" —

"क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपाल,
काले काले च वृष्टि वितरतु मघवा व्याधयोयातु नाश,

दुर्भिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्मभूज्जीवलोके,
जैनेन्द्र धर्मचक्रं प्रसरतु सतत सर्वसौख्यप्रदायि ।"

जब आप पूजा करके मन्दिर से बाहर आने लगते है तो हाथ जोड़कर भगवान से प्रार्थना करते है कि—

संपूजकाना प्रतिपालकानां–
यतीन्द्र-सामान्यतपोधनाना ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ
करोतु शाति भगवान् जिनेन्द्र ।

हे भगवान् ! मैंने जो पूजा की वह मेरे लिये ही नही, मेरी शाति के लिये ही नही, जो आपकी पूजा करता है, प्रतिपालक है, यतीन्द्र हैं, सामान्य साधु हैं, उनको देश को, राष्ट्र को, मव नागरिको व समम्त प्राणीमात्र को शाति प्राप्त हो, उनका कल्याण हो, तीनलोक के प्राणियो को सुख शाति मिले। कितनी उच्च भावना है, श्रेष्ठ भावना है ! पूजा स्वय ने की, किन्तु उस पूजा के पुण्य को वाटते चला जा रहा है, सबको बाट रहा है । सबको शाति मिले यही भावना है । जब एक की सेवा से इतना पुण्य मिल सकता है तो समस्त प्राणियो की सेवा-भाव रखने वाले को इतना पुण्य क्यो नही मिलेगा ? जबकि विना किमी फल प्राप्ति की अपेक्षा के, प्राणी मात्र के कल्याण की आपकी भावना है ।

मैं मथुरा मे था, एक सभा मे 'सपूजकाना प्रतिपालकाना' श्लोक के बारे मे ही बोल रहा था । उस ममय राष्ट्रीय स्वय-सेवक सघ के कुछ लोग वहा उपस्थित थे । उन्होने कहा आप यह श्लोक हमे लिख कर दीजिये । हम इसे अपनी प्रार्थना मे रखेंगे । हमे तो ज्ञात ही नही कि जैनधर्म मे इतनी बडी बात कही है । उन्होने इसको लिख लिया, याद कर लिया ।

हमको राष्ट्रीय भावना, सामाजिक भावना, सेवा-भावना हमारे आचार्यों ने दी है, आज उसे हम भूल गये है । जब से हम उन भावनाओ को भूल गये है, तब से दु खी है, कष्ट मे है, एकागी बन गये हैं । हमे जीवित रहना है तो सेवाभाव आवश्यक है । सेवा भी आप अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार करे । आप वचन से भी सेवा कर सकते हैं । मैं कवि कालिदास की एक घटना पुन दोहराता हू ।

एक अत्यन्त गरीब व्यक्ति भूखा था, उसका परिवार, पत्नी व दो नन्हे-नन्हे बच्चे भी भूख से बिलबिला रहे थे । पत्नी के आग्रह पर वह किसी से

धन उधार लेने गया, किन्तु किसी ने कुछ नही दिया। वह उदास खाली हाथ अपने घर वापस लौट आया। जब वह अपने घर की देहरी के पास आया तो सुना कि—पत्नी बच्चो को पिता के आने तक धैर्य रखने के लिये कह रही थी। बच्चे इसी आशा मे बैठे थे। उसने सोचा कि ये मेरी आस लगाये बैठे हैं, यदि मैं खाली हाथ अन्दर जाऊगा तो ये बिल्कुल निराश हो जायेंगे। यह सोचकर वह घर मे न घुसकर जगल की ओर चल दिया, एक पेड के नीचे बैठ गया। वहा अनेक दुश्चिन्ताओ-दुर्भावनाओ से ग्रस्त होता रहा। अन्त मे ऐसे अभावग्रस्त जीवन की अपेक्षा मृत्यु ही अच्छी है, यह सोचकर प्रात आत्महत्या के लिये उद्यत हो गया। आत्म-हत्या के लिये नदी की ओर जाने लगा, नदी के किनारे ही एक किसान का मकई का खेत था, वह पौधो से मकई तोड अपने टोकरे मे इकट्ठे कर रहा था। प्रातःकाल ही नदी के किनारे किसी व्यक्ति को देख उसने अनुमान लगाया कि यह ब्राह्मण होगा, चलो इसे कुछ मकई दे दो। उसने उस गरीब व्यक्ति को आवाज लगाकर बुलाया, वह डरता-डरता उसके पास आया। किसान ने उसे तीन मकई दी। मकई लेकर उसने आत्म-हत्या का विचार त्याग दिया। उस दिन दशहरे का दिन था। उस दिन सब नगरवासी राजा भोज को कुछ भेंट दिया करते थे, बदले मे राजा उन्हे धनधान्य दिया करते थे। उस व्यक्ति ने भी वे तीन मकई राजा भोज को भेंट करने का विचार किया। उन्हें एक कपडे मे बाधकर एक पेड पर लटकाकर वह व्यक्ति नदी मे नहाने चला गया। उसी समय कुछ गाय चराने वाले बालक उधर से गुजर रहे थे, उन्हे वह पोटली पेड पर दिखाई दी, उन्होने उसे खोलकर देखा, तीनो मकई निकाल कर उसके स्थान पर तीन अधजली लकडिया रख कर पोटली यथास्थान पर रखदी। वह व्यक्ति नहा कर आया और पोटली लेकर राज दरबार मे चला गया। जब भेंट करने लगा तो देखा मकई के स्थान पर तीन अधजली लकडिया? वह दुखी हो गया। फिर सोचा, मरना तो है ही, चलो यह लकडिया भेंट कर राजा के हाथो ही मर जाना ठीक है। उसने तीनो अधजली लकडिया ही राजा के सामने प्रस्तुत कर दी। राजा व सब दरबारी यह देखकर आग बबूला हो उठे, सब उसे मारने को उद्यत हो गये, राजा से उसे दण्डित करने की प्रार्थना करने लगे। इतने मे वहाँ बैठे कवि कालिदास के मन मे उस व्यक्ति के प्रति दया उमडी, उन्होने सोचा कि किसी भी भाति इस व्यक्ति को बचाना चाहिये। वे राजा भोज से बोले—राजन्! इन तीन अधजली लकडियो मे कोई तत्वज्ञान, भेद की बात है, ये लकडिया प्रतीकात्मक ढग से कुछ बात कहती है।

राजा ने कहा—ये लकडियां क्या बात कह सकती है ? कालिदास के अधिक आग्रह पर राजा ने कहा—अच्छा बताओ ! ये क्या दर्शाती है ? कालिदास ने कहा—ये तीन लकडिया बताती है कि इस विश्व मे तीन ही महापुरुष हुये है, चौथा पैदा ही नही हुआ। उन तीनो ने तीन बुराइयो को खत्म किया है, प्रथम है भगवान आदिनाथ, जिन्होने समस्त कषायो को कर्मो को जलाकर मुक्ति प्राप्त करली है। द्वितीय हनुमान, जिन्होने मान कषाय के प्रतीक सोने की लका का दहन कर ख्याति प्राप्त की। तृतीय अर्जुन है, जिन्होने खाण्डव वन को भस्म कर दिया। पर इन तीन के अलावा आज तक ऐसा व्यक्ति पैदा न हो सका जो सम्पूर्ण गरीबी को जला सकता हो। राजा भोज ने सोचा—ये ठीक कह रहे है। मै सबकी गरीबी तो दूर नही कर सकता, पर इस एक व्यक्ति की गरीबी तो दूर कर सकता हूँ। बस, यही सोच कर राजा भोज ने उस व्यक्ति को खूब धन-धान्य देकर विदा किया।

कालिदास के स्वय के पास देने को कुछ नही था, पर उस गरीब व्यक्ति के सकट के समय अपने ज्ञान से उसका सकट दूर करवा दिया। मेरा कहना है कि—कई व्यक्ति ऐसे कहते है कि हमारे पास कुछ नही है, हम कैसे क्या सेवा करे ? यह ठीक नही। आपको भी अपनी शक्ति के अनुसार सेवा करनी चाहिये। आचार्य शिवकोटि ने बताया कि—सेवा भाव से तीर्थकर प्रकृति का बध होता है। इसलिये यहां बैठे सब महानुभावो से यही कहना है कि—आप अपने माता-पिता, सास-ससुर, भाई की किसी की भी सेवा कीजिये, पर सेवा-भाव बनाये रखिये। आप आहार-दान कर सेवा कीजिये, औषध दान कर सेवा कीजिये, ज्ञान-दान कर सेवा कीजिये, अभयदान कर, धर्मशाला आदि बनवा कर परोपकार कीजिये।

मनुष्य आखिर सेवाभाव से ही जीवित रह सकता है। तभी तो तत्त्वार्थसूत्र मे 'परोस्परोपग्रहो जीवानाम्' कहा और गोम्मटसार (जीवकाड) मे भी लिखा है कि—

अण्णोण्णुवयारेण य जीवा वट्टंति पुग्गलाणि पुणो।
देहादीणिव्वत्तणकारणभूदा हु णियमेण ।। ६०६ ।।

जीव परस्पर मे उपकार करते है। एक जीव दूसरे जीव की सेवा व उपकार करके ही जीवित रह सकता है। धर्म सीमित नही है, विशाल है। व्यक्तिगत रूप से आत्मकल्याण कर लेने के बाद उससे सबका कल्याण करने की प्रेरणा देते है।

वाल्मिकी ने लिखा है कि—राम ने हनुमान से कहा कि तूने जो मेरी सेवा की है उसे मैं लौटाना नही चाहता। क्योकि सेवा लौटाने का मतलब है तुम पर भी मेरे जैसे सकट व उपसर्ग आदि आवे और उस समय मैं तुम्हारी सेवा करू, तुम्हारे द्वारा की गई सेवा का बदला चुकाऊ। मैं तो चाहता हू कि तुम पर कोई उपसर्ग, कष्ट ही न आवे। यही मेरा आशीर्वाद है। जिसने आपकी सेवा की, आप भी उसकी सेवा चुकाना चाहते हैं, पर ऐसी भावना मत लाइये कि उस पर भी सकट आये और तब आप उसकी सेवा करें। आपने हमारी सेवा की थी तो देखिये हम भी आपकी सेवा कर रहे हैं, यह तो मान कषाय हो जायेगी।

सेवा के बारे मे छोटे बडे का विचार मत कीजिये। यह मत सोचिये कि यह छोटा व्यक्ति है इसलिये इसकी सेवा नही कर सकता। सेवा मे कोई छोटा-बडा नही है। इक्ष्वाकुवश के राजकुमार राम बनवास के समय नदी पार करना चाहते थे, उन्होने एक मल्लाह से पूछा—उस पार जाने का क्या लोगे? मल्लाह ने कहा—कुछ नही लू गा। केवल आशीर्वाद लू गा, मुझे आपकी सेवा का मौका दीजिये। आशीर्वाद दीजिये।

राम ने चौदह वर्ष का वनवास भोगा, पाण्डवो ने बारह वर्ष का वनवास भोगा। कृष्णजी के जन्म व मरण के समय कोई गीत गाने वाला व रोने वाला नही रहा। इन महापुरुषो के जीवन की इन घडियो से यही प्रेरणा ले सकते हैं कि मनुष्य पर कब, कैसे दु ख व सकट आ जावे इसका कोई ठिकाना नही है। इसलिये हमे दूसरो की नि स्वार्थ सेवा करनी चाहिये व सदैव ही सेवा के भाव बनाये रखने चाहिये। जो सेवा को धर्म नही समझते वे अज्ञान मे हैं। यदि सेवाभाव धर्म नही है तो क्यो डाक्टर व हकीम के पास भाग कर जाते हैं?

कुछ लोग स्वार्थवश सेवा करते हैं, यह भी बहुत विचित्र बात है। एक स्थान पर हर आने जाने वाली कार फस जाती थी, दो-चार व्यक्ति मिलकर उसको निकाल देते, कार वाला बदले मे इनाम के रूप मे उनको दस रुपये दे देता। इस प्रकार एक दिन मे दस-बीस कारें फस जाती। एक दिन एक सेठ की कार फस गई उसने सोचा क्या बात है? आते समय भी यही पर कार फस गई थी, लौटते समय भी यही पर कार फसी है। उस समय भी इन्ही लोगो ने कार निकाली थी। सेठजी ने उस कार निकालने वाले व्यक्ति से यह बात पूछी। उसने उत्तर दिया कि मैंने स्वय ने यह दलदल व कीचड फैला

रखा है। मैं यहाँ वैठा रहता हूँ, मेरे आदमी पास ही एक झोपडी मे बैठे रहते हैं, कोई भी कार फस जाती है तो मैं जाकर उन्हे बुलालाता हू, गाडी निकलवा-देता हूँ। इस प्रकार मुझे सौ रुपये प्रतिदिन प्राप्त हो जाते हैं, इनमे से कुछ मैं अपने साथियो को दे देता हू और शेष से स्वय गुजर-बसर करता हू।

वह व्यक्ति पहले स्वय दलदल फैलाता है, इसमे गाडिया फसवाता है, फिर उनकी सेवार्थ उनको निकाल कर उनसे रुपये वसूल करता है। क्या यह उचित है? आप लोग भले ही किसी को सकट मे से न निकाल पाये, सेवा न कर पाये, पर इस प्रकार फसाने के कार्य तो मत करना।

सेवा मौलिक है। जीवन जीना भी एक कला है। वम्बई से आई इन कलत्री वाई का जीवन देखिये। इन्होने अपना सारा जीवन नि स्वार्थ रूप से पर सेवा मे व्यतीत कर दिया। लाखो असहाय विधवाओ, परित्यक्ताओ, माता-पिता के द्वारा भी तिरस्कृत महिलाओ की सेवा कर उन्हे प्रेरणा देकर, प्रेम देकर, पढा लिखाकर योग्य व स्वावलम्वी वनाया है। भयभीत-असहाय महिलाओ को अभयदान दिया है, जीने की प्रेरणा दी है, मार्गदर्शन दिया है। आप अत्यन्त विदुषी महिला हैं। इस समय आपकी उम्र बयासी वर्ष की है, किन्तु कार्य करने मे अभी भी अत्यन्त उत्साही है। आप दस वर्ष तक विधान सभा की सदस्या भी रही हैं। ससुराल से तिरस्कृत महिलाओ को माता-पिता, भाई-भाभी अपने पर वोझ समझने लगते है, इसीलिये जिनसेनाचार्य ने महा-पुराण मे कहा है कि—पुत्री भी पिता के धन की पुत्र के समान हकदार है। हमारी सरकार ने इस तथ्य पर अव विचार किया है जवकि जिनसेनाचार्य ने सैकडो वर्ष पूर्व यह तथ्य प्रस्तुत कर दिया था। कलत्री वाई ने हजारो ऐसी महिलाओ को अभयदान दिया है। अभयदान का भी वहुत महत्व है। हमारे यहा चौदह मनु हुये हैं जिन्होने सवने अभयदान दिया। इतिहास मे उल्लेख है कि वृषभदेव ने सर्व प्रथम अभयदान दिया था, भागवत् मे भी इसका उल्लेख है।

कलत्री वाई ने स्वय अपना जीवन समाज के लिये अर्पित कर दिया। भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी ने चदावाई आरा के लिये एक स्थान पर लिखा था कि—प्रकृति ने, किस्मत ने, चन्दावाई को विधवा वनाकर एक अच्छा कार्य किया, लाखो का उपकार कर दिया। यदि ये स्वय के परिवार मे ही सीमित रहती तो अपने पारिवारिक सदस्यो की सेवा मे ही समय व्यतीत कर देती पर विधवा होने से आज लाखो महिलाओ की सेवा कर रही हैं। इसी प्रकार ये कलत्री वाई भी आज परिवार की सीमा से वाहर निकलकर लाखो कन्याओ व

महिलाओ की सेवा कर चुकी हैं। ऐसी प्राकृतिक विपदाओ मे भी कभी-कभी समाज की भलाई (हित) निहित होती है। इनकी सेवायें समाज मे स्वर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है। आप अत्यन्त धार्मिक विचारो वाली, शुद्ध-आचार वाली महिला हैं। स्वय दूसरो की सेवा मे सलग्न हैं, पर स्वय दूसरे से सेवा कराने की भावना नही रखती।

जो महिलायें स्वय को असहाय समझती हैं, वे इनके जीवन से प्रेरणा लें। भगवान महावीर ने कहा था कि "महिलायें भी अनन्त शक्तिशाली हैं, सवकी आत्मा समान है।" एक महिला लाखो महिलाओ की सेवा उपचार कर सकती है, उनका मार्गदर्शन कर सकती है तो आप क्यो नही कर सकती ? मनोवल मजवूत वनाना पहला कर्तव्य है, तभी आप आगे वढ सकती हैं। राष्ट्रीय, सामाजिक सेवाये करने वाले के प्रति उपकृत रहना चाहिये। सम्राट अशोक ने पशु पक्षियो के प्रति सेवाभाव रखा, उनके लिये अस्पताल खोले। आज भी ऐसे अस्पताल खोले जा रहे हैं। हमारा धर्म ही सेवा है। जव तक समाज मे सेवाभाव नही होगा, समाज आदर्श नही हो सकता। माता-पिता, पडौसी, असहाय सवकी सेवा करना चाहिये।

आपके इस शहर मे ही ऐसे भी लोग हुये हैं जो स्वाभिमानी असमर्थों के पास चुपचाप, गुप्त रूप से धनादि की सहायता पहुचा देते थे। सेवा धर्म का अग है, सलाहकार है, तन-मन-धन से नि स्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए। यदि आप सेवा न कर सकें तो अनुमोदना तो कीजिये। पूर्व जन्म मे आहार दान की अनुमोदना करने से अगले भव मे वे जीव भरत वाहुवली वनकर भगवान् आदिनाथ के घर जन्मे। सेवा की अनुमोदना का फल अवश्य मिलेगा। जैसे— न्यायालय मे, किसी षडयत्र की अनुमोदना करने पर, दण्ड मिलता है, पुलिस वाले खोज खवर कर उसे पकड ले जाते हैं। आप अच्छे कार्य की अनुमोदना कीजिये, वुरे की नही।

एक शास्त्र लिखने से हजारो प्राणी लाभान्वित होते है। अत सदैव धर्म के अनुकूल सेवा भाव रखने चाहिये व सेवा करनी चाहिये। इसीलिये कहा है कि—

सेवा धर्म समाज की, आगम के अनुकूल

———

अशान्ति का कारण राग है !

विपरीत आचरण की, बुराई की, जड राग है। पर-पदार्थ से राग ही दु ख की जड है। स्व-पदार्थ पर भी राग घातक होता है तो फिर पर-पदार्थ के राग का तो कहना ही क्या ? राग आग है, यह ही सव दु खो की जड है। सेवा व अहिंसक भाव धर्म है और हिसा अधर्म है। धर्म की याद दिलाने के लिये मन्दिर है, पर धर्म मन मे है।

आज हम आप सव इस पर्वत पर एकत्रित हुये है। इस पृथ्वी के सौन्दर्य मे अनेक वस्तुये हैं, जिनमे पर्वत भी एक है। पर्वत जमीन से ऊचा रहता है और उस पर रहने वाली समस्त वस्तुयें भी ऊची उठी हुई है। पर्वत यह सदेश लेकर खडा रहता है कि आपको भी कठोर साधना व तप करके ऊपर उठना है, ऊचा उठना है। पूज्य आचार्यरत्न देशभूपणजी महाराज ने इस पर्वत को अपनी तपोभूमि वनाई। यहा के सव कार्यकर्ताओ ने इसके निर्माण व व्यवस्था कार्य मे वहुत योगदान दिया व वहुत सुन्दर कार्य किया है। इसमे क्षु राजमति माताजी का योगदान अतुलनीय है।

जहा तक स्वार्थ व परार्थ की वात है, यह एक विचित्रता लिये हुये है। जैन धर्म स्वार्थ प्रधान है। स्वार्थ के विना दुनिया मे परार्थ नही माना गया। स्वार्थ मे परार्थ भी निहित है। आपने दो आने कमाये तो आप दो पैसे दान कर सकते हैं। आपके पास एक रोटी है तो आप आधी रोटी किसी को दे सकेंगे। यदि आप स्वय भूखे होगे, आपके पास रोटी ही नही होगी तो आप किसी को क्या देंगे ? आप स्वय पढे-लिखे होगे, तभी दूसरे को पढा सकेंगे। स्वय स्वार्थी वनकर तैरना सीखोगे तभी दूसरे को तिरा सकोगे, अन्यथा 'आप डूवे पाडे, ले डूवे जजमान' वाली कहावत चरितार्थ हो जायेगी।

जैन धर्म ने, महावीर भगवान् ने, सब ने कहा कि स्वार्थी बनो, पर इस स्वार्थ का अर्थ यह नही है कि अपने एक पैसे के लाभ के पीछे दूसरे का लाखो का नुकसान कर दे। अपितु इस स्वार्थ के पीछे यह भावना है कि पहले अपने आप को, अपने जीवन को उन्नतिशील बनाइये, प्रगतिशील बनाइये, फिर उदार विचारधारा के साथ मानव मात्र के साथ मैत्री स्थापना कीजिये। यदि मनुष्य मे इस तरह का स्वार्थ नही होगा तो वह परार्थ भी नही कर सकता।

आज इस दुनिया मे धर्म मे अनेक रूढिया घुस गई हैं, समाज मे भी अनेक रूढिया घुस गई है और राजनीति मे भी। गाँधी जी खादी पहनते थे, इसलिये आज भी सब राजनैतिक नेता खादी पहनते हैं, इसके पीछे क्या भावना थी, क्या सिद्धान्त थे? यह सबको ज्ञात नही है। हमारे पूर्वज मन्दिर जाते थे, इसलिये हम भी आज जाते हैं। यदि रूढि अच्छी हो, सच्ची हो, उसमे भलाई की भावना निहित हो, उस रूढि को भी नौजवान अपनाते हैं,तो उसमे बुराई नही है। यदि वे देखा-देखी भी धर्म अपनाते हैं तो भी अच्छा है। यद्यपि देखादेखी से अधिक विवेक के साथ धर्म अपनाने मे लाभ है, परन्तु इसका सर्वथा यह अर्थ नही कि पूर्ण जानकारी किये बिना लाभ नही होता। बालक नही जानता कि यह औषधि पीकर मैं स्वस्थ हो जाऊगा, पर मा जबर्दस्ती से उसे कडवी औषधि पिलाती है और वह स्वस्थ व नीरोग हो जाता है। इसी प्रकार माता-पिता को अपने बच्चे को पढाना चाहिये, समझाना चाहिये कि तुम्हे भगवान् का नाम स्मरण करना चाहिये। साधुओ के, ज्ञानियो के सान्निध्य मे रहना चाहिये, मदिर जाना चाहिये, यदि इस कार्य के लिये जबर्दस्ती भी करनी पडे तो भी अच्छा है। ये भी सामाजिक नीरोगता के आधार है। पर इनमे सत्य के भाव विद्यमान होने चाहिये।

अभी मुख्यमंत्री ने कहा कि दुनिया बुराई का भंडार है, उन बुराइयो का कारण क्या है? धर्म पर आस्था होते हुये भी विपरीत आचरण क्यो है? भगवान् महावीर ने, महापुरुषो ने इसका चिन्तन-मनन व अनुभूति करके इस शंका का निराकरण किया है। उन्होने बताया है कि विपरीत आचरण की, बुराई की, जड़ राग है। ससार मे जितने लोग फस रहे हैं, फस गये है या फसेंगे, वे सब राग के कारण। जहा राग है, वहा द्वेष भी होता है। मा का बच्चे के प्रति राग होता है, किन्तु जब उसका बच्चा उसका कहना नही मानता तो वह द्वेष से उसको पीटना शुरू कर देती है। सीता व राम वन मे गये,वहा उन्हे स्वर्ण-मृग से राग हो गया, उसके पीछे राम सीता को खो बैठे और सीता को भी अनेक कष्ट भोगने पडे। पर पदार्थ से राग ही दु ख की जड है,

राग मानव-जीवन को डुवो देने वाला है। पर पदार्थ पर, पराई जमीन-जायदाद पर राग करने से अनेक युद्ध हुये है। राग ही सर्वाधिक दु खदायी है। स्वपदार्थ पर भी राग घातक होता है तो फिर पर-पदार्थ के राग का तो कहना ही क्या है ? आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा कि जैसे तुम दूसरे की वस्तु को पराई है, यह समझ कर त्याग देते हो, उसी प्रकार मन मे जो राग है उसको भी पराया समझ कर छोडोगे तभी फल प्राप्त होगा। जिस क्षण मन मे निहित राग को छोड दोगे, त्याग दोगे, उसी क्षण सब दोषो से, बुराइयो से, विपरीत आचरण की परेशानी से मुक्त हो जाओगे, अन्यथा कभी भी नही हो सकोगे। राग आग है, यही सब दु खो की जड है। दूसरो की वस्तु से राग करना घातक है, प्राय ऐसा कहा जाता है। पर हमारे आचार्यो ने तो स्व-वस्तु का राग भी घातक वताया है। राम को राज्य पाकर भी राग नही था, तभी उन्होने उसे तुरन्त त्याग दिया, भरत को भी उससे राग नही था, इसलिये उसने स्वय ने राज्य नही किया, राम की खडाऊ रखकर राज्य चलाया। राम समझ रहे हैं कि राज्य भरत कर रहे हैं भरत समझ रहे हैं कि राज्य राम की खडाऊ कर रही है। दोनो उस राज्य के प्रति निर्लेप, राग-रहित, आसक्ति रहित थे।

एक नदी किनारे दो मित्र घूम रहे थे। कही से वाढ मे वहता हुआ एक कवल उस नदी के प्रवाह मे आ गया। उनमे से एक मित्र के मन मे उस कवल को देखकर उसे प्राप्त करने की इच्छा हुई। वह नदी मे कूद गया और कवल को पकड लिया। पानी मे भीग जाने से कवल भारी हो गया था, इस कारण उस व्यक्ति से सभाला नही जा रहा था। कभी वह व्यक्ति डूवने लगा तो कभी वह कवल डूवने लगा। किनारे खडा मित्र यह सव देख रहा था। मित्र को डूवते देख कर चिल्लाया कि अरे वन्धु ! इस कवल को छोड दो, तव तुम वच जाओगे। पर नदी मे वह रहे मित्र ने कहा कि क्या करू ? यह कवल मुझे छोड ही नही रहा। उसके मन मे कवल के प्रति राग उत्पन्न हो गया था। उसने कवल नही छोडा और डूव गया।

इस राग के कारण ही प्रत्येक मनुष्य फस रहा है, दु खी हो रहा है, कोई थोडा फस रहा है तो कोई अधिक फस रहा है।

वुराइया अनादि काल से चली आ रही हैं। महावीर के युग मे भी कई बुराइया थी। उस समय भी मगध के एक व्यापारी ने दरबारी को उत्कोच दान (रिश्वत) देकर दरबार मे अनधिकृत प्रवेश पाया था। युधिष्ठिर जिसे धर्मराज कहते हैं, उन्होने जू आ खेला था ? जहा अच्छाई होती है, वहा

बुराई भी होती है। सूर्य अन्धकार को मिटा देना चाहता है, इसके लिये वह प्रयत्नरत है, पर अन्धकार भी अनादि से उसके साथ-साथ पीछे-पीछे चला आ रहा है, दोनो का द्वन्द चला आ रहा है। इसी प्रकार अच्छाई व बुराई का भी अनादि से द्वन्द चला आ रहा है। जो इन दोनो के द्वन्द के बीच मे भी बुराइयो को सर्वथा नष्ट करके उनको जीत लेता है वही अजर-अमर हो जाता है।

सीता ने हनुमान को पुरस्कार स्वरूप एक अत्यन्त कीमती मोती की माला भेंट की। हनुमान ने प्रत्येक मोती को अपने दात से तोड-तोड कर देखा और फैंक दिया। सीता ने देखा तो पूछा—अरे! ये क्या किया? हनुमान ने उत्तर दिया—मैं यह देख रहा था कि इसमे राम है क्या? सीता ने कहा—मोती मे राम कहाँ से आयेंगे? तो हनुमान ने कहा—कि जिस वस्तु मे राम नही है, जिसमे मुझे राम दिखाई नही दें, वह मैं नही लूगा, वह मेरे लिये कोई काम की नही है।

हमारी सस्कृति धर्म प्रधान है। यहा का हर ककर शकर है। कहा भी है—

त्व शकरोऽसि भुवनत्रय-शंकरत्वात्।

केवल मन्दिर की मूर्ति ही शकर नही है। इसीलिये अनेक तकलीफों, परेशानियो से ग्रस्त व परतन्त्र होने पर भी आज हमारी सस्कृति हमारा स्वाभिमान जीवित है।

धर्म प्रत्येक आत्मा मे विद्यमान है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार धर्म करता है, धर्म पथ पर बढता है। जब उसके मन मे से धर्म निकल जाता है तो पिता-पुत्र, पति-पत्नी भी कोर्ट-कचहरी मे जाकर एक दूसरे के विरुद्ध खडे हो जाते हैं। पुत्र ही पिता पर दोषारोपण करने लगता है।

मैं दिल्ली मे था उस समय जापान का एक दल यहा आया। वह दल हमारे पास भी आया। मैंने उन्हे एक धर्म की पुस्तक दी तो उन्होंने कहा कि हम तो कोई धर्म नही मानते, अत यह पुस्तक व्यर्थ है। मैंने कहा कि दुनिया मे धर्म को न माने ऐसा कोई व्यक्ति ही नही है। उन्होंने कहा-हम कह रहे है कि हम धर्म को नही मानते। मैंने कहा—बताइये! यदि कोई आपका सिर फोड दे तो आपको कैसा लगेगा? उन्होने कहा बहुत बुरा लगेगा। यदि कोई उस पर पट्टी करदे तो? बहुत अच्छा लगेगा। मैंने कहा बस, यही तो

धर्म अधर्म है। हिंसा करना अधर्म है और सेवाभाव व अहिंसा का भाव धर्म है। तब वे बोले यदि धर्म ऐसा है तब तो हम भी मानते है। धर्म किसी पुस्तक, मन्दिर, मस्जिद या पहाड मे नही है, वह आत्मा मे है। राम वनवास मे गये तो वे धर्म को अयोध्या मे नही छोड गये। धर्म वहा भी उनके साथ था। बुधमहाचन्द्र कवि ने इसके लिये लिखा है —

धर्मी के धर्म सदा मन मे,
रामचन्द्र अरु सीता रानी,
जाय बसे दण्डक वन मे।
'बुधमहाचद्र' कहुं जाओ,
धर्मी के धर्म सदा मन मे।।

धर्म की याद दिलाने के लिये मन्दिर है, पर धर्म मन मे है। हमारे तीर्थंकरो की, महान् आत्माओ की प्रतिमा, तस्वीर देखकर हमे उनकी याद आती है। जैसे सडक के मोड पर खतरे का निशान लगाते है, उन्हे देख चालक आगे के लिये सावधान हो जाता है, ब्रेक लगा देता है, वैसे ही ये मूर्तिया, मन्दिर,चित्र हमे सावधान करने के साधन हैं। जैसे दुर्घटनाओ से बचने के लिये ये निशान हैं उसी प्रकार प्रतिमाये व मन्दिर आदि है।

हमारे देश मे दो सस्कृतिया प्रमुख रही, एक श्रमण-सस्कृति और दूसरी ब्राह्मण-सस्कृति, एक मुनि सस्कृति और दूसरी ऋषि सस्कृति। दोनो के बारे मे इतिहासकारो ने बहुत प्रकाश डाला है। श्रमण मुनि पर्वत पर तप करते थे और ब्राह्मण ऋषि नदी के तट पर। ऋषि का जीवन नदी के प्रवाह जैसे चला और मुनियो का जीवन पर्वतो जैसे ऊचा उठता रहा। ऐसे पर्वतो पर तीर्थंकर महावीर आदि ने तप किया और नदी किनारे व्यास जैसे ऋषि व उनके पुत्र आदि ने तप किया। इन ऋषि-मुनियो के समय मे भी समाज के सामने अनेक समस्यायें रही। समाज मे समस्यायें सदैव रही हैं। इनको पूर्ण रूप से कोई नही मिटा सका। यदि समाज-देश की सारी समस्याओ को कोई मिटा सका होता तो श्री कृष्ण क्यो नही कौरव-पाण्डवो के झगडे को मिटा सकते थे? कृष्ण के पास शक्तिशाली सुदर्शन चक्र होते हुये भी वे उनके मनमुटाव को न मिटा सके और उनमे घनघोर युद्ध हुआ। एक ही जाति, एक ही धर्म, एक खून, एक परिवार होते हुए भी सम्पत्ति के राग के कारण युद्ध किया और अनेक वश खत्म कर दिये, और इसी के कारण देश गुलाम होता चला गया।

कोई देश अहिंसा के कारण, धर्म के कारण गुलाम नही हुआ। गुलाम हुआ है राजनीतिक गल्तियो से। राजनीतिक विकार से समस्यायें अधिक होती हैं। यह काल का प्रभाव है कि हर कोई देखादेखी में बुराई को जल्दी अपनाता है। अच्छाई अपनाने के लिये परिश्रम करना होता है। कोई पहाड से लुढके तो एक क्षण मे नीचे पहुँच सकता है पर इतनी शीघ्रता से चढ नही सकता क्योकि चढाई में परिश्रम करना होता है। पहाड पर अनेक जगली पेड पौधे स्वयमेव ही उग जाते है, उनकी कोई देखभाल नही करता और खेत मे किसान अत्यन्त परिश्रम करता है तव भी फसल पूरी व अच्छी तैयार नही हो पाती। उन्नति के लिए परिश्रम, निष्ठा व सगठन की आवश्यकता है। आपके मुख्यमत्रीजी एक कुशल शासक हैं, इसी कारण आप दो वर्प से राज्य को भली प्रकार शासित किये हुये हैं, आपके मत्रिमण्डल मे सगठन है, एकता है। जव सव प्रातो मे देश व जनता के कल्याण के लिये, मत्री गण व जनता सगठित होकर कार्य करेगे तभी मवका भला होगा। देश मे शाति वनी रहे यही भावना है।



आयु अतिमूल्य से परे है। ससार की विपणी मे सर्वस्व मिला है, परन्तु आयु नही मिल सकती। कोई वैद्य, डाक्टर, हकीम इसकी वृद्धि का उपाय नही जानता। कोटि स्वर्ण देकर भी आयु का क्षण नही खरीदा जा सकता। यह अमूल्य है। यदि इसे ऐसे ही गवा दिया तो इससे वढकर और क्या हानि हो सकती है ?

'ज्ञान बिन कर्म झरैं जे...'

धर्म स्वय मे पूर्ण है। इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मा को पूर्ण बनाना होगा। हमे ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे कर्म क्षय हो। प्रकाश का ज्ञान तभी हो सकता है जब उसे अन्धकार का भी ज्ञान हो। आपको जब अन्य मतो का ज्ञान होगा तभी आप श्रेष्ठता का निर्णय कर सकेंगे।

भारत मे श्रमण धर्म व सस्कृति अनादि से चली आ रही है। भारतीय साहित्य मे श्रमण सस्कृति की पर्याप्त चर्चा है। इस काल मे श्रमण सस्कृति का प्रारम्भ ऋषभदेव ने अपने ज्ञान, आचरण व तपस्या के द्वारा किया और प्रजा को बताया। उनके पश्चात् तेईस तीर्थंकर हुये। भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर तक सात बार श्रमण-सस्कृति मे व्यवधान हुआ, विच्छेद हुआ, ऐसा वादि-वृषभाचार्य ने तिलोयपण्णति ग्रथ मे कहा है।

धर्म स्वय मे पूर्ण है। इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिये अपनी आत्मा को पूर्ण बनाना होगा। कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचनसार मे कहा है कि—

जअण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्स कोडिहिं।
त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

अज्ञानी जीव भवसहस्र-वर्षों तक, कोटि वर्षों तक तप करके जितना कर्म क्षय करता है, उतना कर्म-क्षय ज्ञानी एक क्षण मे तीन प्रकार की (मन, वचन व काय) गुप्ति से करता है। पर ज्ञानी के लिये उन्होने एक शर्त लगा दी—जो तीन गुप्ति परिपालन करता है वह ज्ञानी है। छहढाला मे इसी की छायारूप प० दौलतरामजी ने कहा है—

कोटि जनम तप तपे, ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिनमाहि त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ॥

हमे ऐसा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये जिससे कर्म क्षय हो जायें। ऐसा ज्ञान तीर्थंकर प्रसूत है, उसे आचार्यो ने अपने शब्दो व अपनी भाषा मे ढाल दिया है।

भारत मे स्याद्वाद महाविद्यालय, गोपालदास महाविद्यालय के माध्यम से आध्यात्म विषय के विद्वान् व पडित तैयार हुये जिन्होने अनेक ग्रथो का हिन्दी मे अनुवाद किया है, जैसे प० खूबचन्दजी, माणकचन्द न्यायाचार्य आदि। इन दो विद्यालयो ने अपने समय मे अनेक विद्वान् तैयार किये जो श्रमण सस्कृति व ज्ञान के प्रसार मे सहायक हुये हैं। पर आज ये सस्थाये कार्यशक्ति क्षीण हो जाने से शिथिल हो गई हैं।

१९६४ मे जब मैं यहा आया था तब प० चैनसुखदासजी की भावना थी कि टोडरमलजी के नाम पर कोई स्मारक बनना चाहिये। एक दिन भाषण मे भी इस बात की चर्चा हुई। बात फैली, पूरणचन्द गोदीका ने ऐसे कार्य का शुभारम्भ व कार्यभार सम्भालने का भाव व्यक्त किया। वट का बीज बहुत छोटा होता है पर साधन, जल वगैरह प्राप्त होने पर वह एक विशाल वटवृक्ष बन जाता है।

इस जयपुर नगरी मे स्वनामधन्य टोडरमलजी ने जन्म लिया, वे प्रतिभामूर्ति थे। गृहस्थ होते हुये भी उनका ज्ञान, चिन्तन प्रौढ, परिपक्व व पाडित्यपूर्ण था। मोक्ष-मार्ग प्रकाशक पढने मे ज्ञात होता है कि वे स्वधर्म के ज्ञाता ही नही थे अपितु परधर्म का भी उन्हे गूढ अध्ययन था। जैन धर्म के आचार्यों ने बार-बार स्व-समय व पर-समय के भेद को समझाया है। आचार्यो ने इनके दो अर्थ बताये है—स्व समय—(१) स्व-आत्मा, शुद्ध परिणाम व (२) स्वसिद्धान्त, और पर समय (३)अशुद्ध परिणाम व (४)पर सिद्धान्त। आचार्यो के लिये प्रतिक्रमण व प्राकृत स्तुति (आचार्यो की) मे बन्धन लगाया है कि—'स्व-समय पर-समय विदन्नो' अर्थात् उन्हे स्व-धर्म व परधर्म का ज्ञाता अवश्य होना चाहिये।

चौदह सौ वर्ष पूर्व तक जैन धर्म को 'समय' नाम मे ही जाना जाता था। शकराचार्यजी ने भी कहा था कि 'विवसन समय इदानि निरसति' अर्थात् मैं विवसनो, निर्वस्त्रो दिगम्बरो के सिद्धान्त का निराकरण करता हू।

स्वधर्मनिष्ठा रखते हुये परधर्म की सहिष्णुता के साथ शिक्षा ग्रहण करना भी कला है, बुद्धिमत्ता है। अकलक निष्कलक ने नालन्दा विश्वविद्यालय

मे रहकर बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया। उस समय विश्वविद्यालयो मे यह व्यवस्था थी कि जिसको जिस धर्म मे रुचि हो, विश्वविद्यालय मे वह उसका अध्ययन कर सकता था। स्व-सिद्धान्त पर दृढता रखने के लिये, एकागी न बनने के लिए पर-सिद्धान्त का भी अवलोकन करना चाहिये, उनको भी जानना चाहिये। स्याद्वाद सिद्धान्त मे बन्धन है कि धर्म का ज्ञान करने के लिये अधर्म को जानना भी आवश्यक है। प्रकाश का ज्ञान तभी हो सकता हे जब उसे अन्धकार का भी ज्ञान हो। सत्य के ज्ञान के लिये असत्य का ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे आचार्यो ने उदारता के साथ छूट दी है कि इतर धर्मो की गूढता का भी अवलोकन करो, जिससे स्वय के सिद्धान्तो की गूढता का ज्ञान हो, सत्य का ज्ञान हो। एक जौहरी हीरे व काच की तथा अन्य रत्नो की परख जानता है, तभी वह हीरे व काच मे तथा अन्य रत्नो के भेद को तुरन्त समझ जाता है। आपको भी जब सब मतो का ज्ञान होगा तभी आप श्रेष्ठता का निर्णय कर सकेंगे।

इसी जयपुर मे एक महान् आत्मा ने टोडरमलजी के रूप मे जन्म लिया। इसी जयपुर मे उन्हे शासन की ओर से भ्रातियो के कारण मृत्यु दण्ड दिया गया और आज उसी जयपुर मे उनका स्मारक बनाया गया है और उनके सिद्धान्तो की पूजा की जा रही है। इस प्रकार उनका सम्मान किया जा रहा है। व्यक्ति मिट सकता है, मिट जाता है, पर उसके सिद्धान्त नही मिटते।

टोडरमलजी मे विलक्षण तार्किक शक्ति थी। स्वय ही प्रश्न करना, और फिर स्वय ही उनके उत्तर देना, उनकी कुशलता थी।

आत्मानुशासन मे लिखा है कि—जो वर्तमान परिस्थितियो का अध्ययन नही करता वह सफल नही हो सकता। पर इसका अर्थ यह नही कि वह परिस्थितियो मे ही बह जाये। अपने सिद्धान्तो पर दृढ रहकर उस परिस्थिति मे चलना है। एक महापुरुष ने कहा है कि—यदि आप असमर्थ हो तो दुनिया के प्रवाह के साथ बहते जाओ अन्यथा ऐसी क्षमता अर्जित करो कि दुनिया आपके साथ बह चले, ऐसे समर्थ बनो कि दुनिया को अपने साथ ले चलो।

आज विज्ञान कहता है कि अण्डे मे जीव नही है, अण्डा भी शाकाहारी है और समाज के बच्चे ज्ञान न होने के कारण इस प्रवाह मे बहते चले जा रहे है। कुन्दकुन्दाचार्य ने पचास्तिकाय मे (गा० ११३ मे) कहा है कि

'अडेसु पवड्ढता' (अडेषु प्रवर्धमाना) अर्थात् अडे मे प्राणी वृद्धि पाता है, उसमे जीवत्व विद्यमान है।

जो बिना सोचे समझे दुनिया के प्रवाह मे बहे चले जा रहे है, उनको समझाने के लिये, रोकने के लिये, टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय जैसी सस्थाओ की आवश्यकता है, जिससे स्वधर्म निष्ठा, आत्मकल्याण व परोपकार हो।

अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार की टीका करते समय कहा कि 'मम परम विशुद्धि' अर्थात् मेरी आत्मा की शुद्धि के लिये ग्रथ की टीका लिख रहा हू। उन्होने स्वार्थ मे परार्थ माना। यह एक मनोविज्ञान सम्मत तथ्य है कि जिसके पास कुछ होगा वही दूसरो को (कुछ) दे सकेगा। जिसने अपनी आत्मा की शुद्धि करली वही दूसरे को उसकी शुद्धि का मार्ग बता सकता है। जो स्वय बधन मे है वह दूसरो की गाठें खोलने की युक्तिया क्या बतायेगा ?

प० टोडरमल सिद्धान्त महाविद्यालय दृढतापूर्वक प्रवीण, परिपक्व, स्वविपय के दृढ विद्वान् तैयार करे, वे भारत के कोने-कोने मे उनके सिद्धान्तो का प्रचार एव प्रसार करे। प० टोडरमलजी के मगलमय विचार सारे देश मे फैले, यही भावना है।

प्रवचनसार मे कुन्दकुन्दाचार्य ने एक गाथा दी है—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हिमं
होज्ज मज्झत्थोऽहं णाण्पगमप्पग झाए ।१५९।

अर्थात्—अन्य द्रव्य मे मध्यस्थ होता हुआ, अशुभोपयोग रहित होता हुआ, शुभोपयोग युक्त नही होता हुआ, ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ।

जो अशुभोपयोग रहित हैं वे अन्य जीवो को तारने की विधि बता सकते है। एक मल्लाह नाव मे वैठकर नदी पार करा सकता है, तो वीतराग तपस्वी साधु भवतारण की विधि कैसे नही बता सकते ? हमारा मार्ग वीत-राग है। महावीर, गौतम गणधर व कुन्दकुन्दादि के मार्ग पर चलने से ही कल्याण निश्चित है, लक्ष्य प्राप्ति इसी से होगी, इसी पर दृढ रहे।

यह सस्था सहिष्णुता के साथ सिद्धान्तो का प्रचार व प्रसार करती रहे। यह एक विश्वविद्यालय का रूप ले। विचारो मे मतभेद हो सकते हैं पर मन-मुटाव नही होना चाहिये। मतभेद निर्माण करता है पर मन-मुटाव विध्वस का कारण है। मैं इस सस्था के शुभ की कामना करता हू। □

स्वार्थ में परार्थ निहित है

पूर्ण सत्य मन्थन है, चिन्तन है, मनन है; वह शाति का कारण है। अपूर्ण सत्य अधूरा ज्ञान है, दुख का कारण है। पूर्ण सत्य से ही आत्मज्ञ वनता है; अधूरा सत्य जानने वाला धर्मज्ञ, धर्मात्मा व धार्मिक बन सकता है। आत्महित व परहित दोनो मे पहले आत्महित करना श्रेष्ठ है। जिसने ज्ञानादि आत्मगुणो का विकास कर लिया है, वह ही पर के ज्ञानादि मे साधन हो सकता है। निर्लोभ भावना से की गई सेवा सफल-जीवन का कारण है।

निर्माण के लिये एक होवो, विध्वस के लिये नही। 'मजदूरो एक हो जाओ', इसका अर्थ यह नही कि हडताल करो, राष्ट्रीय सम्पत्ति को आग लगाओ। सत्य की एक अपेक्षा के साक्षात्कार करते समय सत्य के अनन्त पक्षो की उपेक्षा सम्भव नही है। तत्त्वज्ञान को एकान्त दृष्टिकोण से नही जान सकते, उसे एकान्त से देखना हठवाद है। वाद-विवाद करने वाला उसी मे फसकर रह जाता है, कुछ प्राप्त नही कर पाता, खोजने वाला प्राप्त कर लेता है और अजर-अमर हो जाता है।

अनादि काल से भारतीय परम्परा व दर्शन मे महान् तपस्वी मानसिक, सासारिक व्यथाओ से मुक्ति पाने के लिये चिन्तन व मनन करते रहे हैं। घी की प्राप्ति के लिये पहले एक वार दूध को तपाना पडता है और फिर पुन मक्खन को तपाना पडता है। इस प्रकार अन्तरग व बहिरग तपस्या के द्वारा

ही आत्मा मे दर्शन, मनन और चिन्तन की शातिधारा प्रवाहित होती है। इसलिये मनन-चिन्तन करने वाले भी एक प्रकार तपस्वी है। चिन्तन मे जिसे जो प्राप्त हुआ, उसने उसे प्रस्तुत किया।

साख्य दर्शन के अधिष्ठाता महर्षि कपिल ने बताया कि आत्मा कूटस्थ-नित्य है, अविकारी है। बुद्ध ने चिन्तन-मनन के आधार पर क्षणिकवाद की अभिव्यक्ति की। उनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ परिवर्तनशील है, कोई पदार्थ शाश्वत नही है, इन्होने सर्वथा पर्यायार्थिकनय का कथन किया। वैशेपिक दर्शन मे पृथ्वी जल आदि को नित्य तथा घट-पटादि सावयव पदार्थों को अनित्य माना।

इस प्रकार ससार मे सभी दार्शनिको ने एक आधार पर, वस्तु पर टिक कर चिन्तन किया। अनन्त धर्मात्मक अनन्त पदार्थों मे से एक पदार्थ को लेकर उस पर अनुसन्धान करने वाला अपने कार्य मे सफल हो जाता है। आयु छोटी है, तत्त्वज्ञान अनन्त हैं, इसलिये ये सत्य को एक अपेक्षा से ही प्राप्त कर सके, एक प्वाइट आफ व्यु से ही प्राप्त कर सके। वह एक अपेक्षा, एक पाइन्ट पूर्ण सत्य नही है। इसलिये आचार्यो ने कहा—खोजो! सत्य के लिये परस्पर विवाद मत करो, खोजो! किसी ने कहा है—खोजी जिये और वादी मरे। वादविवाद करने वाला उसी मे फस कर रह जाता है, कुछ प्राप्त नही कर पाता, खोजने वाला प्राप्त कर लेता है और अजर-अमर हो जाता है।

सिद्धसेन दिवाकर ने नित्य, अनित्य व नित्यानित्य का मथन किया उन्होने कहा कि—

भद्द मिच्छादसण समूहमहयस्स अमयसारस्स।
जिणवयणस्स भभवओ सविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेव के वचन मिथ्यादर्शनो के समूह का मथन करने वाले तथा अमृतसार रूप है। मुमुक्षुओ द्वारा उपासित तथा सरलता से समझ मे आने वाले जिनेन्द्र-भगवान् के वचन जगत् का कल्याण करे। वास्तव मे जैनधर्म को तटस्थ व्यक्ति ही समझ सकता है। पूर्वाग्रही इस धर्म के मर्म को समझ नही सकता।

एक वायुयान मे पाँच लाख पुर्जे होते है। जब ये पुर्जे व अन्य सब

हिस्से (पार्ट्स) होगे, तभी वायुयान बन पायेगा। एक भी पुर्जे के अभाव में हवाई जहाज अपूर्ण है। इसी प्रकार सत्य की एक अपेक्षा के साक्षात्कार करते समय सत्य के अनन्त पक्षो की उपेक्षा सम्भव नही है। अग्नि के लिये तीन व्यक्ति एक ही समय मे तीन वात वताते है, एक उसमे दाहकत्व वताता है, दूसरा आतप वताता है और तीसरा उसे प्रकाशक वताता है। तीनो ने अग्नि के एक-एक पक्ष का अपेक्षा से कथन किया है, यदि और अन्य व्यक्ति भी अग्नि के वारे मे कुछ कथन करेंगे तो स्व-आभास या अनुभूति के आधार पर ही, इन सबसे उत्पन्न विवाद का निरसन किस प्रकार कर सकेंगे ?

चार व्यक्ति भोजन करने वैठे, भोजन परोसा गया। चारो ने खाना प्रारम्भ किया। एक व्यक्ति ने कहा दाल मे नमक कम है, दूसरे ने कहा—खटाई कम है, तीसरे ने कहा कि—यह चरपरी अधिक है, चौथे ने कहा—नही, दाल वहुत स्वादिष्ट है। इस प्रकार चारो व्यक्तियो के विचार पृथक्-पृथक् थे। अव दाल की वारी थी, उसमे निहित जल ने कहा—आपने दाल को स्वादिष्ट वताया है, पर दाल अकेली ही नही, उसमे मैं भी निहित हूँ, नमक ने कहा—इसमे मेरा भी अस्तित्व है दाल की स्वादिष्टता मेरे ही कारण है, अग्नि ने कहा—मेरे विना दाल, जल, नमक सब निकम्मे रह जाते है, वर्तन कहता है—मुझे क्यो भूल रहे हो, मेरा भी तो सहयोग है।

एक पदार्थ मे अनन्त धर्म है उनमे से एक को ही प्रमुख मानकर उसे ही श्रेय देकर, शेप को कैसे भुला सकते हैं ? प्रवचनसार, पचास्तिकाय मे कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि 'एक सत्' महासत्ता के विचार मे उन्होने ऐसा कहा हैं, पर अवान्तर भेदो से एक ही वस्तु मे अनन्त गुण-धर्म विद्यमान है। सर्वज्ञ ने उन्हे देखा, पहचाना व अनुभव किया और तव वताया।

जव तक तत्त्वज्ञान के हार्द्र को, मर्म को, प्रत्यक्ष अनुभव न करले तव तक विद्यार्थी हैं, मार्ग मे ही है। इष्ट तक पहुँचने के पूर्व मार्ग मे ही प्राप्ति की वात करने के लिये अनेकान्त-स्याद्वाद का सहारा लेना होता है।

एक मुवक्किल ने वकील साहव के घर जाकर वकील साहब के लिये पूछा। वकील साहव की पत्नी ने कहा—कोर्ट गये है। मुवक्किल तुरन्त स्कूटर पर वैठकर कोर्ट पहुँचा। वहाँ जाकर उसने वकील साहब के लिये पूछा तो ज्ञात हुआ अभी घर से नही आये। घर से उत्तर मिला था कि कोर्ट

गये और कोर्ट से उत्तर मिला कि घर से नही आये ? दोनो मे से कौनसी वात सत्य है ? अपनी-अपनी अपेक्षाओ से दोनो ही सत्य हैं।

तत्त्वज्ञान को एकान्त दृष्टिकोण से नही जान सकते। उसे एकान्त से देखना हठवाद है। वह मनमुटाव उत्पन्न करेगा। विध्वसकारी हो जायेगा। एकान्त, दुरभिमान उत्पन्न करता है। अनेकान्त का आश्रय लेकर दूसरे की दृष्टि को सर्वथा असत्य नही कह सकते, वह दृष्टि किसी भी अपेक्षा (लौकिक या पारलौकिक) से सत्य हो सकती है।

वालगगाधर तिलक ने कहा—'स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' यह एक अपेक्षा से उचित है पर इसका अर्थ यह लें कि हमे सरकारी भवनो को तोडने की, आग लगाने की, विध्वस करने की भी स्वच्छन्दता है। अधिकार है, यह उपयुक्त नही है। कथन की दृष्टि, उसकी अपेक्षा को ध्यान मे रखना होगा। कार्लमार्क्स ने कहा—मजदूरो एक हो जाओ। यह ठीक है। निर्माण के लिये एक होवो, विध्वस के लिये नही। मजदूरो एक हो जाओ, इसका अर्थ यह नही कि हडताल करो, राष्ट्रीय सम्पत्ति को आग लगाओ। अपेक्षा से कही गई वात आशिक सत्य है। अपेक्षा से सत्य है, पूर्ण सत्य नही है।

जव तक अनेकान्त दृष्टि से अध्ययन-मनन-चिन्तन नही होगा, अनेकान्त का महत्त्व नही समझा जावेगा, तव तक उन्नति व विकास मे सफलता हासिल नही होगी। पूर्ण सत्य, मथन है, चिन्तन है, मनन है, वह शाति का कारण है। अपूर्ण सत्य, अधूरा ज्ञान है, दु ख का कारण है। पूर्ण सत्य से ही आत्मज्ञ वनता है, अधूरा सत्य जानने वाला धर्मज्ञ, धार्मिक व धर्मात्मा वन सकता है। वह आत्मा-परमात्मा पर विश्वास कर सकता है, आत्मानुभूति नही कर सकता। आत्मज्ञ, सर्वज्ञ हो सकता है। धर्मज्ञ व सर्वज्ञ की अनुभूति मे वही अन्तर है जो एक सुहागिन व विधवा मे होता है। विधवापन की अनुभूति एक सुहागिन स्त्री कभी नही कर सकती, उसके दु खो का अनुमान नही कर सकती। विधवा के दु खो का अनुमान व अनुभूति विधवा ही कर सकती है। उसी प्रकार सर्वज्ञ के ज्ञान की, आनन्द की, वीतरागता की अनुभूति व अनुमान हम नही कर सकते। उस पूर्णता का ज्ञान पूर्ण होकर, सर्वज्ञ होकर ही जान सकते हैं। हम दूसरो के दु ख की अनुभूति नही कर सकते, उसे अपने मे अनुभव नही कर सकते, केवल देख सकते हैं। स्व-दु ख ही चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करता है।

एक वार महात्मा वुद्ध एक ग्राम के पेड के नीचे वैठे थे। पेड पर पके हुये ग्राम लटक रहे थे। उपवन मे कुछ वच्चे खेल रहे थे, वे पत्थर फैंक कर ग्राम्रफल तोडने लगे। पत्थरो से एक दो ग्राम टूट पडे। पर एक पत्थर पेड को न लगकर महात्मा वुद्ध के मस्तक पर लग गया, खून वहने लगा। वच्चे डर गये। महात्मा है, कही कोई श्राप न दे दें, इस भय से घवराने लगे। डरते-डरते महात्मा-वुद्ध के पास पहुँच कर क्षमा चाहने लगे। महात्मा-वुद्ध की ग्राँखो मे ग्राँसू भरे हुये थे। उन्होने कहा— नही, मुझे कोई दु ख नही है, तुम घवराग्रो मत। वच्चो ने कहा— दु ख नही है तो ग्रापकी ग्राँखो मे ग्राँसू किसलिये हैं ? वुद्ध ने कहा—तुमने पेड को पत्थर मारा इसने तुम्हे मीठे फल दिये, पर मुझे पत्थर मारा तो मैं तुम्हे कुछ नही दे सका, मैं इसलिये दु खी हू ँ।

व्यावहारिक जीवन मे स्व-दु ख मे पर-दु ख है, पर-दु ख मे स्व-दु ख है, इसे सर्वथा छोड नही सकते। परिवार मे किसी की टाग टूट जाती है तो क्या ग्रापको दु ख नही होता ? यदि दु ख नही होता तो क्यो ग्राप उसे तुरन्त ग्रस्पताल लेकर भागते हैं ? परोपकार भी कर्तव्य है, यदि नही है, तो हड्डी टूट जाने पर स्वय ही पट्टी वाध लीजिये ? यदि परोपकार नाम की कोई भावना नही है, चीज नही है तो निकाल दीजिये उसे जीवन मे से। जव ग्राप पर कोई कष्ट ग्रा पडता है तो ग्राप दूसरो से सेवा की ग्रपेक्षा रखते है, तो क्या ग्रापका कर्तव्य परोपकार करने का नही है।

सामाजिक जीवन मे सेवा को नही माने, क्या ऐसा सम्भव है ? व्यास महर्षि ने चिन्तन करके कहा कि—'परोपकाराय पुण्य' सेवा भी पुण्य है। निष्काम भावना से, निर्लेप भावना से, निर्लोभ भावना से की गई सेवा सफल जीवन का कारण है।

दुनिया मे कोई भी व्यक्ति विना स्वार्थ के नही जीता, स्वार्थ मे परार्थ भी निहित है। भगवान् ग्रादिनाथ के समवशरण मे वृषभसेन गणधर ने पूछा कि—

भगवन् ! स्वार्थ ग्रच्छा है या परार्थ ?

भगवान् से उत्तर दिया— ग्राद हिद कादव्व ग्रर्थात् स्वार्थ ग्रच्छा है।

उन्होने फिर पूछा—क्या सर्वथा स्वार्थ श्रेष्ठ है ?

भगवन् ने उत्तर दिया—नही। जदि सक्कइ परहिद च कादव्व, यदि तुम समर्थ हो, सक्षम हो तो पर सेवा भी करो। स्व-कल्याण करते हुये, आत्महित करते हुये, दूसरे का भी कल्याण करो।

उन्होंने फिर पूछा—आत्महित व परहित दोनो मे से श्रेष्ठ क्या है ?

भगवान् ने उत्तर दिया—आत्महित श्रेष्ठ है। आद-हिदं कादव्वं जदि सक्कइ परहिद च कादव्वं। आद-हिदं, पर-हिदादो, आद-हिदं सुट्ठु कादव्वं।

अर्थ—पहले आत्महित करना चाहिये। यदि हो सके तो परहित भी करना चाहिये। आत्महित व परहित दोनो मे पहले आत्महित करना श्रेष्ठ है। जिसने ज्ञानादि आत्मगुणो का विकास कर लिया है, वही पर के ज्ञानादि मे साधन हो सकता है।

इसलिये पहले स्वय सुधरो, स्वय को आदर्श बनाओ तब विश्व को आदर्श बना पाओगे। यदि पहले दूसरो को, विश्व को आदर्श बनाना चाहोगे तो कोई भी आदर्श नही बन पायेगा, सब ठन-ठन रह जायेंगे। गाधीजी ने कहा था कि—जिस मार्ग पर मैं चलता हूँ, उसी पर चलने को कह सकता हूँ, जिस मार्ग पर मैं नही चलता उसके लिये कैसे कह सकता हूँ ? जिस मार्ग पर आप चल नही सकते उस पर चलने के लिये कहने का दभ मत भरिये कि मैं आपको यह मार्ग बता रहा हूँ, अपितु कहिये कि मैं नही चल सका परन्तु यह आपके लिये हितकारी है, इसलिये अपना लीजिये।

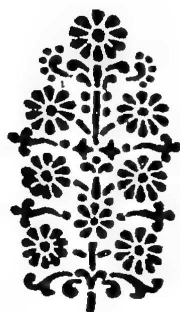
स्व-आदर्श के बिना दूसरे को आदर्श बनने का उपदेश सफल नही हो सकता। एक चोर चोरी न करने का उपदेश दे तो वह सफल नही हो सकता।

एक लडका बीमार हुआ। हकीम ने उसको गुड छोडने के लिये कहा। पर वह लडका गुड छोडने के लिये तैयार ही न हुआ। माता-पिता ने बहुत चेष्ठा की कि किसी भी भाति यह गुड छोड दे, अन्यथा जीवन खतरे मे है। एक दिन वे किसी महात्मा के पास गये, उन्होने महात्माजी से अपने लडके का गुड छुडवाने की प्रार्थना की। महात्माजी ने कहा—पन्द्रह दिन बाद आना। वे लोग पन्द्रह दिन बाद आये। महात्माजी ने लडके को बुलाया उसके कान मे कुछ कहा और लडके ने तत्काल कह दिया कि—मैं अब गुड

नही खाऊ गा । माता-पिता, आश्चर्य-चकित रह गये । इतने दिन तक चेष्टा की तव यह नही माना, महात्माजी को कहा तो उन्होने भी पन्द्रह दिन का समय दिया और आज एक वार कान मे कुछ कह देने से यह मान गया, आखिर महात्माजी ने कौनसा मत्र फू क दिया ? उन्होने महात्माजी से पूछा कि आखिर आपने कौनसा मत्र फूका, जो वह तत्काल मान गया ? महात्माजी ने कहा—मैंने कोई मत्र नही फू का । मैंने पन्द्रह दिन का समय दिया, वह इसलिये कि पहले मैं भी गुड खाता था । जव मैं गुड खाना छोडू तव ही तो दूसरे से उसे छोडने के लिये कह सकता हूँ । पहले मैंने छोडा, तव इसके कान में यही कहा—वेटा गुड खाना छोड दो नही तो जीवन खतरे मे है, वस !

यदि पिता मु ह मे सिगरेट दवाये रखे और पुत्र से सिगरेट छोडने को कहे, न पीने को कहे तो क्या वह छोड सकता है ? इसीलिये हमारे दर्शन मे, धर्म मे स्व-उद्धार को प्रथम स्थान दिया है, प्राथमिकता दी है और पर-उद्धार को द्वितीय स्थान दिया है ।

पूर्ण सत्य आत्मा मे है—यह जुवान से नही कह सकते, वह अनुभूति का विषय है । इसलिये पहले स्वय अनुभवन करो तव दूसरो को उनकी अनुभूति के लिये कहो । जीवन में आचरण से उद्धार हो सकता है, इसलिये तीर्थंकर भी पहले स्वय आचरण कर अनुभूति के आधार पर उपदेश देते हैं । भगवान् महावीर ने वारह वर्ष उपदेश नही दिया, स्वय आचरण कर, अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही उपदेश दिया । उन्ही महापुरुषो की वाणी का अध्ययन, मनन व चिन्तन करके हम आप लोगो को वताते हैं ।



संस्कार और जीवन

मानव मे धर्म नही है तो वहत्तर कलाये भी व्यर्थ है। इसलिये बच्चो को विशेषत विनम्रता व वृद्धो की सेवा करने की शिक्षा देनी चाहिये। यदि माँ सुसस्कृत, धार्मिक विचारधारा की होगी तो उसकी सन्तान भी साहसी, धार्मिक व सुसस्कृत होगी।

मेरा विश्वास है कि मानव-जीवन मे माता-पिता द्वारा प्रदत्त सस्कार स्थायी होते है। यदि माता-पिता के दिये हुये सस्कारो के साथ दिल मे धर्म विद्यमान है, तो कही भी जाइये, वे सस्कार नष्ट नही होगे। माता-पिता से प्राप्त अच्छे सस्कार मृत्यु के क्षण तक विद्यमान रहते हैं।

प्राचीन काल मे भी हमारे देश के व्यापारी अपने व्यापार हेतु एक शहर से दूसरे शहर व एक देश मे दूसरे देशो मे भ्रमण करते थे। दक्षिण भारत के एक प्रसिद्ध व्यापारी भी अपने व्यावसायिक भ्रमण पर गये हुये थे। देश-देशान्तर का भ्रमण करते हुये उन्हे एक स्थान पर वहुत वडा व कीमती रत्न प्राप्त हुआ। उन्होंने वह रत्न खरीद लिया। उस कीमती रत्न से आभूषण न वनवाकर,अपने धार्मिक सुसस्कारवश उन्होंने उस रत्न से भगवान की एक मूर्ति वनवायी। उन्होने समय-समय पर रत्नो की अनेक मूर्तिया वनवायी। वे मूर्तिया आज भी मूडवद्री नामक तीर्थस्थान मे विद्यमान हैं, जिनके दर्शन कर यात्री गद्‌गद्‌ हो जाते हैं। यदि उस व्यापारी मे धार्मिक सुसस्कार नही होते तो उन अमूल्य रत्नो से आभूषण भी वन सकते थे। दुनिया मे वहत्तर कलायें मानी जाती हैं, यदि मानव मे धर्म नही हो तो ये वहत्तर कलायें व्यर्थ हैं।

एक विधवा, अत्यन्त गरीव महिला थी, उसके एक पुत्र था। उस महिला ने अनेक कष्ट उठाकर, सिलाई करके, मेहनत-मजदूरी करके अपने

पुत्र को पढा-लिखाकर योग्य वनाया। पुत्र भी बुद्धिमान व होशियार था, अपनी योग्यता से वह सेना मे भर्ती हो गया। कुछ समय पश्चात् वह वहुत वडा अधिकारी वन गया। मा ने उसे सव कुछ सिखाया पर एक वात नही सिखायी। वह यह मानता था कि जो कुछ हू, वह मैं ही हूँ, दूसरा कुछ नही है, सव मुझसे छोटे हैं। मा ने उसे विनम्रता नही सिखायी थी। एक दिन सडक पर जाते समय केले के छिलके पर पैर पडने से वह गिर गया और उसका पाव टूट गया। डाक्टरो ने इलाज किया पर पाव मे कुछ और खरा-विया हो जाने से उन्होने उसका पाव काट दिया। वह अपने घर मे ही वैठा रहने लगा, उसे अपनी असहायता महसूस होने लगी। उसने अपनी मा से कहा—मा तूने मुझे सव कुछ सिखाया पर यह नही सिखाया कि दुराभिमान नही करना चाहिये, विनम्र होना चाहिये। आज मुझे अनुभव होता है कि मैं वहुत छोटा व्यक्ति हूँ, दुनिया वहुत वडी है।

वच्चो के लिए माता-पिता द्वारा प्रदत्त सस्कार ही महत्त्वपूर्ण है। स्कूल मे अच्छे सस्कार डाले जायें पर यदि घर मे स्वच्छन्दता हो तो वे स्कूल मे दिये गये सस्कार भी कारगर नही होगे। एक वालक मे सौ अध्यापक मिलकर जो सस्कार नही डाल सकते, एक सुशिक्षिता माँ वे सस्कार डाल सकती है। माँ की ममता व उसके द्वारा प्रदत्त सस्कार ही सर्वश्रेष्ठ है। यदि माँ केवल लाड-प्यार मे ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझती है तो उसको इसका नतीजा भोगना पडता है।

एक अत्यन्त अमीर विधवा महिला के एक मात्र पुत्र था। वह महिला अपने पुत्र का अत्यन्त लाड-प्यार से पालन करती, उसे किसी भी कार्य करने के लिये नही टोकती। धीरे-धीरे माँ के अत्यधिक लाड व पैसे ने उसे व्यसनी वना दिया। वह व्यसन अपनाता जाता और माँ प्रोत्साहन देती, मना नही करती। माँ ने कभी धर्म-कर्म के सस्कार ही नही दिये। व्यसनो के चक्कर म शीघ्र ही सारी सम्पत्ति समाप्त हो गई, मकान विक गया। अव उन्हे झोपडी मे रहना पडा। एक दिन उसकी प्रेमिका ने कहा—मुझे तुम्हारी माँ का कलेजा लाकर दो, तभी समझूगी कि तुम्हे मुझसे असली प्रेम है। वेटे ने अपनी माँ से आकर अपनी प्रेमिका की इच्छा व्यक्त की। माँ ने कहा – जैसी तेरी इच्छा वेटा। वेटे ने चाकू से माँ का कलेजा चीर कर निकाल लिया और प्रेमिका को सौंपने चल दिया। रास्ते मे किसी पत्थर से टकरा कर गिर गया तो माँ के उस कलेजे से आवाज आई—वेटे कही तुझे चोट तो नही लगी।

उस माँ ने ममता तो की, पर बेटे को अच्छे सस्कार, निर्व्यसनी सस्कार नहीं दिये।

यदि मां ममता के साथ निर्व्यसनी बनने की प्रेरणा दे तो बालक अवश्य अच्छे निकलेंगे।

एक सेनापति था, उसके देश का दूसरे देश से युद्ध चल रहा था। माँ ने कहा – बेटा मर जाना पर युद्ध-भूमि से पीठ दिखाकर मत लौटना। बेटा युद्धस्थल पर गया, कुछ समय बाद वहा से भागकर घर आ गया और अपने कक्ष का दरवाजा बद करके बैठ गया। माँ को ज्ञात हुआ तो वह बहुत दु खी व चिन्तित हुई, उसने सोचा—मैंने अपने पुत्र को सदैव अच्छी-अच्छी बातें सिखाई, अच्छे सस्कार डाले, धर्म सिखाया, फिर यह कायर कैसे निकला ? बेटे के इस कार्य को अपने दूध का अपमान समझ दु खी हो रही थी। माँ को अत्यन्त उदास व दु खी देखकर घर की एक दासी ने पुत्र की कायरता का कारण बताते हुये कहा—माँ, एक दिन आप मदिर गई थी, तब आपके पुत्र रो रहे थे, मैंने उन्हे चुप करने हेतु दया करके अपना दूध पिला दिया था। माँ ने पुत्र के कक्ष के बाहर जाकर उच्च स्वर मे कहा दासी के एक बार के दुग्धपान ने इतना असर किया और मैंने जो सालो दुग्धपान कराया उसका कोई असर नही ? माँ की ललकार व दूध की याद ने पर्याप्त प्रभाव डाला। पुत्र, मा को कायर चेहरा न दिखाकर पीछे के दरवाजे से पुन युद्ध भूमि मे जा खडा हुआ और फिर विजयी होकर ही घर लौटा।

माँ के दूध मे अनन्त शक्ति है। यदि माँ सुसस्कृत धार्मिक विचारधारा की होगी तो उसकी सन्तान भी साहसी, धार्मिक व सुसस्कृत होगी। इसलिये बालकों को केवल अक्षरज्ञान ही न करायें अपितु उन्हे विनम्रता, शालीनता, बुजुर्गों की सेवा, माता-पिता का आदर, रोगियो की सेवा, गरीबो के दु ख दूर करने की भावना आदि का पाठ पढाना भी आवश्यक है, तभी स्कूल सफल हो सकते हैं, राष्ट्र सफल हो सकता है, समाज आदर्श बन सकता है। केवल पेट भरना ही पर्याप्त नही, बुद्धिमानी नही है, आदर्श नही है। पेट तो पशु-पक्षी भी भर लेते हैं।

ब्र० शीतलप्रसादजी ने पचास्तिकाय की टीका करते हुये प्रारभ मे ही कुछ स्वतन्त्र गाथायें देकर कहा है कि—सद्यप्रसूत बालक निष्पापी व अत्यन्त भोला होता है। बाद मे जैसे सस्कार उसे प्रदान किये जाते हैं, वह वैसा ही बन जाता है।

नन्हा वालक अपनी क्रियाओ से, लीलाओ से, भाषा से परिवार को आनन्दित करता है। उसके द्वारा कोई गलत शब्द बोलने पर परिवार के लोग तुरन्त उसे समझाते हैं। परिवार से विनम्रता, चारित्रिक दृढता आदि सस्कार प्राप्त कर उनका पूर्णरूप से पालन करने पर ही वह आदर्श नागरिक वन सकता है।

ये विद्यालय मानव को मानव वनाने की फैक्ट्रिया है। इनमे केवल पेट भरने की विद्या सिखाना ही पर्याप्त नही है। पेट तो इन विद्यालयो मे न पढने वाला एक अनपढ व्यक्ति भी भर लेता है। विद्यालयो मे स्वावलम्बन की, धार्मिक व नैतिक शिक्षा भी देनी चाहिये।

वम्वई मे साठ वर्ष पूर्व एक माणकचन्द पानाचन्द नाम के सेठ रहते थे। उस समय देश के हर शहर मे विश्वविद्यालय की परीक्षाओ की सुविधा नही थी। इसलिये वम्वई मे अनेक शहरो से एम ए, वी. ए. की परीक्षा देने के लिये परीक्षार्थी आते रहते थे। एक वार पचास विद्यार्थी एम ए की परीक्षा देने के लिये आये हुये थे। सेठ सा० ने उन्हे अपने घर भोजन करने बुलाया। उन्हे वहुत प्यार से भोजन कराया। भोजन कराने के पश्चात् उन्होने सब विद्यार्थियो से कहा कि—मैंने आप लोगो को एक विशेष उद्देश्य से यहा वुलाया है। आप लोगो को तीन वातें वतानी हैं—आप कभी नौकरी करें या व्यवसाय करें तो धर्म को न भूलें, सदैव समाज सेवा के लिये तत्पर रहे तथा राष्ट्र के प्रति निष्ठावान् रहे। वस आपके भविष्य के लिये मेरा यही सदेश है। उन्होने उन विद्यार्थियो मे से जरूरतमदो को छात्रवृत्ति भी प्रदान की। उस विद्यार्थी समूह मे से एक मैसूर के चीफ जस्टिस श्री पद्मनाभ भी उस समय मौजूद थे। मैंने क्षुल्लकावस्था मे उनके घर आहार लिया तो देखा वहाँ उन सेठ सा० की तस्वीर लग रही थी। उस तस्वीर के वारे मे श्री पद्मनाभ ने हमे उपरोक्त सारी घटना वताते हुये कहा कि इनके उपदेश से ही आज मैं इतना ऊँचा पहुँच सका हूँ। इसलिये मैंने अपने घर मे यह तस्वीर लगा रखी है।

इसी प्रकार महाराष्ट्र मे एक भवराव पाटिल नामक महान् व्यक्ति हुये हैं। उनका व्यक्तित्व, वेशभूषा सब रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसा था। उन्होने महाराष्ट्र मे सात सौ वीस स्कूल, छ कॉलिज व चालीस वोर्डिंग खोले। एक दिन वे सब्जी खरीदने वाजार गये थे। एक अत्यन्त गरीव, मुसलमान सब्जी वाली से वे सब्जी खरीद रहे थे, उसके पास ही उसका सात-आठ वर्षीय

बालक बैठा हुआ था। उन्होंने उस सब्जीवाली से पूछा—तुम इस बच्चे को पढाती नहीं हो? सब्जीवाली ने कहा—मैं बहुत गरीब हू पढाने के लिये मेरे पास पैसा नहीं है। पाटिल सा० उसे अपने घर ले आये, उसे पढाया। वह बैरिस्टर बन गया। उसने उनकी एक मूर्ती बनाकर अपने घर मे लगायी। उसके रिश्तेदार उसे मस्जिद मे चलने के लिये कहते, मित्रगण मन्दिर मे चलने के लिये कहते, पर वह कहता मेरे मन्दिर-मस्जिद का भगवान यही है।

मुझे बच्चो मे यही कहना है कि—माता-पिता, अध्यापक, सभी के प्रति आदर व निष्ठा होनी चाहिये। गाधीजी ने गाधीविचारदोहन मे लिखा है कि—बच्चो को प्यार से समझाना चाहिये, वह न मानें तो डाटना चाहिये पर उसे डाटते समय भी मन मे वात्सल्य भाव बना रहना चाहिये। जैसे नारियल ऊपर से कठोर रहते हुये भी अन्दर से अत्यन्त कोमल होता है।

अध्यापक, माता-पिता व बडे लोग सभी मिलकर बच्चो को अनुशासन आदर, राष्ट्रीय-सपत्ति के प्रति प्रेम, राष्ट्र के प्रति निष्ठा सिखायें। इन्ही बच्चो मे से आगे चलकर कोई मेयर बनेगा, कोई मत्री बनेगा तो कोई राष्ट्रपति बनेगा, कोई गाधी बनेगा, कोई टैगोर तो कोई महावीर भी बन सकता है। इसलिये बच्चो को विशेषत विनम्रता व वृद्धो की सेवा करने की शिक्षा देनी चाहिये।



मुनि श्री राज्य कर्मचारियों के बीच





मगल विहार के पूर्व मुनि श्री विशाल जन—समूह को सम्बोधित करते हुये । उनके सन्मुख बैठे हैं—राजस्थान विधान सभाध्यक्ष महारावल लक्ष्मणसिंह, राज्य के स्वास्थ्य मन्त्री श्री त्रिलोकचन्द जैन एवं समाज के गणमान्य व्यक्ति

मुनि श्री अजमेर मे —

• मुनि श्री के साथ मुनि श्री सुशीलकुमारजी,
सर सेठ भागचन्दजी सोनी, क्षुल्लक श्री चन्द्रभूषणजी सा०
एवं क्षुल्लक श्री वरदत्तजी



मुनिश्री के साथ 'गुरुवाणी' परिवार



पूज्य एलाचार्य विद्यानन्दजी महाराज

के साथ बायी ओर–प्रीति जैन (सम्पादिका) श्री ज्ञानप्रकाश बक्षी (प्रकाशक) एवं श्री बाबूलाल जैन
दायी ओर–श्री योगेन्द्र जैन, श्री राजेन्द्र कुमार त्रिन्टीवाला, श्री सुमेर कुमार जैन (प्रबन्ध सम्पादक)
एवं श्री ताराचन्द बेद

विद्या ददाति विनयं...

जो जितना ज्ञानी होगा वह उतना ही विनम्र भी होगा। पेड पर अधिक फल लगते है तो वह झुक जाता है। मानव यदि मानवीयता के साथ जीता है, तो वह दो हाथ वाला भगवान है, अन्यथा पशु मे और उसमे कोई अन्तर नही।

सेवा-भाव, विनम्रता, चारित्रिक दृढता व निर्व्यसनता के साथ जीवन व्यतीत करना ही मानव जीवन की सार्थकता है। व्यसनो मे फसना–जीवन गवा देना है और निर्व्यसनी रहना जीवन की गहराई को पा लेना है।

मानवीयता के विना विद्याध्ययन निरर्थक है। मानव बनकर, टैगोर, मालवीय आदि जैसे वनकर (दिखाकर) ही विद्या की, शिक्षा की समर्थता का परिचय दिया जा सकता है। मानव-जीवन प्राप्त कर, स्वय के लिये ही जीना कोई प्रशसनीय वात नही है। गाय, पशु होकर भी परोपकार करती है, हमे दूध प्रदान करती है। वह गाय, उन छात्रो से, उन मनुष्यो से श्रेष्ठ है, जो केवल अपने लिये ही जीते हैं। केवल मनुष्य रूप मे जन्म लेना और जीवित रहना ही उपयोगी नही है। जव तक मानवीयता नही है, मानव जीवन उपादेय नही है। महाभारत मे श्रीकृष्ण ने लिखा है कि मानव यदि मानव वनकर जीता है, मानवीयता के साथ जीता है तो वह दो हाथ वाला भगवान है, अन्यथा पशु मे और उसमे कोई अन्तर नही है।

हमारे देश मे मदनमोहन मालवीय, महात्मा गाधी आदि महापुरुष हुये हैं। मालवीय ने इस देश पर अनेक उपकार किये हैं, गाधीजी ने अपने त्याग एव सादगी से हजारो पुरुषो को एक नई विचारधारा प्रदान की है।

आज हमारे छात्र गुरुओ का, माता-पिता का आदर नहीं करते, उनका महत्व नही समझते, तो उनके विद्याध्ययन का क्या लाभ है? यदि विद्यार्थी, विद्या मे मलीनता उत्पन्न करते हैं, वातावरण मे अराजकता उत्पन्न करते हैं, तो निश्चित रूप से एक दिन बन्दूक की नोक पर जीवन व्यतीत करने का प्रसग आ जायेगा।

सरकार लाखो रुपयो का कर्ज लेकर आप लोगो का जीवन श्रेष्ठ बनाने हेतु, देश का भविष्य अच्छा बनाने हेतु, व मानव को मानवता सिखाने हेतु, ये विश्वविद्यालय खोलती है। आपके माता-पिता भी अनेक कष्ट सहन कर, कठोर परिश्रम कर आपको सन्नागरिक बनाने हेतु विद्याध्ययन कराते हैं।

भारत भूमि त्याग व सेवा की भूमि रही है। यहाँ त्याग की महत्ता है। किसी व्यक्ति के तीन पुत्र है, उनमे से एक जेल मे है, एक शराबी है और एक जुआरी है और दूसरे व्यक्ति के केवल एक ही पुत्र है, जो निर्व्यसनी है, वह पढ-लिखकर डाक्टर बनकर दुःखियो के कष्ट दूर कर रहा है, तो उन तीन पुत्रो मे ऐसा एक पुत्र ही अच्छा है।

मैंने पन्द्रह वर्ष पूर्व मैसूर मे देखा कि एक विदेशी डाक्टर दम्पति भारत मे आकर अपना एक चिकित्सालय खोलकर दुखी रोगियो की सेवा मे जुट गये। उन्होने चालीस कुष्ट–रोगियो से एक कुष्ट–चिकित्सालय का शुभारम्भ किया। विदेशी, हमारे देश मे आकर यहाँ के निवासियो की सेवा मे जुट गये और हम अपने ही देशवासियो और भाईयो से वैर भाव रखते हैं। मानवीयता के लिये सेवा-भाव होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि विद्यार्थियो मे सेवाभाव का अभाव है तो उन विद्यार्थियो से वह किसान श्रेष्ठ है, जो सदैव दूसरो की जीवन-रक्षा के लिये कार्यरत रहता है, तत्पर रहता है। केवल अक्षर ज्ञान कर लेना, डिग्रिया ले लेना महत्त्वपूर्ण नही है। किसान ने कोई डिग्री नही ली, किन्तु पाषाणयुग (कल्पवृक्षयुग) से, कृषियुग से आज तक वह सेवा कार्य मे तत्पर है। वह मानव–जीवन की रक्षार्थ झुक कर धरती मे एक बीज बोता है और धरती उसकी सेवा–भावना व नम्रता के बदले एक ही बीज के उसे हजारो बीज करके नोबल पुरस्कार स्वरूप प्रदान करती है। इसी प्रकार कुम्हार, बढई आदि अनपढ होते हुये भी दूसरो को सहायता के लिये तत्पर रहते हैं।

जो जितना ज्ञानी होगा वह उतना ही विनम्र भी होगा। पेड पर अधिक फल लगते हैं तो वह झुक जाता है। देश का भविष्य आपके कधो पर

है। आज देश स्वतन्त्र है, नागरिक भी स्वतंत्र है। पर स्वतन्त्रता का अर्थ वसो को जलाना, सरकारी-भवनो को आग लगाना नही है, यह उद्दण्डता है, स्वच्छन्दता है, अज्ञानता का प्रतीक है। वसो को, सरकारी भवनो को, आग लगाने के स्थान पर अपने अज्ञान को आग लगावें तो जीवन सफल हो जावे।

मानव-जीवन वहुत मूल्यवान है, कीमती है। सेवा-भाव, विनम्रता, चारित्रिक दृढता व निर्व्यसनता के साथ जीवन व्यतीत करना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। व्यसनो मे फसना जीवन गवा देना है और निर्व्यसनी रहना जीवन की गहराई को पा लेना है।

माता-पिता लाख कष्ट सहन करके अपनी सन्तान का पालन करते हैं, उनके प्रति यदि सन्तान कृतघ्न हो जावे तो क्या वे मानव हैं? गाधीजी ने गाधी विचारदोहन मे लिखा है कि—ज्ञान-दान देने वाले गुरुवरो के प्रति विनम्र होना चाहिये। सभव है आप लोग भी भविष्य मे प्रोफेसर, प्रिंसिपल बन जायें। विनम्रता भारतीय सस्कृति की विशेषता है।

एक वार रवीन्द्रनाथ टैगोर चीन गये हुये थे। वहाँ के नागरिको ने सडक पर टैगोर के पाव छू लिये। टैगोर ने पूछा—मैं कोई साधु सन्त नही हूँ, आप मेरे पैर क्यो छू रहे है? चीन के निवासियो ने कहा कि—हम प्रत्येक भारतीय को सत समझते है। यह सुनकर टैगोर की आँखो मे आँसू आगये, उन्होने सोचा—ये लोग जैसा समझते हैं, क्या आज भारतीय वैसे ही हैं?

आज आपके कधो पर देश के अनेक उत्तरदायित्व है। यह जनतन्त्र तभी सफल हो सकता है जब देश की सारी जनता अनुशासन-बद्ध रहना सीखे। किसी को तकलीफ पहुचाना, किसी की टाग तोड देना प्रशसनीय नही है, मानवता नही है। टूटी हुई टाग को जोडने की शक्ति हो, सामर्थ्य हो, ज्ञान हो, परोपकार की भावना हो, यही प्रशसनीय है, मानवीयता है।

भारतीय सस्कृति धर्म प्रधान है, सेवाभाव युक्त है। हमे हमारी सेवाओ व आचरण से विश्व मे आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये, जिससे दूसरे देश भी हमसे शिक्षा ग्रहण कर सकें। हमारा ज्ञान विज्ञान प्राणीमात्र की, मानव-जाति की सेवा-भावना से ओत-प्रोत है।

आज देश के लोग स्वावलम्बी नही है, वे स्वय का कार्य करने मे भी अपमान समझते है। जबकि विदेशो मे अत्यन्त शिक्षित व्यक्ति भी अपना कार्य स्वय करने मे, समय पडने पर मेहनत-मजदूरी करने मे नही हिचकिचाते।

ये विद्यालय, विश्व-विद्यालय अत्यन्त पवित्र स्थल हैं, मन्दिर के समान हैं, जहाँ ज्ञान प्राप्त किया जाता है। नेहरूजी ने एक बार अपने भाषण मे कहा था कि भारत मेरा मन्दिर है और इसमे निवास करने वाले मानव मेरे देवता हैं। मानव को भगवान के समान आदर प्रदान करना मानवीयता है। महान् दार्शनिक समन्तभद्र ने प्राणी मात्र के प्रति आदर के भाव प्रदर्शित करते हुये कहा कि—'अहिंसाभूताना जगति विदित ब्रह्म परम'।

शैतान बनने मे योग्यता का परिचय नही है, योग्यता का परिचय मानव बनने मे है। आज मानव ने आकाश मे तीव्र-गति से उडने वाले यान बना लिये, समुद्र मे तैरने वाली पनडुब्बियां बना ली, सड़को पर तेज दौड़ने वाले वाहन बना लिये। मानव ने मशीनें तो बहुत बना लीं पर वह स्वयं मानव न बन सका, उसे मानव बन कर चलना नहीं आया।

विद्याध्ययन से, ज्ञान से मानव मे विनम्रता, सभ्यता, परोपकार की भावना प्रसूत होती है। आचार्य शान्ति सागरजी महाराज के अनुसार वह ज्ञान, ज्ञान नही है, जिसमे विनम्रता, सभ्यता व परोपकार की भावना न हो, वह ज्ञान, ज्ञान का व्यभिचार है।

आप सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो, आप मानवीयता के साथ जीवन-यापन करें, यही भावना है।



सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः

स्व व पर दोनो को जानो। आत्मा की ओर रुचि जितनी बढती जाती है उतना ही वह सम्यग्दर्शन की ओर बढता जाता है। जितनी पर की ओर रुचि बढती जाती है, जीव उतना ही मिथ्यात्वी होता जाता है। शाश्वत केवल आत्मा है। पर को इसलिये जानो कि वह हमारे लिए अशाश्वत है। स्व से भिन्न पदार्थ को जाने बिना स्व का ज्ञान नही होगा। सशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित ज्ञान के लिये शब्द, अर्थ और ज्ञान, तीनो रूपो को जानना आवश्यक है।

चित्त मे जब तक ससार के प्रति राग विद्यमान है, आसक्ति है, तब तक हम धर्मात्मा नही बन सकते, निष्परिग्रही नही हो सकते। जब परिग्रह होगा तो राग भी होगा और राग होगा तो परिग्रह भी होगा। बहिरग पदार्थों मे सुख-शाति शाश्वत नही है, इन्द्रियजन्य है, क्षणिक है। धर्मात्मा बनने के लिये अन्तरग व बहिरग दोनो तप व त्याग आवश्यक है। जो अन्तरग व बहिरग दोनो ओर से तपता है, उसे आत्मा-अनात्मा का भेद ज्ञान होने लगता है, अनुभव होने लगता है।

आचार्यों ने तत्त्वज्ञान के लिये तीन साधन बताये हैं—शब्द, अर्थ व ज्ञान। श्लोकवार्तिक मे भी इसको भली प्रकार समझाया गया है। आचार्यों ने नाम, स्थापना, द्रव्य व भाव से व्यवहार होता है, ऐसा बताया है। नाम को ही लें, नाम की आवश्यकता क्या है? आचार्यों ने कहा है कि उद्देश्य को समझने के लिये, उद्देश्य की सिद्धि के लिये नाम की आवश्यकता है। नाम के साथ

समस्त दार्शनिको ने अपने मतानुसार लौकिक, आध्यात्मिक या पारमार्थिक परिभाषाये दी है। जैसे—कमण्डलु शब्द है इसका क्या अर्थ है ?

क = जल, मण्डल = पात्र या आकर, इस प्रकार कमण्डलु शब्द का अर्थ हुआ—वह पात्र जिसमे जल रखा जाता हो। इसी प्रकार कमल शब्द है। क = जल व मल = कीचड अर्थात् जल व कीचड का योग और इससे एक पुष्प का अर्थ निकलने लगा जो जल व कीचड के योग से उत्पन्न होता है।

एकाक्षरीकोष मे 'क' शब्द का अर्थ आत्मावाचक है। 'क' शब्द के आत्मा व जल, ये दोनो अर्थ एक साथ बताये है। बृहद द्रव्य सग्रह मे इसी प्रकार अप्पा शब्द से भी आत्मा व जल दोनो अर्थों का निर्देश है। अर्थात् आत्मावाचक व जलवाचक मे एकरूपता है। जल को जीवन का प्रतीक माना है। जैसे जल सदैव प्रवाहमान रहता है वैसे ही आत्मा का ज्ञान भी सदैव प्रवाहमान रहता है। जैसे जल अपने शीतल स्वभाव को नही छोडता वैसे ही आत्मा भी अपने ज्ञान-चैतन्य स्वभाव को, व चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करके भी नही छोडती। समान उद्देश्य से समानार्थक नाम है।

नाम के साथ उद्देश्य की सिद्धि परमावश्यक है। इसलिये शब्दो को निश्चित अर्थो मे निगण्टु कोष द्वारा कीलित कर दिया गया है, बधन मे डाल दिया गया है। यदि शब्द व अर्थ को बधन मे न डाला जाये तो शब्द सदिग्ध हो जायेगे, एक ही शब्द के अनेक अर्थ हो जाने से भ्रम उत्पन्न हो जायेगा। इससे दार्शनिक के अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकेगी।

पहले सम्यक् शब्द का अर्थ प्रशसा था। पर मेदिनी कोषकार को श्रमण सस्कृति के कारण अपने कुछ शब्दो के अर्थ परिवर्तित करने पडे। जैनो ने सम्यक् का अर्थ 'दृढता के साथ श्रद्धा' किया है। इनके तत्वज्ञान के कारण मेदिनी कोषकार को कहना पडा कि दृढ-श्रद्धा से सम्यक् होता है, सम्यक् शब्द दृढ आत्मविश्वास को लिये है। जब तक स्वय पर दृढ विश्वास नही होगा, तब तक किसी अन्य वस्तु पर, दूसरो पर विश्वास कैसे होगा ? जब स्वय पर ही विश्वास नही तो, दूसरे पर क्या विश्वास होगा ? वादिराजसूरि ने कहा है कि—

हृदय च न विश्वास्य राजभि किं परो नरै ।
किन्तु विश्वस्तवत् दृश्यो नटायन्ते हि नू भुजा. ॥

राजनीति मे, राजनीतिज्ञ कभी भी दूसरो पर, मत्री, सेवक आदि पर विश्वास नही करते, वे दिखाते है कि हम आप पर विश्वास कर रहे है। नाटक के पात्र की भाति वह केवल विश्वास करने का अभिनय करता है और उनके पीछे भी गुप्तचर लगा देता है। वह केवल स्वय पर विश्वास करता है। जबतक वह स्वय पर विश्वास करके राज्य करता है, शासन चलाता है, तभी तक शासन चलता है। जब वह दूसरो पर, मत्री आदि पर विश्वास कर लेता है, तब उसका राज्य, शासन समाप्त हो जाता है। विचार कीजिये जब राजनीति मे सर्वप्रथम दृढ स्व-विश्वास की आवश्यकता है तो आध्यात्मिक जगत् मे दृढ स्व-विश्वास की कितनी आवश्यकता होगी। जब बाह्य शासन के लिये स्व-विश्वास की आवश्यकता है, तब आत्मानुशासन के लिये, आत्मा के शासन के लिए दृढ-विश्वास का आवश्यकता कैसे न होगी।

अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि जिसकी स्व-आत्मा की ओर रुचि जितनी बढती जाती है, उतना ही वह सम्यक्दर्शन की ओर बढता जाता है और जितनी पर की ओर रुचि बढती जाती है वह उतना ही मिथ्यात्वी होता जाता है। आचार्य ने किसी विशिष्ट भगवान, किसी विशिष्ट देवता की पूजा के लिये नही कहा, किसी विशिष्ट जाति या सम्प्रदाय के लिए नही कहा है, उन्होने 'आत्मा' के लिये कहा है, उन्होने स्व-आत्मा का दृढ विश्वास करने के लिये कहा है। जो 'स्व' को न मानकर दुनिया को माने तो उसको क्या प्राप्त होगा? जिसको स्व-आत्मा पर विश्वास होगा, वह अन्य पदार्थों पर भी विश्वास कर सकेगा, उन्हे जान सकेगा। तत्वार्थ सूत्र मे कहा है कि—स्व व पर दोनो को जानो। पर को इसलिये कि वह अशाश्वत है। समस्त महल, मकान वैभव अशाश्वत हैं, शाश्वत केवल आत्मा है, स्व से भिन्न पदार्थ को जाने बिना स्व-का ज्ञान नही होगा।

आचार्यों ने किसी भी वस्तु को जानने के लिये शब्द, उसके अनुरूप अर्थ व ज्ञान, ये तीन मत्र दिये। यदि शब्द के अनुरूप अर्थ नही होगा तो वे शब्द अव्यावहारिक हो जायेगे। जैसे बहुत से व्यक्ति 'कमल' नाम रख देते हैं, 'कमल' नाम रख देने से कोई उसे सूघता नही है। किसी महिला का 'सोना-बाई' नाम होने से कोई उसके गहने नही बनाता। इस प्रकार व्यावहारिक नाम निर्देश मे गुणो की आवश्यकता नही है। जिसमे गुण धर्म है वह सम्यक् है।

एक विद्यार्थी है। वह 'घट' शब्द जानता है किन्तु वह इसका अर्थ नही जानता। जब उसे घट का उद्देश्य समझाते हैं तो उसे उसका अर्थ ज्ञात होता है कि जल धारण करने वाला घट होता है और जब वह उसे देखता है, उसका आकार उसकी आत्मा मे प्रतिबिम्बित हो जाता है तब उसे 'घट' का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार शब्दघट, अर्थघट व ज्ञानघट के रूप मे श्लोक-वार्तिक मे बहुत सुन्दर शब्दो मे समझाया गया है।

सिर्फ शब्द जान लें किन्तु उसका अर्थ न जाने तो वह शब्द लाभदायक नही है और यदि अर्थ भी जान लें किन्तु उसका ज्ञानाकार न हो तो वह स्थाई नही हो सकता। शब्द, अर्थ व ज्ञान तीनो रूपो को जानना आवश्यक है, इसलिये अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार के भी शब्द समयसार, अर्थ समयसार व ज्ञानसमयसार ये तीनो नाम रख दिये।

एक शब्द है 'दूध'। केवल दूध कह देने मात्र से वक्ता का उद्देश्य ज्ञात नही होता। दूध, गाय का भी होता है, भैंस का भी होता है और आकडे का भी। दूध शब्द के साथ 'किसका दूध', यह अर्थ भी ज्ञात होना चाहिये, तभी उद्देश्य प्राप्ति हो सकेगी। शब्द के साथ अर्थ निश्चित होना चाहिये, निश्चित अर्थ के अभाव मे सशय, विपर्यय आदि होगे जब कि सशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित ज्ञान ही ज्ञान है। इन तीनो से स्थिति अनिर्णीत होती है और वह मिथ्याज्ञान कराती है।

प्रकृति का अपना स्वभाव है, वस्तुओ का अपना स्वभाव है। स्वभाव कभी नष्ट नही हो सकता। अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगमन है, जल का स्वभाव अधोगमन है तथा वायु का तिर्यकगमन है, ये कभी अपने स्वभाव से च्युत नही होते। इसी प्रकार आत्मा का स्वभाव अनादि से चैतन्य है, पर जैसे सोने की खान मे किट्ट-कालिमा युक्त सोना निकलता है वैसे ही आत्मा भी अनादि से कर्म सयुक्त है। इसके लिये आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार कर्मकांड मे लिखा है—

पयडी सील सहावो जीवंगाण अणाइसबधो।
कणयोवले मल वा ताणत्थित्त सय सिद्ध ॥

अर्थात्—जीव और कर्म दोनो का प्रवाहरूप से अनादि सम्बन्ध है। जैसे खान से निकले हुये स्वर्ण मे किट्ट-कालिमा आदि मल का सम्बन्ध है।

दूध व पानी की भांति आत्मा के साथ ज्ञानावरणीय आदि मिल रहे हैं। सोने के गहने बनाने के लिये उसकी कीट-कालिमा को हटाना होता है, इसके लिये सोने को सोलह ताप देने होते हैं। खान से निकले हुये अशुद्ध सोने के गहने नही बन सकते। द्रव्य दृष्टि से खान से निकले हुये स्वर्ण-शिला मे शुद्ध स्वर्ण विद्यमान है पर उसके साथ कालिमा है। उस कालिमा को हटाने पर शुद्ध स्वर्ण की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार द्रव्य दृष्टि से आत्मा भगवान है पर पर्याय दृष्टि से वह मलीन है, कर्म युक्त है। उस अनादि मलीन आत्मा को जन्म-मरण रहित करने के लिये, उसके साथ बंधे हुये कर्मो को विधिवत् अन्तरग व बहिरग तप के द्वारा दूर करने होंगे।

भेद ज्ञान के लिये अन्तरग व बहिरग दोनो का महत्त्व है। जैसे एक ही तरफ से रोटी सेंकने पर वह दूसरी ओर से कच्ची रह जाती है। दोनो तरफ से सेकने पर वह फूल जाती है। और तब वह यह बताती है कि नीचे वाला हिस्सा व ऊपर वाला हिस्सा दोनो पृथक् पृथक् है, वह भेद ज्ञान बताती है। जो अन्तरग व बहिरग दोनो ओर से तपता है उसे आत्मा व अनात्मा का भेद ज्ञान होने लगता है, अनुभव होने लगता है। जब नारियल का पानी सूख जाता है तब वह बजने लगता है, वह बताता है कि मैं पृथक् हू, यह ऊपरी भाग मुझसे पृथक् है। इसी प्रकार आत्मा से बंधे हुये कर्म सूख जायेंगे तब भेद ज्ञान होगा। इसलिये अन्तरग व बहिरग, तप के इन दोनो रूपो की परमावश्यकता है।

बिजली के तार के ऊपर आवरण लगा होता है, जब उसमे से बिजली लेनी होती है तो उसके आवरण को (भले थोडा सा ही पर) हटाना होता है, इसी प्रकार अन्तरग तप के साथ बहिरग तप भी होना चाहिये। आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्ष पाहुड मे इस बात पर जोर दिया है कि अन्तरग के साथ बहिरग परिग्रह को भी छोडना चाहिये। पर इसका अर्थ यह भी नही है कि जिसने बहिरग परिग्रह छोड दिया है उसका अन्तरग परिग्रह छूट गया है। यदि ऐसा होता तो फिर कबूतर, सर्प, शेर, गिलहरी सब पशु-पक्षी निष्परिग्रही हो जाते, क्योकि बाह्य मे उनके पास कोई परिग्रह नही है। जन्मते समय सब बाह्य-परिग्रह रहित होते हैं तो क्या वे निष्परिग्रही हैं? नही। आचार्य ने कहा है कि चित्त मे जब तक ससार के प्रति राग है, अन्तरग मे महल मकान वैभव के प्रति राग है, आसक्ति है, वह निष्परिग्रही नही हो सकता।

वहिरग से निष्परिग्रही पशु-पक्षियों के अन्तरग मे परिग्रह हैं, वे परिग्रह सज्ञायुक्त है। वृक्ष भी परिग्रह सज्ञायुक्त हैं, वे भी अपनी जडो से पानी सोख लेते है, कई दिनो तक उस सोखे हुये पानी से ही जीवित रहते हैं। चीटी मे भी परिग्रहसज्ञा को स्पष्ट देखा जा सकता है, वह भी अपने लिये भोजन एकत्रित करके रख लेती है। इसलिये कहा है कि ससार तो चित्त मे वस रहा है। यदि ससार चित्त मे नही है तो वहिरग मे कितना ही वैभव हो, उनसे कुछ अनिष्ट नही होगा। अपरिग्रहवाद का सिद्धान्त इसीलिये वताया गया है। मूलाचार मे वताया है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओ का सग्रह भी दोपयुक्त है। मज्झिमनिकाय मे भी कहा है कि—यदि अनावश्यक परिग्रह नही रखते, उसका उपभोग नही करते तो अनेक पापो व कष्टो से वच सकते हो। त्याग के लिये अन्तरगवृत्ति को भी अत्यन्त महत्व दिया है तथा वहिरग को भी। जव परिग्रह होगा तो राग भी होगा और राग होगा तो परिग्रह होगा, इसलिये दोनो को हटाना आवश्यक है। कुन्दकुन्दाचार्य ने समयसार मे कहा है—

> **जह णाम को वि पुरिसो परदव्वमिण ति जाणिदु मुयदि।**
> **तह सव्वे परभावे णादूण विमुञ्चदे णाणी।**

जैसे लोक मे कोई पुरुष, यह परद्रव्य है ऐसा जानकर उसे त्याग देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुप समस्त परभावो को, (रागादि को), ये परभाव है ऐसा जानकर उन्हे छोड देता है।

जिस समय रागादि पर-भावो को छोडेगे उसी समय सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति हो जायेगी। तभी आत्मा की अनुभूति होगी।

यदि शास्त्र पढना है तो उस पर लगे वेष्टन को हटाना होगा, विना वेष्टन हटाये शास्त्र नहीं पढ सकते। इसलिये वहिरग परिग्रह-त्याग की भी आवश्यकता है। वादाम का छिलका हटाये विना उसके अन्तर निहित फल का स्वाद कैसे प्राप्त होगा? इसी प्रकार वहिरग त्याग के विना अन्तरग की रुचि कैसे होगी? अन्तरग शांति कैसे प्राप्त होगी? अन्तरग व वहिरग दोनो का अविनाभावी सम्वन्ध है। अन्तरग मे छूट गया तो वहिरग मे भी छोडना होगा।

वाह्य परिग्रह न भी हो तो भी अन्तरग मे उसके प्रति राग होता है। जैसे कार न हो, कोई और वस्तु न भी हो तो भी सोचते है, मेरे पास कार

होनी चाहिये, यह वस्तु होनी चाहिये। उसके लिये आर्त्त-रौद्र ध्यान करते रहते हैं। उन बाह्य वस्तुओ मे, वैभव मे कही भी शाति नही मिलती, तृष्णा बढती रहती है। बहिरग पदार्थो मे सुख-शाति शाश्वत नही है, इन्द्रियजन्य है, क्षणिक है। श्रमण सस्कृति के अमर गायक अमितगति आचार्य ने बहुत मौलिक चिन्तन के साथ कहा है कि—

यस्यास्ति नैक्य वपुषापि, सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्र मित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतोहि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये।२७।

जिस शरीर को तुम साथ लाये हो वह भी तुम्हारे साथ नही जाता, उसे भी तुम यही पर छोड जाते हो, जिस शरीर की नाना सेवा-शृगार करते हो, वह यही छूट जाता है, वह भी आपका नही है तो पुत्र, मित्र, स्त्री, भाई, जमीन, जायदाद आदि आपके कैसे हो सकते हैं? वैभव, महल-मकान के साथ इतनी रागात्मक आसक्ति हो रही है कि यह जमीन मेरी है, यह मकान मेरा है। इससे स्पष्ट होता है कि राग विद्यमान है, तब तक हम धर्मात्मा नही बन सकते। धर्मात्मा बनने मे अन्तरग व बहिरग दोनो तप-त्याग आवश्यक है।

व्यवहार मे एक पदार्थ का दूसरे पर प्रभाव तो पडता है। प्रभाव मे द्रव्यत्व पर कोई आच नही आती, आत्मा अनात्मा नही हो जाता और न ही अनात्मा, आत्मा हो जाता है पर व्यवहार मे एक पदार्थ का दूसरे पर प्रभाव पडता है। यदि प्रभाव नही पडता तो आप सर्दी मे कोट क्यो पहनते है, गर्मी मे क्यो उतार देते हैं? यदि प्रभाव नही पडता तो आत्मा निरन्तर भ्रमण न करती, मुक्त हो जाती। समयसार मे कहा है—

जीव परिणामहेदुं कम्मत्त पोग्गला परिणमति।
पोग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमदि।८०।

अर्थात्—जीव के रागादि परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप से परिणमित होते हैं। इसी प्रकार जीव भी (मोहनीय आदि) पुद्गलकर्म निमित्त से (रागदिभाव रूप से) परिणमन करता है।

मल्लाह नाव को ले जा रहा है और मल्लाह को नाव ले जारही है।

यह कलियुग है, कलहयुग है। इसमे आत्मा को कलह से बचाने के लिये चौबीस घण्टो मे आधा घटा आत्मचिंतन, परमात्मचिन्तन अवश्य

करना चाहिये। परमात्मा का चिंतन साधन है। वृहद् द्रव्यसंग्रह में टीकाकार ने लिखा है कि तद्भव-मोक्षगामी तीर्थंकर भी पंचमुष्टि केशलोंच करते समय 'सिद्ध भगवान' का स्मरण करते है, णमो सिद्धाण कहते है, क्योंकि वे ही आदर्श है लक्ष्य है। इसलिये 'ओउम् नम' का ध्यान कीजिये यह परमात्मा का प्रतीक है।

ऊँकार बिन्दुसयुक्त, नित्य ध्यायन्तियोगिनः ।
कामद मोक्षद चैव, ऊकारायनमो नमः ॥

योगी तो इसका ध्यान करते है। पर गृहस्थो के लिए कहा कि धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चारो पुरुषार्थों की सिद्धि ऊंकार का ध्यान करने से होगी। ऊंकार, निराकार, निरंजन आत्मा के प्रतीक रूप में स्वीकार है। ऊ के द्वारा ध्यान कर स्व मे खो जाने का प्रयोग करना चाहिये। ऊँ, पच-परमेष्ठी वाचक है, सिद्धो का प्रतीक है। इसका एक क्षण का ध्यान भी जजालो मे मुक्ति कराने मे सहायक है। सुई को पिरोने के लिये दृष्टि एकाग्र होने से अन्य ध्यान उन क्षण के लिये रुक जाते है। आत्मा के गुणो का चिंतन समस्त जजालो से मुक्त करता है, जब तक सिद्धि न हो तब तक चिंतन कीजिये। कुछ क्षणो मे ही फल प्राप्ति नही होगी।

महावीर ने बारह वर्ष पन्द्रह दिन तक, पार्श्वनाथ ने छह महिने तक, बाहुबलि ने एक वर्ष तक, भरत ने सैतालीस मिनट तक तपस्या की, तो इतने समय तक वे क्या करते रहे, जबकि वे अरहंत-तीर्थंकर थे? शुक्लध्यान सैतालीस मिनट का होता है, उन्होंने इतना समय कैसे लगाया? वे कभी द्रव्य का चिंतन करते थे, कभी पर्याय का; फिर पर्याय से द्रव्यचितन पर आ जाते थे। साधनावस्था से साध्यावस्था तक ऐसी ही अवस्था रहती है।

व्यापार—व्यवसाय मे अत्यन्त परिश्रम करते है, अनेक क्रियाये करते है तब लाभ होता है, पर आध्यात्म मे तुरन्त लाभ चाहते है। मन चचल है वह शीघ्र एकाग्र नही होता। मन पर अकुश लगाने के लिये पतग उड़ाने की विद्या सीखिये। पतगबाज जब हवा अच्छी होती है तो पतग को ढील छोड देता है कि गगन मे पतग कहा जाती है, जब हवा कमजोर हो, पतग नीचे आने लगे तो वह डोर खीच लेता है। इसी प्रकार आप भी, जब आपका मन स्वच्छता, निर्मलता की ओर जाता है, सम्मेद शिखर—पावापुर जाता है तो उसे जाने दीजिये पर जब वह बुराई की ओर, पाप की ओर जाता है तो उसे तुरन्त उधर से खीच लीजिये, विमुख कर लीजिये।

स्व—शक्ति का अनुभव कीजिये। इसमे तत्काल लाभ नही होगा। सौ विद्यार्थी परीक्षा में बैठते हैं पर प्रथम श्रेणी मे कुछ ही उत्तीर्ण होते है। पर शेष विद्यार्थियो ने भी कुछ तो सीखा। मदिर जाने वाले सब एक साथ मुक्त हो जावे यह सभव नही पर पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिये। धर्म - ध्यान, परमात्मा का चिन्तन कीजिये, इन्ही से परिणामो की शुद्धि होगी। वीतराग भाव से ही मार्ग प्रशस्त होगा। अन्तरग व वहिरग त्याग मे शुद्धि होगी इसमे सशय नही है।

जैसे जकशन से रेल आती है-जाती है, वैसे ही हमारा मन व आत्मा भी जकशन है। सव अच्छे व वुरे विचार यही से चलते हैं, वहिरग से नही। शरीर तो साधन है, अनित्य हैं, क्षणिक हैं, नाशवान् है। शरीर की मालिश, पालिश मे ही समय दे रहे हैं। पर चर्म धोने से कर्म नही धुलते। महाभारत मे कहा है कि—

आत्मा नदी सयमतोयपूर्णा, सत्यावहा शीलतटा दयोंपि।
तत्रावगाह कुरू पाण्डुपुत्र, न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा॥

इसी प्रकार सिद्धिविनिश्चय मे अकलक देव ने कहा है कि—

सम्यग्ज्ञान जलेर्वचोभिर्तत्रानुकम्पापदै

सम्यग्ज्ञान रूपी जल से आप अपनी अतरात्मा को धो सकते है, पवित्र कर सकते है। इसलिये अपने ज्ञान को सम्यक् बनाइये वह सम्यक् तभी होगा जव दर्शन मोहनीय कर्म से, ज्ञानावरणी कर्म से निवृत्त होगे। अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक् मिथ्यात्व, आदि से छूट जायेंगे, तभी दर्शन-ज्ञान-चारित्र निर्मल हो जायेगे और तभी सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गी वन सकेंगे।



कर्त्तव्य पालन ही धर्म है

मसार की प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है, धर्म है। धर्म प्राणी मात्र के लिये है। अन्तरग मे अहिसा का पालन करते हुये, सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन मे ईमानदारी व कर्तव्यपालन ही प्रमुख धर्म है। आपका छोटासा कर्तव्य भी राष्ट्र-निर्माण मे सहयोगी है। एक वीज अपने समर्पण से हजारो वीज उत्पन्न करता है। सेवाभाव व कार्य से ही राष्ट्र महान् वन सकता है।

आज मानव के मस्तिष्क मे प्रश्न है कि धर्म क्या चीज है? कार्ल-मार्क्स ने धर्म को अफीम की गोली वताई, किसी ने इसे पाखण्ड माना, अनेक लोगो ने अपने-अपने विचारानुसार धर्म की अनेक व्याख्याये की हैं।

धर्म अत्यन्त व्यापक शब्द है। इसको हम किसी सीमित दायरे मे नही रख सकते। धर्म का व्यावहारिक अर्थ है कर्तव्य पालन। इस पर महान् ऋषि, मुनियो, तपस्वियो, विद्वानो, चिन्तको व आत्मानुभवियो ने अपने चिन्तन के आधार पर जो उपलब्ध हुआ, उसे ग्र थो मे लिखा। सर्वज्ञ ने इसे आत्मधर्म कहा, किसी ने इसे राष्ट्रधर्म कहा, किसी ने पारिवारिक धर्म कहा, किसी ने गृहस्थ धर्म, किसी ने साधु धर्म कहा। धर्म शब्द व्यावहारिक जीवन की प्रत्येक स्थिति व वस्तु के साथ सबधित है। जीवन के विभिन्न अ गो व कार्यों के साथ धर्म का घनिष्ट सवन्ध है तो चिन्तन की धारा मे प्राप्त सार रूप मे कहा गया कि 'वत्थुसहावो धम्मो' अर्थात् वस्तु का निज स्वभाव ही धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, यह कभी अपने स्वभाव से विमुख नही होती, अपने स्वभाव को कभी नही छोडती, जल का स्वभाव शीतलता (व प्यास बुझाना है) है, यह भी कभी अपनी शीतलता को

नही छोडता। इस प्रकार ससार की प्रत्येक वस्तु का अपना स्वभाव है, धर्म है।

धर्म की, कोषकारो ने, विद्वानो ने व्यावहारिक परिभाषा निश्चित की है—कर्तव्य पालन करना। कर्तव्य भी सीमित नही है। कोई कहता है कि परिवार के प्रति कर्तव्य पालना आपका धर्म है, कोई समाज के प्रति कर्तव्य पालन को धर्म मानते है, कोई घर के प्रति कर्तव्य पालने को, तो कोई अपने बच्चो के प्रति कर्तव्य पालन को, और कोई राष्ट्र के प्रति कर्तव्य पालन को धर्म मानते हैं। धर्म की अनेक व्याख्याओ के जजालो से बचने के लिये हमने उसे मुख्यत दो रूपो मे स्वीकार किया, एक आत्मधर्म व दूसरा व्यावहारिक धर्म।

मनु–स्मृति मे कहा है कि मनुष्य मे क्रोध, मान माया, लोभ, दुरभिमान आदि विकार उत्पन्न होते रहते हैं, इनसे बचने के लिये आत्मधर्म पालन करना चाहिये।

समस्त शारीरिक व मानसिक रोगो व विकारो की जड आत्मा के ये विकार हैं। इन विकारो को जानकर, इनसे बचने के लिये, आध्यात्मिक तत्व-ज्ञानियो ने अन्तरग व बहिरग त्याग को, शाति का स्रोत बताया।

मनुष्य को कुछ सोचने को बाध्य करता है तो वह है उसका 'कर्तव्य'। क्या कभी इस बात पर विचार किया कि घर से बाहर निकलते ही आपके ऊपर कितनी जिम्मेदारियां व कर्तव्य आ जाते है? घर मे परिवार के प्रति कर्तव्य के बारे मे आप सोचते हैं। घर से बाहर, सडक पर आते ही आपको अन्य कुछ नियम–प्रति नियमो का पालन करना होता है। सडक पर चलने के लिये, सडक पर चलने के नियमो का पालन करना नागरिको का कर्तव्य है। आप भीड मे से गुजरते है, किसी को आप के पैर से हल्की सी भी चोट पहुचती है तो आप इसके लिये क्षमा मांगते हैं। गलती हो तो उससे क्षमा मागना भी आपका कर्तव्य है।

यदि समूह मे जीना है तो कुछ नियन्त्रण मे रहना होगा, यह नियत्रण धर्म ही सिखाता है। प्रत्येक व्यक्ति के कुछ कर्तव्य हैं। ड्राईवर है, चौराहे पर लालबत्ती होते ही उसका कर्तव्य है तुरन्त गाडी को रोकना। लालबत्ती होते ही यदि ब्रेक न लगाये, गाडी न रोकी तो दुर्घटना हो जायेगी, आपके भी चोट आयेगी और गाडी का भी नुकसान होगा। दोनो को बचाने के लिये ब्रेक लगाना है, स्वय को ही बचाने के लिये नही।

व्यावहारिक जीवन मे धर्म की अत्यन्त व्याख्यायें है और वे सारी व्याख्यायें अन्त मे कर्तव्य पालन पर जाकर टिकती है। आपका छोटा सा कर्तव्य भी राष्ट्र के निर्माण के लिये सहयोगी है। आपका प्रत्येक कर्तव्य राष्ट्र के प्रति समर्पित होना चाहिये, यदि आपका कर्तव्य सीमित होगा, राष्ट्र के प्रति समर्पित नही होगा तो जैसे समुद्र की एक बूंद समुद्र से अलग हो कर निकल जाती है तो सूर्य उसे सुखा देता है और यदि वह समुद्र मे ही मिल जुलकर रहती है तो एक क्या दो सूर्य भी उसे सुखाने मे सक्षम नही है। वैसे ही आप भी उस बूद की भाति अस्तित्व शून्य हो जायेंगे। आपका सर्व प्रथम व्यावहारिक कर्तव्य है, राष्ट्र व देश को महान बनाने हेतु राष्ट्र के प्रति कर्तव्य पालन करना, इसे राष्ट्रधर्म की सज्ञा दे सकते है।

इस देश की आजादी के पूर्व, अनेक महा-पुरुष हुये, जिन्होने जिन्दगिया ही जेलो मे काटी, फासी पर चढ गये, मर गये। उन्होने क्या सोच-कर इतना कष्ट सहन किया? उन्होने यही सोचकर इतना कष्ट सहन किया कि हमारी भावी पीढी सुखी रहे, आजाद रहे। उन्होने अपने जीवन मे कोई सुख नही पाया। उनके द्वारा प्रदान की गई आजादी का फल हम चख रहे हैं, यह फल कभी खट्टा भी हो सकता है तो कभी मीठा भी। यह खट्टा–मीठा फल हमारे लिये हितकारी ही है। हमारे पूर्वज इस देश को हमारे कधो पर छोड कर गये है, उन्होने सविधान बनाकर, जनतत्र शासन प्रणाली प्रारम्भ कर, राष्ट्र का उत्तरदायित्व राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के ऊपर डाला। किसी व्यक्ति विशेष पर इस देश की राष्ट्र की जिम्मेदारी नही है, प्रत्येक देशवासी पर है।

मानव–जीवन व धर्म सदैव मे अनेक समस्याओ से घिरा हुआ है। समस्याये कभी पूर्णत न दूर हुई न हो सकती है। इस देश मे अनेक भाषायें है, भिन्न रहन सहन है खान-पान है। आप राजस्थान के है इसलिये राजस्थान व इसकी समस्याओ के बारे मे विचार करते है, पर दिल्ली मे ससद मे बैठे व्यक्ति पूरे राष्ट्र के बारे मे विचार करते है। हमारे देश मे कभी बाढ, कभी अकाल तो कभी पडोसियो से युद्ध होते रहते है। देश थोडी सी उन्नति करता है तो अकाल पीछे ढकेल देता है फिर भी हम डटे हुये है। हमारे हिंसा का मार्ग अपनाने वाले पडोसी देशो मे नेताओ की हत्यायें होती है, सत्ता-परिवर्तन के लिये हिंसक कार्यवाहियाँ होती है। पर हमारे देश मे अहिंसक नीव होने से सदैव सत्ता-परिवर्तन के लिये भी अहिसक नीतिया व मार्ग अपनाया गया है।

आप अहिंसात्मक रूप से ही शातिपूर्ण जीवन जी सकते है, हिंसा से नही। वहुत लोगो की जिज्ञासा व शंका है कि अहिंसा है क्या? इसका जीवन मे क्या उपयोग है? मानव जीवन आधारित ही अहिंसा पर है। ससार की प्रत्येक वस्तु-व्यवहार अहिंसा का सदेश देती है। सडक की लालवत्ती अहिंसा का सदेश देती है कि आपके ऊपर वाहन आ जायेगा और आप मर जायेगे। डॉक्टर की चीर-फाड, अहिंसा की भावना से होती है, मरीज को वचाने की भावना से होती है। सरकार ने सिपाहियो की नियुक्ति हिंसा से वचाने के लिये की है। जहा तक दृष्टि दौडाते है सव व्यक्ति, वस्तुयें, सिद्धान्त अहिंसा के लिए ही पाते हैं। विश्व तभी सुरक्षित रह सकता है जव प्रत्येक राष्ट्र व उसके नागरिक अहिंसा को समझे और इसका पालन करे। हम यहा पर शाति से वैठे हैं—तो अहिंसा के कारण, हिंसात्मक वातावरण मे हम यहा इस प्रकार शाति से नही बैठ सकते थे

आप लोगो के ऊपर वहुत उत्तरदायित्व हैं। आपके परिवार मे से एक व्यक्ति वीमार हो जाता है तो आप चिन्तित हो जाते है, उस समय आफिस मे आपका मन नही लगता, तो कभी आपने देश के कर्णधारो की चिन्ता के वारे मे विचार किया? उनके सामने कितनी समस्यायें रहती है, वह आकाश से आया हुआ कोई अलौकिक व्यक्ति नही है, हमारे बीच का कोई व्यक्ति ही तो मन्त्री, प्रधानमन्त्री वनता है। एक घर, परिवार की व्यवस्था मे परेशानिया होती हैं तो देश की समस्याओ, परेशानियो की कल्पना कीजिये, उसको सुलझाने, व्यवस्थित करने वाले की चिन्ताओ के वारे मे विचार कीजिये।

राष्ट्र धीरे धीरे परिपक्वता की ओर वढ रहा है। राजनतिक परिपक्वता के विना कोई भी राष्ट्र सुरक्षित नही रह सकता।

हमारे देश में पशु पक्षी भी स्वतत्रता-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं, अनेक जाति के पशु पक्षी रहते हैं तो क्या विभिन्न जाति व धर्म के मनुष्य नही रह सकते? मानव—मानव है, सव समान हैं। आज एक देश के निवासी दूसरे देशो मे जाकर रह रहे हैं, वहा के नागरिक वन रहे हैं। देश देशान्तरो के लोग वहा समान रूप से एक साथ रहते हैं, वहा जाति-पाति भूल कर मानव धर्म एक हो जाता है। भारतीय चिन्तन केवल भारत की सीमा तक सीमित नही, जहा तक प्राणी है, मानव है, वहा तक के लिये है।

भारत मे सम्राट चन्द्रगुप्त का समय था जब मकानो पर ताले नही लगते थे, पर आज की स्थिति है कि पारिवारिक जन भी अपना अपना अलग ताला

लगाते हैं क्योंकि आपस में विश्वास नहीं है। वेल्जियम में हमारे भट्टारकजी गये तो उन्होने देखा कि वहा दुकानो पर कोई दुकानदार या विक्रेता नही बैठता, दुकान मे सारी वस्तुयें रखी रहती है, स्वय अपनी आवश्यकता की वस्तु उठाते हैं और उसका मूल्य रख देते हैं। हमारे देश मे भी ऐसे प्रयोग चल रहे हैं। सहारनपुर मे एक स्कूल मे यह प्रयोग किया जा रहा है। स्कूल मे पुस्तकें, उत्तरपुस्तिकायें, पैन, पैन्सिल आदि वस्तुओ की एक छोटी सी दुकान लगा रखी है, विद्यार्थी अपनी आवश्यकतानुसार वस्तु ले लेते है और उसका मूल्य वहा रख देते हैं। एक सप्ताह मे एक वार उसकी सचालिका उसको सभालती हैं। प्रयोग मे उन्होने पाया कि एक महिने मे जितने मूल्य की वस्तुयें खरीदी गई हैं उतना मूल्य, उतने रुपये-पैसे वहा रखे हैं।

आप इस वाल वर्ष मे अपने वच्चो को ईमानदारी की शिक्षा दीजिये उन्हे समझाइये कि किसी की चीज को विना पूछे मत उठाना, यह चोरी होती है, यह दोषपूर्ण है, पतन का कारण है। कोई वच्चा किसी के घर से चाकू उठा लाये और उसकी मा कहे-शावाश वेटा। तो सोच लीजिये कि पच्चीस वर्ष के वाद उस वालक की परिणति क्या होगी ?

आज महिलायें व राष्ट्र की सेवा मे सलग्न कर्मचारीगण सकल्प कीजिये कि—हम अपने वच्चो को नीति की कर्तव्य पालन की शिक्षा देंगे, उन्हे समझायेंगे कि प्राण चले जायें पर चोरी मत करना, अनीति पर मत वढ़ना।

ईरान में एक व्यक्ति अपनी एक पेटी हवाई अड्डे पर भूल गया, दूसरे दिन वह वहा पहुचा तो उसे अपनी पेटी सुरक्षित मिल गई। हमारा जनतन्त्र तभी सफल होगा जब हममे ईमानदारी व कर्तव्य-पालन की भावना भरी हो।

मैं इन्दौर मे था। प्रवचन मे आई एक महिला के एक हाथ का कीमती आभूषण रास्ते मे गिर गया। एक जमादारनी को वह मिल गया। उसने सोचा यह जिसका होगा, उसे कितना दुख हो रहा होगा इसके खो जाने का ? उसने वह आभूषण वहा की एक प्रतिष्ठित महिला को सौप दिया। उस महिला ने उस जमादारनी को ईनाम के रूप मे कुछ रुपये देने चाहे तो उस जमादारनी ने कहा कि मैं अपने ईमान को वेचने को तैयार नही हू। यह सब जानकर मेरा हृदय गद्गद् हो गया। उस निर्धन जमादारनी के हृदय मे है, धर्म।

इस देश मे ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं जिनके पास रहने को झोपडी भी नही है, वे सडको पर अपना जीवन बिताते है। बम्बई मे मैंने देखा कि बहुत से लोग (नगरपालिका के) चौडे पाईपो मे एक ओर चटाई डाल कर रहते है। मैंने उनसे पूछा कि जव नगर पालिका वह पाईप उठा ले जायेगी तब आप कहा रहेगे? उन्होने कहा - फिर दूसरे स्थान मुहल्ले मे जहा पाईप होगे वहा जाकर रह लेंगे। कैसा जीवन है? आपने कभी इनके वारे मे, ऐसे लोगो के जीवन के वारे मे चिन्तन किया है?

हमारा जनतत्र सरकार पर निर्भर नही है, केवल सरकार पर उसकी जिम्मेदारी नही है, जनतत्र प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर है, प्रत्येक व्यक्ति पर उसकी जिम्मेदारी है। प्रत्येक नागरिक अपने कर्तव्यो व उत्तरदायित्वो को समझे तथा उनका पालन करे तभी जनतत्र सफल होगा।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक अच्छाईया भी आई तो अनेक बुराईया भी आई। ब्रिटिश राज्य मे किसी भी व्यक्ति की समस्या पर विचार नही किया जाता था, आज कर्मचारी की वात पर समस्या पर भी विचार किया जाता है, सुना जाता है। जनतत्र मे छोटे-वडे सवकी लाभ-हानि पर विचार किया जाता हैं।

पटना में एक विश्वविद्यालय के कुलपति ने एक छात्र को परीक्षा मे सम्मिलित होने से रोक दिया। सोमवार से परीक्षायें प्रारम्भ होनेवाली थी, छात्र के पास शनिवार को इसका सूचना-पत्र पहुचा। वह तुरन्त न्यायाधीश के पास पहुँचा, सव तथ्यो व स्थिति से अवगत कराया। न्यायाधीश ने अवकाश का दिन होने से अपने घर पर ही वैंच विठाकर विचार-विमर्श किया। उन्होने कुलपति से कहा—निर्णय वाद मे होता रहेगा, अभी इस बालक को परीक्षा मे सम्मिलित होने दीजिये। इस वालक का एक वर्ष का नुक्सान, देश का एक वर्ष का नुकसान, करना है। कहने का तात्पर्य है जनतन्त्र मे सबके लिये न्याय उपलब्ध है।

आप लोगो को अपने दुःखी, रोगी देशवासियो के दुःख दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये, अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये। सेवा-भाव व कार्य से ही राष्ट्र महान् बन सकता है। आज परिश्रम करने से, कर्तव्यपालन से भविष्य मे होने वाले नागरिक भी आदर्श बनेंगे व देश का नाम ऊचा करेंगे। एक बीज अपने समर्पण से हजारो बीज उत्पन्न करता हैं। आप स्वय परिश्रम

व कर्तव्यपालन करते हुये अपने बच्चों को भी इनका पाठ पढायेंगे तो भविष्य मे भी विश्व इस देश का, देश के नागरिको का नाम गौरव के साथ, आदर्श के रूप मे लेगा। व्यक्तिगत रूप से भगवान का स्मरण भी अवश्य कीजिये पर राष्ट्र के प्रति कर्तव्यनिष्ठ बनना न भूलिये।

आॅफिस मे कार्य करने वाले अपने अधिकारो की बात करते है, उनके कुछ कर्तव्य भी होते हैं। जब आप लोग अपने काम के बदले पूरा पैसा लेते हैं, पैसे न मिलने पर अथवा समय पर न मिलने पर आन्दोलन कर देते हैं तो क्या कभी आपने आॅफिस मे आधा घटा देर से आने पर उस समय का पैसा लेने से इन्कार किया है? जब तक आप मे ऐसी भावना नही आयेगी, राष्ट्र उन्नत नही हो सकेगा। समय पर कार्यालय पहुचना आपका धर्म है।

हमारे भारत में एक रानाडे न्यायाधीश हुये हैं। वे पैदल ही अपने कार्यालय पहुचते थे। जब वे कार्यालय के लिये सडक पर जा रहे होते थे तो लोग अपनी घडिया मिला लेते थे, ऐसी थी उनकी समय की पाबन्दी।

कर्तव्यपालन के नाते जब आप आधा घन्टा देर से आफिस जाते है तो या तो अधिक काम करके उस क्षति को पूर्ण कीजिये अन्यथा उस आधा घण्टे का पैसा मत लीजिये, तभी आप भी महान् नागरिक बनेंगे, और देश भी महान् बनेगा। अन्यथा अपने कर्तव्य से च्युत होने से आपको यहा के कानून व अधिकार का लाभ उठाने का अधिकार नही है। आपके लिये कानून व अधिकार भी तभी है जब आप कर्तव्य पालन करते हैं।

भारत एक विशाल देश है, विभिन्न राज्य इसके अगोपाग हैं। यदि किसी तथ्य या स्थिति को लेकर विवाद हो तो शान्ति के साथ बैठकर उसका हल कीजिये।

आपके घर मे, आपका छोटा बच्चा एक काच का गिलास भी तोड देता है तो आप उसे ऐसा न करने के लिए समझाते हैं और कहते है कि पुन ऐसा किया तो दण्ड मिलेगा। सोचिये जब आप लोग कषायवश राष्ट्र की सम्पति को हानि पहुचाते है, भवनो को तोडते हैं तो कितनी अज्ञानता है? यह सब सम्पति किसकी है? किसकी हानि होती है? सम्पत्ति राष्ट्र की है, राष्ट्र आपका है, अत हानि आपकी ही है।

आज राष्ट्र में अनेक आन्दोलन हो रहे हैं। हमे राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्य को समझकर शांति का मार्ग अपनाकर समस्याओ का निराकरण करना चाहिये। इनके लिये कुमार्ग न अपना कर सन्मार्ग ही अपनाना चाहिये। राष्ट्र को महान् बनाना चाहिए।

धर्म कोई जातिगत या व्यक्तिगत नही है। धर्म प्राणी मात्र के लिये है। कर्तव्य पालन करना प्रमुख धर्म है। जब एक पेड, एकेन्द्रिय जीव होते हुये, हमे फल, फूल, सुगन्ध आदि निर्लोभ भाव से देता है तो हम मानव, पचेन्द्रिय, ज्ञानी, शिक्षित है, हमारी जिम्मेदारिया कितनी है? सोचिये।

आप अपना कर्तव्यपालन कर अपने राज्य राजस्थान व राष्ट्र को महान् बनाने मे योगदान दे आपकी बुद्धि भगवान के प्रति, राष्ट्र के प्रति पवित्र बनी रहे, यही भावना है।



धर्म जीव की आत्मशक्ति है। इसके अभाव में शिव-शव है, अग्नि-भस्म का ढ़ेर है, राष्ट्र के जनपथ शून्य का विस्तार है। प्राणियों के हृदय मे बीजरूप से धर्म ही प्रतिष्टित है। धर्म संरक्षण से ही व्यक्ति में औदार्य, सौन्दर्य, चारुचरित्र और विश्व-प्रेम की अमृत तरंगिणी कल्लोल लेती है।

मत मरण को अन्त समझो

जो हित करे, अहित का परिहार करे, वह ही ज्ञान है। दीपक वही है जो अधकार का परिहार कर प्रकाश फैलाये। जीने की कला धर्म से आती है। मरण को मागलिक बनाने के लिये जीवन धर्म व ज्ञान की आवश्यकता है। जिस प्रकार जन्म श्रेष्ठ माना जाता है, वैसे ही मरण भी श्रेष्ठ है क्योकि मरण आगामी जीवन का प्रारभ है। शुभ-शात अथवा अशुभ-क्लेशमय-अशांत अत, आगामी शुभ अथवा अशुभ जीवन का प्रारभ है, द्योतक है।

समस्त मानव-सस्कृति एक समान है। महापुराण मे जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि 'मनुष्यजातिरेकैव' अर्थात् समस्त मनुष्य की जाति एक है, समस्त मानव समान हैं। भेद ऊपरी है, पर मूल मे उसकी सस्कृति एक है, धर्म एक है, ऐसा सभी महापुरुषो ने कहा है व लिखा है। अरब के लेखको ने भी लिखा है कि मानव जाति एक है। महाभारत मे लिखा है कि 'न मानुपात् परमश्रेष्ठ., मनुष्य से श्रेष्ठ कोई प्राणी नही है। अर्थात् विश्व के प्राचीन काल से आधुनिक काल तक के महापुरुषो के चिन्तन और चिन्तन से प्रसूत ग्रथो को देखते हैं तो मानवधर्म, मानव-सस्कृति व मानवजाति मूलत. एक रूप मे दृष्टिगत होते हैं।

मानव सस्कृति व जीवन-पद्धति के दो रूप हैं—प्रथम-व्यक्तिगत आत्म-चिंतन और द्वितीय सामूहिक रूप मे व्यावहारिक जीवन। सभी चिन्तको व महापुरुषो ने माना है कि व्यावहारिक जीवन के लिये ज्ञान की, धन की व शक्ति की परमावश्यकता है। इनके बिना व्यावहारिक जीवन, गृहस्थ जीवन

सुचारु रूप से चल नही सकता। सब इनकी प्राप्ति के लिये ही प्रयत्न व पुरुषार्थ करते हैं। आज विश्व का प्रत्येक मानव इनके लिये होड कर रहा है।

मानव कुछ भी कार्य करे, चिन्तको ने प्रत्येक कार्य के साथ कुछ शर्ते लगादी हैं। उन्होने कहा कि विद्या (ज्ञान) शक्ति धन सब कुछ प्राप्त कीजिये पर उनके साथ भी शर्त है—

विद्याविवादाय धनं मदायशक्तिः परेषां परपीड़नाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥

अर्थात्—सत पुरुष की विद्या-ज्ञान बिवाद के लिये नही होती है, प्रत्युत ज्ञानदान के लिये होती है, उसकी शक्ति दूसरो के सरक्षण के लिये होती है, उसका धनादि द्रव्य मदकारक नही होता, प्रत्युत् वह उसे दान मे खर्च करता है। ज्ञान, धन व शक्ति ये तीनो उसमे विनम्रता उत्पन्न करते हैं। परन्तु जो दुष्ट पुरुष होते हैं वे अपने ज्ञान के द्वारा दूसरो के साथ विवाद-कलह करते हैं। शक्ति के द्वारा दूसरो को, दुष्टभाव रखकर कष्ट पहुंचाते हैं और धन सम्पत्ति के बल पर वे अभिमान से भरे रहते हैं।

सत्य है, विद्या-ज्ञान प्राप्त कीजिये, पर वह ज्ञान विवाद उत्पन्न करने वाला न हो। ज्ञान प्राप्त कर उसके माध्यम से झगडा उत्पन्न करने, विवाद उत्पन्न करने पर वह ज्ञान, ज्ञान नही है। विद्या प्राप्ति मे समय लगता है किन्तु विवाद उत्पन्न करने मे समय नहीं लगता। विवाद, कलह उत्पन्न करने वाला ज्ञान किस काम का है! इसी प्रकार धन हो और उससे मद उत्पन्न हो, उसका दुरुपयोग हो तो उस धन का क्या मूल्य है? और शक्ति का, परिश्रम का उपयोग यदि परपीडन के लिये किया जाता है तो उस शक्ति का क्या लाभ?

केवल धन कमाना, शक्तिशाली होना ही प्रशंसनीय नही है। महापुरुषो ने चिन्तन व अनुभव प्राप्ति के बाद कहा है कि-यदि धन है और उसका उपयोग धर्म मे है तो वह धन उपयोगी है, लाभदायक है, प्रशसनीय है। यदि आपके पास धन है तो आप उसका उपयोग परोपकार के लिये कीजिये, सद्कार्यों मे कीजिये, दान दीजिये। धन है पर उसका सदुपयोग नही किया, दान नही दिया तो वह धन या तो जमीन मे गडा रह जायेगा, या चोरी चला

का प्रारम्भ है। शुभ-शांत अथवा अशुभ-क्लेशमय अशान्त अन्त, आगामी शुभ अथवा अशुभ जीवन का प्रारम्भ है, द्योतक है। पूज्यपाद आचार्य ने मृत्यु के साथ महोत्सव शब्द का प्रयोग किया और उसे मृत्यु-महोत्सव की सज्ञा दी। जन्मोत्सव की कल्पना, भावना तो सभी रखते हैं पर जैन-दर्शन मे तो मृत्यु को भी केवल उत्सव ही नही, महोत्सव माना है।

हमे शाति के साथ मरण की विधि सीखनी चाहिये, इस शब्द से प्रेरणा लेनी चाहिये। आज देखते है कि डाक्टर-वैद्य जवाव दे चुके होते हैं, पर फिर भी एक इन्जेक्शन और दे दो की भावना रखते हैं। जिस मानव के धार्मिक सस्कार होगे, मनोवल ऊचा होगा वह ऐसे समय एक इन्जेक्शन की, औषध की कामना नही करेगा, वह भगवान का नाम स्मरण करेगा, आत्मा व परमात्मा का चिन्तन करेगा, भौतिक वस्तुओ मे मोह व आसक्ति नही रखेगा। रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है—जो सम्यग्दृष्टि होगा वह मरण से डरेगा नही। जैसे मिट्टी का खिलौना टूट जाने से अज्ञानी वालक रोता है पर ज्ञानी व्यक्ति नही रोता। वह जानता है कि टूटना इसका स्वभाव है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मृत्यु के समय यह जानता है कि मरण आत्मा का नही शरीर का होता है। अत वह उस समय परमात्मा का नाम स्मरण करेगा। इसके लिये भागवत् मे प्रायोपवेषण शब्द का प्रयोग किया है और जैनवर्म मे समाधिमरण, मृत्युमहोत्सव, सल्लेखना, भक्तिप्रत्याख्यान आदि नामो से अभिहित किया है।

जैनाचार्यो ने कहा कि मृत्यु कव, किस समय आ जावे इसका कोई ठिकाना नही है, यह एक कटु सत्य है, अतः सदैव इसके लिये तत्पर रहो। एक नीतिकार ने कहा है कि धर्म करते समय यह समझो कि मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है, अत. सदैव धर्म ध्यान व शुद्ध भावना रखो।

सारा जीवन धर्म ध्यान करे, पूजा-पाठ करे और अन्त समय परिवार मे, ससार मे मोह व आसक्ति रखे, यह सोचे कि अरे! मेरे पीछे इन वच्चो का क्या होगा? मेरे परिवार का क्या होगा? वच्चो का विचार तो कर रहे हैं पर स्वय का क्या होगा? यह विचार नही कर रहे तो इसका अर्थ हुआ कि जो पूजा पाठ किया गया है वह पूजा-पाठ समझा नही गया। आध्यात्मिकता ही जैन धर्म की आधार शिला है। वह मरण को मागलिक वनाने हेतु पूजा-पाठ, स्तुति, स्तोत्र, तीर्थ-यात्रा, जप-जाप आदि का निर्देश करता है। वर्षों पढे पर फिर भी अनुत्तीर्ण हुये तो इसका तात्पर्य है कि पढाई को समझा नही।

जीवन भर पूजा पाठ करते रहे व अन्त समय मे रोये, दुख मनाया तो इसका तात्पर्य है कि धर्म का मर्म नही समझा।

एक जिनदत श्रेष्ठि ने सल्लेखना धारण कर ली, मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्हें प्यास की बाधा हुई, पत्नी से पानी मागा। पत्नी, व्रती पति के लिए कुये से ताजा जल छानकर लाने लगी। पानी लाने से पूर्व उनकी मृत्यु हो गई। अन्तिम समय पानी व कुए का ध्यान रखने से वे उसी कुए मे मेढक रूप में जन्मे। सारा जीवन पूजा पाठ व धर्मध्यान किया था किन्तु अन्तिम समय की भावना के फलस्वरूप मेढक रूप मे जन्म लिया। किन्तु आत्मा पर किये गये संस्कार समाप्त नहीं हो सक्ते। उन्होने सारा जीवन धर्मध्यान किया इसके फलस्वरूप उस मेढक भव मे भी उसके मन मे भगवान महावीर के समवशरण मे जाने की भावना उत्पन्न हुई और वह एक फूल को लेकर भगवान के दर्शनाथ-पूजनार्थ चल पडा। राह मे हाथी के पाव के नीचे आकर मर गया, उस समय मन मे पूजा के भाव थे। शुभ भावो के कारण फिर वह स्वर्ग मे जाकर देव हुआ। समन्तभद्र ने उस मेढक को 'महानुभाव' सबोधन दिया। उस मेढक के पूजा-पाठ के सस्कार खत्म नही हुये।

परिणाम कब कैसे विगड जाये, मौत कब कैसे आ जाये, इनका ठिकाना नही है। इसलिए हमे मरण को मागलिक बनाने की विधि सीखनी चाहिये।

आचार्य शातिसागरजी महाराज सल्लेखना धारण करने वाले थे। उनके एक शिष्य ने उदास मन से पूछा—महाराज! अब हम किसके सान्निध्य मे रहेगे? महाराज ने कहा—मैं किसकी शरण मे हू, किसके सान्निध्य मे हू? शिष्य ने उत्तर दिया—आप धर्म के सान्निध्य मे है। आचार्य ने कहा—आप भी धर्म के सान्निध्य मे रहिये। मेरे जैसे कितने ही आयेगे। पर धर्म का सान्निध्य शाश्वत रहेगा। उन्होने अपने शिष्य पर आसक्ति नही की कि-हा, अब तुम्हारा क्या होगा?

गृहस्थ विवेकी न होने से स्वार्थवश अपने मरणोन्मुखी प्रियजन के सम्मुख रागात्मक चर्चा छेड देते हैं, रोने लगते हैं। उसके मरण को मागलिक न बनाते हुये, धर्मध्यान, भेद-ज्ञान, तत्त्वज्ञान की चर्चा न करते हुये, रुदन प्रारम्भ कर रागात्मक वातावरण उत्पन्न कर देते हैं।

मरण अमगल नही है, श्रेष्ठ है। राजवार्तिक मे कहा है कि आत्मा अजर है, अमर है, मरण शरीर का है, वही नश्वर है। वर्तमान शरीर से

जायेगा (अथवा आयकर के छापे मे चला जायेगा)। आप उसे अपने साथ तो ले नही जा सकते। आप की मृत्यु के पश्चात् आपके उत्तराधिकारी उस धन का सदुपयोग करें या न करें यह निश्चित नही। आपने अत्यन्त परिश्रम के साथ, जिस ध्येय से धन कमाया, वह ध्येय आपकी सन्ताने पूर्ण करें ही यह आवश्यक नही। अपने हाथ से दिया हुआ दान ही आपका साथी होगा।

प्रथम धन प्राप्ति की चिन्ता, उसमे लाभ प्राप्ति की चिन्ता, फिर उसकी रक्षा की चिन्ता; बस उत्तरोत्तर चिन्ता बढती जाती है। इसीलिये महावीर ने अपरिग्रह का सिद्धान्त बताया। आप अपनी आवश्यकतानुसार धन रखें, यदि आवश्यकता से अधिक धन रखते हैं तो फिर उसका उपयोग परोपकार मे कीजिये।

जो ज्ञान, विनय के बदले विवाद उत्पन्न करे, कलह उत्पन्न करे वह ज्ञान-ज्ञान नही है। सम्यक-ज्ञान वही है जो हमारे दुःख दूर करे, शाति प्रदान करे। जो ज्ञान विवाद उत्पन्न करे, वह ज्ञान, जो धन मद उत्पन्न करे, व्यसनोन्मुखी बनावे वह धन, लाभप्रद नही है। आचार्य माणिक्यनन्दी ने कहा है कि जो हित करे अहित का परिहार करे, वही ज्ञान है। दीपक वही है जो अधकार का परिहार करे, प्रकाश फैलाये, इसी प्रकार जो ज्ञान अज्ञानरूपी अधकार को दूर करने मे सक्षम हो, वही ज्ञान है।

आज सम्पूर्ण विश्व मे ज्ञान-प्राप्ति की होड चल रही है। प्रत्येक स्थान पर अनेको स्कूल-कालेज व विश्वविद्यालय खुल गये है। पर हमारे चिन्तको ने इस ज्ञान को व्यावहारिक ज्ञान कहा है। यह व्यावहारिक ज्ञान, ससार प्रपच किस प्रकार बढाया जाये केवल इसी की शिक्षा देता है। अमृतचन्द्राचार्य ने इसीलिये कहा है कि घर-घर मे सासारिक प्रपच को बढाने की शिक्षा देने वाले गुरु बैठे हैं पर आध्यात्मिक ज्ञान, शाश्वत ज्ञान देने वाले दुर्लभ हैं, कोई आत्म-कल्याण की बात नही सिखाता। जब तक आत्मकल्याण की भावना नहीं होगी, शाँति भी प्राप्त नही होगी।

मरण आगामी जीवन का प्रारम्भ है

भौतिक-वस्तुओ मे शाश्वत सुख की प्राप्ति की भावना, कल्पना ही है। मकान, जिसे अत्यन्त परिश्रम से, स्वय की देखरेख मे इच्छानुसार बनवाया, जिसमे प्रवेश करते समय मगल गीत व वाद्य बजवाये, खुशिया मनाई, उसी मकान से मरने के बाद रोते पीटते बाहर निकाला जाता है। जिसके जन्म पर

खुशिया मनाई जाती हैं, उसी की मृत्यु पर क्रन्दन किया जाता है। अर्थात् कोई भी भौतिक वस्तु सर्वथा सुख प्रदान करने वाली नही है।

आचार्यों ने कहा कि जैसे जन्म को मागलिक बनाया जाता है वैसे ही मरण को भी मागलिक बनाया जा सकता है। यदि हमारे पास ज्ञान हो, विवेक हो तो। जो मानव मरण को मागलिक न बना सका उसके जीवन व पशु-जीवन मे कोई भेद नही रहा। मरण को मागलिक बनाने के लिए जीवन मे धर्म व ज्ञान की आवश्यकता है।

अन्य सभी देशो व धर्मों की तुलना मे भारत मे सर्वाधिक धर्म ग्रन्थ हैं। किसी ने केवल बाईबिल की रचना की तो, किसी ने केवल कुरान की पर भारतीय दार्शनिक व धार्मिक ग्रन्थो की बहुलता होने पर भी आज भारतीयो मे धार्मिक-भावना नही है, उनके जीवन मे धार्मिक आचरण नही है, ऐसा बहुधा बहुत से लोग आक्षेप किया करते हैं। अच्छी बात सिखाने मे परिश्रम करना होता है पर पतन के लिए बुराई सिखाने व सीखने मे उसकी विशेष आवश्यकता नही होती। पहाड पर चढने के लिये परिश्रम व समय दोनो की आवश्यकता है, पर पहाड पर से नीचे आने के लिए, लुढकने के, लिये उतने परिश्रम व समय की आवश्यकता नही है। जगल मे काँटे, झाडियाँ आदि बिना किसी परिश्रम के, सार-सभाल के ही उपजते हैं व बढते हैं, पर उद्यान मे लगाये गये सुगन्धित फूलो के पौधे, फलो के पेड यत्न से लगाने, सार-सभाल करने, समय पर जल आदि की व्यवस्था करते रहने पर भी बहुधा नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जीवन मे अच्छाई प्राप्त करने के लिये बहुत परिश्रम की आवश्यकता है और बुराई के लिये कोई परिश्रम की आवश्यकता नही है। वह स्वयमेव ही प्राप्त हो जाती है।

आचार्य ने कहा भी है कि जन्म तो सभी प्राणी लेते हैं पर जीने की कला सबको नही आती। जीने की कला धर्म से ही आती है। जीने की कला के साथ-साथ मरण को माँगलिक बनाने की विधि भी धर्म से ही सम्भव है।

विश्व मे ऐसा कौनसा धर्म होगा जो शातिपूर्ण मरण को श्रेष्ठ नही बतायेगा? ऐसा कौनसा मानव होगा जो शातिपूर्ण मृत्यु की कामना न करता होगा? मृत्यु अवश्यभावी है। अतः दुःख से, अशाति से मरने की अपेक्षा सभी शाति से प्राण निकलने की कामना करते हैं। जिस प्रकार जन्म को श्रेष्ठ माना जाता है वैसे ही मरण भी श्रेष्ठ है, क्योकि मरण आगामी जीवन

का प्रारम्भ है। शुभ-शांत अथवा अशुभ-क्लेशमय अशान्त अन्त, आगामी शुभ अथवा अशुभ जीवन का प्रारम्भ है, द्योतक है। पूज्यपाद आचार्य ने मृत्यु के साथ महोत्सव शब्द का प्रयोग किया और उसे मृत्यु-महोत्सव की संज्ञा दी। जन्मोत्सव की कल्पना, भावना तो सभी रखते हैं पर जैन-दर्शन मे तो मृत्यु को भी केवल उत्सव ही नही, महोत्सव माना है।

हमे शाति के साथ मरण की विधि सीखनी चाहिये, इस शब्द से प्रेरणा लेनी चाहिये। आज देखते है कि डाक्टर-वैद्य जवाब दे चुके होते हैं, पर फिर भी एक इन्जेक्शन और दे दो की भावना रखते है। जिस मानव के धार्मिक सस्कार होगे, मनोबल ऊचा होगा वह ऐसे समय एक इन्जेक्शन की, औषध की कामना नही करेगा, वह भगवान का नाम स्मरण करेगा, आत्मा व परमात्मा का चिन्तन करेगा, भौतिक वस्तुओ मे मोह व आसक्ति नहीं रखेगा। रत्नाकर कवि की एक कविता का भावार्थ है—जो सम्यग्दृष्टि होगा वह मरण से डरेगा नही। जैसे मिट्टी का खिलौना टूट जाने से अज्ञानी बालक रोता है पर ज्ञानी व्यक्ति नही रोता। वह जानता है कि टूटना इसका स्वभाव है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव मृत्यु के समय यह जानता है कि मरण आत्मा का नही शरीर का होता है। अत वह उस समय परमात्मा का नाम स्मरण करेगा। इसके लिये भागवत् मे प्रायोपवेषण शब्द का प्रयोग किया है और जैनधर्म मे समाधिमरण, मृत्युमहोत्सव, सल्लेखना, भक्तिप्रत्याख्यान आदि नामो से अभिहित किया है।

जैनाचार्यो ने कहा कि मृत्यु कब, किस समय आ जावे इसका कोई ठिकाना नही है, यह एक कटु सत्य है, अतः सदैव इसके लिये तत्पर रहो। एक नीतिकार ने कहा है कि धर्म करते समय यह समझो कि मृत्यु किसी भी क्षण आ सकती है, अत. सदैव धर्म ध्यान व शुद्ध भावना रखो।

सारा जीवन धर्म ध्यान करे, पूजा-पाठ करे और अन्त समय परिवार मे, ससार मे मोह व आसक्ति रखे, यह सोचे कि अरे! मेरे पीछे इन बच्चो का क्या होगा? मेरे परिवार का क्या होगा? बच्चो का विचार तो कर रहे है पर स्वय का क्या होगा? यह विचार नहीं कर रहे तो इसका अर्थ हुआ कि जो पूजा पाठ किया गया है वह पूजा-पाठ समझा नही गया। आध्यात्मिकता ही जैन धर्म की आधार शिला है। वह मरण को मागलिक बनाने हेतु पूजा-पाठ, स्तुति, स्तोत्र, तीर्थ-यात्रा, जप-जाप आदि का निर्देश करता है। वर्षों पढे पर फिर भी अनुत्तीर्ण हुये तो इसका तात्पर्य है कि पढाई को समझा नही।

जीवन भर पूजा पाठ करते रहे व अन्त समय मे रोये, दु ख मनाया तो इसका तात्पर्य है कि धर्म का मर्म नही समझा।

एक जिनदत श्रेष्ठि ने सल्लेखना धारण कर ली, मृत्यु के कुछ समय पूर्व उन्हे प्याम की बाधा हुई, पत्नी से पानी मागा। पत्नी, व्रती पति के लिए कुये से ताजा जल छानकर लाने लगी। पानी लाने से पूर्व उनकी मृत्यु हो गई। अन्तिम समय पानी व कुए का ध्यान रखने से वे उसी कुए मे मेढक रूप में जन्मे। सारा जीवन पूजा पाठ व धर्मध्यान किया था किन्तु अन्तिम समय की भावना के फलस्वरूप मेढक रूप मे जन्म लिया। किन्तु आत्मा पर किये गये संस्कार समाप्त नहीं हो सक्ते। उन्होने सारा जीवन धर्मध्यान किया इसके फलस्वरूप उस मेढक भव मे भी उसके मन मे भगवान महावीर के समवशरण मे जाने की भावना उत्पन्न हुई और वह एक फूल को लेकर भगवान के दर्शनाथ-पूजनार्थ चल पडा। राह मे हाथी के पाव के नीचे आकर मर गया, उस समय मन मे पूजा के भाव थे। शुभ भावो के कारण फिर वह स्वर्ग मे जाकर देव हुआ। समन्तभद्र ने उस मेढक को 'महानुभाव' सबोधन दिया। उस मेढक के पूजा-पाठ के सस्कार खत्म नही हुये।

परिणाम कब कैसे विगड जाये, मौत कब कैसे आ जाये, इनका ठिकाना नहीं है। इसलिए हमे मरण को मागलिक बनाने की विधि सीखनी चाहिये।

आचार्य शातिसागरजी महाराज सल्लेखना धारण करने वाले थे। उनके एक शिष्य ने उदास मन से पूछा—महाराज! अब हम किसके सान्निध्य मे रहेंगे? महाराज ने कहा—मैं किसकी शरण मे हू, किसके सान्निध्य मे हू? शिष्य ने उत्तर दिया—आप धर्म के सान्निध्य मे हैं। आचार्य ने कहा—आप भी धर्म के सान्निध्य मे रहिये। मेरे जैसे कितने ही आयेंगे। पर धर्म का सान्निध्य शाश्वत रहेगा। उन्होने अपने शिष्य पर आसक्ति नही की कि-हा, अब तुम्हारा क्या होगा?

गृहस्थ विवेकी न होने से स्वार्थवश अपने मरणोन्मुखी प्रियजन के सम्मुख रागात्मक चर्चा छेड देते हैं, रोने लगते है। उसके मरण को मागलिक न बनाते हुये, धर्मध्यान, भेद-ज्ञान, तत्त्वज्ञान की चर्चा न करते हुये, रुदन प्रारम्भ कर रागात्मक वातावरण उत्पन्न कर देते हैं।

मरण अमगल नही है, श्रेष्ठ है। राजवार्तिक मे कहा है कि आत्मा अजर है, अमर है, मरण शरीर का है, वही नश्वर है। वर्तमान शरीर से

आत्मा का पृथक होना ही मृत्यु है। यदि आपके मन मे यह भावना है कि आत्मा अजर-अमर है और शरीर त्यागने के पूर्व विधिपूर्वक सल्लेखना आदि ले लेते है तो आपकी मृत्यु भी महोत्सव हो जायेगी। बुद्धिमान गृहस्थ वही है जो मृत्यु से पूर्व अपने को मरणोन्मुखी जान धर्मध्यान मे रम जाता है, सादगी से रहने लगता है तथा त्याग भाव रखता है। आचार्य कहते हैं कि आप मृत्यु से बारह वर्ष पूर्व ही मृत्यु का स्वागत करने के लिये तत्पर हो जाइये, व सब मानसिक जजाल को त्याग दीजिये, यदि बारह वर्ष पूर्व ऐसा नही कर सकते तो छह वर्ष पूर्व कीजिये, छह वर्ष पूर्व नही तो तीन वर्ष पूर्व कीजिये, तीन वर्ष पूर्व नही तो एक वर्ष पूर्व, एक वर्ष नही तो छह महिने पूर्व, छह महिने नही तो एक महिने पूर्व, एक महिना नही तो पन्द्रह दिन पूर्व, अथवा एक दिन पूर्व अन्यथा सैंतालीस मिनट पूर्व तो कम से कम धर्मध्यान मे तत्पर हो जाओ। यदि सैंतालीस मिनट पूर्व भी मरण को समझ लेते हो, बाह्य-परिग्रह से विरक्त हो धर्मध्यान मे लीन हो मरण को मागलिक बना लेते हो तो मानव जीवन की सार्थकता है अन्यथा पशुओ की, कीडे-मकोडो की मृत्यु मे व आपकी मृत्यु मे कोई अन्तर नही है।

मृत्यु से बचने के उपाय तो सब करते हैं, पर मृत्यु की विधिवत तैयारी कोई नही करता। व्यवहार मे मकान बनाने की, भोजन बनाने की पढने की सब की विधि है, सबने इन कार्यों की विधियाँ बताई हैं पर हमारे आचार्यों ने मृत्यु की, मरने की भी विधि बताई। उन्होने कहा कम से कम सैंतालीस मिनट पूर्व तो अपने परिणामो को निर्मल बनाइये, ससार मे आसक्ति को धीरे-धीरे छोडिये। ऐसे समय मे दृढता व आत्म-विश्वास चाहिये, यह दृढता व आत्म विश्वास उसी मे हो सकता है जिसने धर्म को समझा है, तत्वज्ञान को समझा है। उसके पास धन हो या न हो वह आत्म-विश्वास का धन प्राप्त कर मृत्यु को मागलिक बना सकता है।

धर्मस्थल के मज्झइया हेगडे को बारह घण्टे पूर्व मृत्यु का आभास हुआ। उन्होने अपने भाई को बुलाकर सब घर-बार की चाबियाँ सौंप दी। वहाँ एक क्षुल्लक जी थे, हेगडे उनके भक्त थे, उन्हे बुलवाया। क्षुल्कक जी आये, अपने भक्त को मरणोन्मुखी देख सहसा उनके नेत्र सजल हो गये। हेगडे ने यह देखा तो कहा—क्षुल्लकजी मैंने आपको रोने के लिये नही बुलाया। रोने को तो परिवार के व गाव भर के लोग बहुत हैं। आपको तो धर्म के चार शब्द सुनाने के लिए बुलवाया है। क्षुल्लक जी ने आखे पोछी और तत्व-चर्चा, धर्मध्यान की बातें सुनाना प्रारम्भ किया। इतने मे पास के गाव से उनकी

पुत्री पिता के लिये रोती हुई आई, कमरे मे प्रवेश किया तो उन्होने कहा—देखो, रोना है तो बाहर जाओ। मैंने जीवन मे सदैव, जो कुछ मेरे पास था तुम्हे दिया, अब इस समय मेरे पास कुछ नही है जो तुम्हे दू। यदि तुम मुझे कुछ दे सकती हो तो चार शब्द धर्म के सुनाओ, धर्म सुना सकती हो तव तो यहाँ वैठो अन्यथा कमरे से बाहर जाकर वैठो। कितनी दृढता व आत्मविश्वास था उनमे। यह दृढता धर्मध्यान व पूजा-पाठ से ही प्राप्त होती है। मरण को मागलिक बनाना ही धर्मात्मा की सबसे बडी परीक्षा है, इसमे जो सफलता प्राप्त करता है उसी का जीवन सफल है। आप सदैव पूजा पाठ कष्ट के समय करते हैं तो सुख के समय उसे मत छोडिये, मरण के समय भी पूजा-पाठ की ओर ध्यान रखें, दृढता रखें। मैं आपको अजर-अमर होने का आशीर्वाद देकर आज वही आशीर्वाद देता हू कि आप सबका मरण मागलिक हो।



धर्म मनुष्य को मिला हुआ दैवी वरदान है। इस घनच्छाया और महाफल पादप के नीचे वैठकर साधना करने वाला धर्मध्यानी अनन्ताकाश से ऊपर प्रतिष्ठित आनन्दलोक का पथ प्रशस्त करता है।

चित्तानुष्ठान के लिए हैं चैत्य और चैत्यालय

एक पुराने मन्दिर का जीर्णोद्धार कराने का फल, आठ नये मंदिरो के निर्माण से प्राप्त फल के समान है। प्राचीन मंदिर मे जप-जाप, पाठ-पूजन, हवन-विधान से जो ऊर्जा उत्पन्न होती है, वह नव-निर्मित मदिरो मे नही होती।

जो आपके अपने हाथ से सत्कार्य, दान-पुण्य हो गये, उनकी कीर्ति ही यहाँ शेष रहेगी और उसके कर्म आपके साथ जायेगे। यदि आप दुष्कार्य करेंगे तो उसकी दुष्कीर्ति यहाँ शेष रहेगी और अशुभकर्म साथ जायेगे।

मदिरो के जीर्णोद्धार की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है। जीर्णोद्धार का प्राचीनतम उल्लेख मनुस्मृति मे प्राप्त होता है। शिल्प जगत् मे 'मानसार', 'प्रसादमण्डल' आदि प्रसिद्ध शिल्प शास्त्र हैं।

जैन परम्परानुसार अरिहतो की प्रतिमा 'दस ताल' की बनती थी प्रतिमा चाहे दो अगुल की हो चाहे दस फीट की, चाहे पन्द्रह फीट की,, चाहे पद्मासन मे हो या खड्गासन मे हो उसके समान समचतुस्रसस्थान एकसौबीस भाग होने चाहिये। बौद्धधर्मावलम्बियो के 'नौताल' की प्रतिमा बनती है, जिसमे एकसौदस समान भाग होने चाहिये। लगभग सब सम्प्रदायो मे निश्चित ताल की प्रतिमायें मूर्तिया बनती हैं। ताल का अर्थ है नाप

शिल्प-शास्त्र मौलिक व व्यवस्थित है। प्रतिमा के नाप-हिसाब के साथ-साथ वेदी व वेदी के सम्मुख बनने वाले चौखट आदि की भी विधि है, निश्चित हिसाब है, नाप है। वेदी की ऊचाई, वेदी बनाने वाले की नाभि तक होनी चाहिये,

इससे नीची नही। चौखट की ऊचाई के समान आठ भाग होने चाहिये। इन आठ भागो के मध्य वेदी मे विराजित प्रतिमा के नयन होते हैं। इन आठ भागो मे प्रथम भाग (नीचे से) मे दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा ध्वज आय कहलाती है। द्वितीय भाग के मध्य मे दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा धूम्र आय कहलाती है। तृतीय भाग के मध्य मे दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा सिह आय कहलाती है। चतुर्थ भाग के मध्य मे दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा श्वान आय कहलाती है। पचम भाग मे दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा वृषभ आय कहलाती है। पष्ठम भाग मे दृष्टि (नयन) वाली प्रतिमा खर आय कहलाती है। सप्तम भाग के अग्रभाग मे दृष्टि वाली प्रतिमा गज आय कहलाती है। अष्टम भाग मे दृष्टि वाली प्रतिमा राक्षस आय अथवा ध्वांक्ष आय कहलाती है। इन आठो दृष्टि वाली प्रतिमाओ मे प्रथम, तृतीय, पचम, व सप्तम अर्थात् ध्वज आय सिहआय, वृषभआय, तथा गजआय दृष्टि वाली प्रतिमायें शुभ होती है, शेष चारो दृष्टिवाली प्रतिमायें अशुभ होती हैं।

श्रीनगर (गढवाल) के जिन मदिर मे ध्वांक्षआय दृष्टि वाली प्रतिमा थी। उस मदिर की कोई देख-रेख नही होती थी, शहर भी अविकसित था, मदिर, शहर, वहा के निवासी सभी उपेक्षित थे। किन्तु (मुनि श्री के वर्षा-योग के अवसर पर) प्रतिमा को गजआय की दृष्टि मे विराजमान कराने पर मदिर के जीर्णोद्धार-विकास के साथ साथ उसके पूजक, शहर, शहरवासियो सभी की वहुत उन्नति हुई है।

तीर्थंकर के अभाव मे गृहस्थ के मन को भक्ति मार्ग मे लगाने हेतु मदिर व मूर्तियां आलम्बन है, आयतन हैं। जिन अनेक सम्प्रदायो मे मदिरो का अवलम्बन नही लिया गया, मदिरो की स्थापना, प्रतिष्ठा नही कराई गई उनमे से अधिकांशत काल-कवलित हो गये, जैसे—मक्खलि गोशाल, सजयतवेलटिपुत्त आदि के सम्प्रदाय। इन्होने अनुयायी तो वनाये पर मदिर व साहित्य का निर्माण नही किया। कालान्तर मे इनके अनुयायी बिखर गये और सम्प्रदाय खत्म हो गये। मदिर, मानव को धर्म में स्थिर रखने के साधन हैं। हमारे यहाँ मन्दिरो की परम्परा प्राचीन है।

शास्त्रो मे जीर्णोद्धार को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना है। नव-निर्माण की अपेक्षा पुरातन की सुरक्षा व जीर्णोद्धार कराना अधिक लाभप्रद है, फल-दायक है। कहा भी है—

वापि-कूप-तडागेषु, देवतायतनेषु च।
जीर्णोन्नुद्धरेत्यस्तु-पुण्य अष्टगुण भवेत्।

अर्थात्—'कुआ, तडाग (सरोवर) व मदिरो के नव-निर्माण की अपेक्षा पुरानो का जीर्णोद्धार कराना ही उत्तम है। धार्मिक—दृष्टि से पुराने मदिर का जीर्णोद्धार कराना अधिक महत्त्वपूर्ण, लाभदायक व फलदायक है। एक पुराने मदिर का जीर्णोद्धार कराने का फल, आठ नये मदिरो के निर्माण के प्राप्त फल के समान है। इसके पीछे भी तथ्य है, कारण हैं। प्राचीन मदिर मे अनेक जप-जाप, पाठ-पूजन, हवन, विधान आदि से ऊर्जा उत्पन्न होती है, वह ऊर्जा नव-निर्मित मदिर मे नही होती। प्राचीन मदिर मे चली आ रही भक्ति, पूजा-पाठ से वह मदिर क्षेत्र पवित्र हो जाता है जबकि नये मदिर मे इसका अभाव होता है। इसीलिये उस उत्पन्न पवित्रता व ऊर्जा को सुरक्षित रखने की दृष्टि से नये मदिरो के निर्माण की अपेक्षा पुराने मदिरो का जीर्णोद्धार कराना अधिक लाभप्रद है और वह अधिक पुण्यप्रदाता है।

हमारे यहा चैत्य व चैत्यालय ये दो पारिभाषिक शब्द हैं। चित्त के भावमन—आत्मा के अनुष्ठान के लिये बनाई गई भगवान की प्रतिमा को, मूर्ति को 'चैत्य' कहा है। उस चैत्य के आलय को, जहा वह चैत्य विराजमान है 'चैत्यालय' कहा है। मन को एकाग्र करने के लिये भक्ति करने के लिये बनाये गये जिन—बिम्बालय ही चैत्यालय है। जिन वृक्षो के नीचे बैठकर तीर्थंकरो ने तप किया, वे वृक्ष 'चैत्यवृक्ष' कहलाये। पटना सग्रहालय मे आज भी पत्थरो पर उत्कीर्ण चैत्यवृक्षो की प्रतिकृतिया विद्यमान है।

आज जिसे हम अशोक-वृक्ष कहते हैं, प्राचीन काल मे उसका नाम शोक-वृक्ष था। तीर्थंकर वृषभदेव भगवान के उस वृक्ष के नीचे बैठने से, उनके ससर्ग से, उपदेश से आनन्द मग्न होने से, शोक-रहित होने से वह 'अ-शोक वृक्ष कहलाने लगा। अशोक-वृक्ष के रूपक का वर्णन करने वाली कल्याण मन्दिर स्तोत्र की कारिका इस प्रकार है—

धर्मोपदेश समय सविधानुभावादास्ता जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ स महीरुहोऽपि किवा विबोधमुपयाति न जीवलोक.॥

— हे भगवन्। समवशरण मे आपके धर्मोपदेश के समय अष्ट-प्रातिहार्यों की उपस्थिति रहती है। अशोकवृक्ष उन प्रातिहार्यों मे से एक है। वास्तव मे आपके समीपवर्ती होने से ही इस वृक्ष का नाम अ-शोक', 'शोक—रहित' हुआ है हे प्रभो! जब वृक्ष भी आपके सान्निध्य से अ—शोक हो जाता है तो मनुष्यो के शोकविमुक्त होने मे आश्चर्य ही क्या? जब सूर्य का उदय होता है तब एक वृक्ष के पुष्पित—पल्लवित होने की चर्चा ही क्या, सम्पूर्ण

जीवलोक ही जागरण (वोध) को प्राप्त करता है। इसी प्रकार आपके ससर्ग से वृक्ष ही क्या समस्त जीवलोक शोक रहित हो जाता है।

ये सासारिक वस्तुयें, वैभव सव इस दुनिया मे धरे रह जाते हैं, कोई आपके साथ नही जाते। आपके सत्कार्य ही यहाँ शेष रहते है और कर्म साथ जाते हैं। आप अपने हाथ से जो सत्कार्य करेंगे दान-पुण्य करेंगे उसकी कीर्ति ही यहाँ शेप रहेगी और उसके कर्म आपके साथ जायेंगे। यदि आप दुष्कार्य करेंगे तो उसकी दुष्कीर्ति यहा शेप रहेगी और अशुभ कर्म साथ जायेंगे।

एक व्यक्ति मदिर वनवाता है, शास्त्र छपवाता है, कुआ वनवाता है, उससे हजारो व्यक्ति, प्राणी लाभान्वित होते है। जो कुछ भी दान आदि करना है वह अपने हाथ मे ही कीजिये।

आप सभी प्रतिदिन मदिर जाने का, देव-दर्शन करने का सकल्प कीजिये। जव किसी भयानक दृश्य व वस्तु को देखकर भय के भाव उत्पन्न होते है, स्वप्न मे भी वे दृश्यादि दीखते हैं, तो उस वीतराग भगवान की प्रतिमा को देखकर निर्मल, स्वच्छ वीतराग-भाव क्यो नही उत्पन्न हो सकते ?

इसलिये चिन्तानुष्ठान के लिये, शांति के लिये, शांतिकी प्राप्ति के लिये वीतराग भगवान की प्रतिमा की दर्शन अवश्य करने चाहिये।



धर्म त्रिकालावाधित है, सत्यरूप है, ज्ञातव्य है, दर्शनीय है और आचरणीय है। धर्म की नौका पर आरूढ होकर इस भवसागर को लांघने वाला डूवता नहीं है।

स्व-विमुखता ही परिग्रह की जड़

परावलम्बन दुःख का कारण है। जब बहिरग मे परिग्रह है, तो राग छूटना आसान नही है। जो बहिरग मे ही देखता है, अतरग मे उसकी दृष्टि जाती ही नही। परिग्रह है तो बिना विकल्प के रहना बहुत कठिन है। विकल्प ही आर्तरौद्र ध्यान का कारण बनता है।

मन मे रागद्वेष है तो कर्मबधन अवश्य होगा, राग-द्वेष की चिकनाई पर कर्मधूलि अवश्य चिपकेगी। यदि मन मे राग-द्वेष नही तो कर्मबधन का कोई कारण नही।

सन्मार्ग पर नही चल पाते, तो कम से कम कुमार्ग पर तो मत बढिये।

मनुष्य को जब समझ आने लगती है, कुछ ज्ञान-बोध होने लगता है तब वह स्वय ही हेय-उपादेय का, अच्छे-बुरे का निर्णय लेता है, आप सभी इस बात को जानते है। एक छोटा बच्चा अल्प-विवेकी होने पर भी कडवी चीज खाने पर उसे तुरन्त थूक देता है, उसे कडवी चीज थूकने के लिये कोई सिखाता नही है। वही बालक मीठी वस्तु प्राप्त होने पर प्रसन्न-चित्त से खा लेता है, कोई उससे वह मीठी वस्तु छीनना चाहता है तो वह छीनने नही देता। वह बालक कडवी वस्तु का त्याग व मीठी वस्तु को ग्रहण करता है, यह कैसे सीख जाता है? आत्मा ज्ञानमय है, वह स्वय ही अच्छे-बुरे, हेय-उपादेय का निर्णय करती है। इस निर्णय के लिए उसे किसी कोर्ट, जज या

वकील की आवश्यकता नही है। मानव स्वभावत ही उपादेय व हेय का गहण व त्याग करता है।

कोई भी समझदार व्यक्ति जल स्वच्छ देखकर स्नान करता है, निर्मल देख, उसे पीकर प्यास बुझाता है पर मलीनता देखकर न तो स्नान ही करता है न पीता ही है। इस प्रकार लौकिक व्यवहार मे, व्यावहारिक जीवन मे हेय-उपादेय का अच्छे-बुरे का विवेक स्वत सिद्ध है।

धर्म व धर्माचार्य, विचारो मे पवित्रता लाने के लिये शिक्षा देते हैं। आध्यात्मिक-जीवन के हेय-उपादेय का उपदेश देते हैं। यदि विचारो मे पवित्रता आ जाये तो स्वयमेव ही उत्तम-आचरण की ओर दृष्टि हो जाये। जब विचार व आचार व पवित्रता व सरलता हो तो जीवन मे भी सादगी आती है, विलासिता दूर भाग जाती है। विचार मे पवित्रता का अभाव ही विलासिता का मूल कारण है।

विदेश मे हेनरी फोर्ड नामक एक बहुत बडा उद्योगपति हुआ है। एक बार एक भारतीय उद्योगपति फोर्ड से मिलने उसके निवास स्थान पर गया। उस समय फोर्ड अपने खाने के बर्तन माज रहा था। भारतीय उद्योग-पति ने जब यह देखा तो उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—आप यह क्या कर रहे है ? यह काम तो नौकर ही कर देंगे। फोर्ड ने कहा—प्रात काल प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना भगी बनता है तो स्वय की झूठन साफ करने मे क्या बुराई है ?

मनुष्य को अभिमान दूर करने के लिए स्वय का कार्य स्वय को करना चाहिये। **परावलम्बन दु ख का कारण है**। आप दूसरो को हेय, छोटा समझ-कर उससे क्यो अपना कार्य करवाते है। धर्म कहता है कि स्वावलम्बी बनो। जो सादा जीवन चाहेगा वह स्वावलम्बी होगा। विचारो की पवित्रता के साथ-साथ सादगीपूर्ण जीवन आवश्यक है, सादगी के साथ आचरण की पवित्रता आवश्यक है। विलासिता का कोई अन्त नही, मानव इस विलासिता के कारण ही दु खी है।

एक व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार सीमित परिग्रह रखता है तो उसके जीवन मे दु ख को स्थान नही मिलता है। जिसके परिग्रह बढता जाता है, वह दु खी होता जाता है। सीमित परिग्रह होने पर, सीमित साधन होने

पर, साथ मे सन्तोष हो तो, वह दु खी नही हो सकता है। उमास्वामी आचार्य ने तत्त्वार्थ सूत्र मे कहा है कि—'अल्पारंभपरिग्रहत्व मानुषस्य' अल्प आरम्भ व अल्प परिग्रह पुन सद्गति, मनुष्यगति मिलने का सकेत है और बहु-आरम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुष' अर्थात् बहु आरम्भ बहुपरिग्रह दुर्गति, नरक का कारण है। आचार्य ने अत्यन्त स्पष्ट रूप से कठोर शब्दो मे, आरम्भ को नरक, दुर्गति का कारण बताया है। आत्मानुशासन मे कहा है कि कठोर शब्द ही आत्मा का मैल हटा सकते है। जैसे ब्रश कठोर होता है तभी वह फर्श का मैल साफ कर देता है, हटा देता है। उपर्युक्त इन दोनो सूत्रो को समझ कर, जीवन मे चिन्तन करना चाहिये। अल्पारंभपरिग्रह से मनुष्य कभी दु खी नही हो सकता एक बार परिग्रह, बढने के बाद, साधन—वैभव बढने के बाद फिर यदि घटते है तो वह मानव दु खी हो जाता है। इसलिये मानव को कभी भी सादगी नही छोडनी चाहिये। जीवन मे सादगी होगी तभी विचार व उद्देश्य पवित्र होगे और तभी जीवन भी पवित्र होगा। धर्म अन्तरग के साथ-साथ बहुरग मे भी पवित्रता सिखाता है। प० टोडरमलजी ने कहा है कि जब आपको राग नही है तो बहिरग मे परिग्रह क्यो रखते हो ? जब बहिरग मे परिग्रह है तो राग छूटना आसान नही है। आप भूल से कोई सोने का आभूषण आलमारी के बाहर छोड आये, जब आपको यह तथ्य याद आयेगा, ध्यान आयेगा तो तुरन्त विकल्प होगा कि अरे ! कोई उठा तो नही ले जायेगा। **परिग्रह है तो बिना विकल्प के रहना बहुत कठिन है। विकल्प ही आर्तरौद्र ध्यान का कारण बनता है। व्यावहारिक जीवन मे जिनके बहिरंग मे थोडी पवित्रता होगी। उन्हीं के अन्तरंग मे भी पवित्रता होगी जिनका व्यावहारिक जीवन स्वच्छ नहीं है उनका अन्तरग भी पवित्र नहीं हो सकता।** जो पर निन्दा मे, दूसरो की बुराई मे ही समय व्यतीत करता है, उसके विचार कैसे पवित्र रह सकते है ? ऐसे मानव स्वय की ओर, स्वय के जीवन की ओर दृष्टिपात नही करते। वे दूसरो की ओर ही झाकते रहते है, उनका जीवन कैसे पवित्र हो सकता है ?

परिग्रह मे सन्दर्भ मे झोपडी वाले से तुलना कीजिये, झोपडी वाला फुटपाथ वाले से तुलना करे, पच्चीस मजिल वाले मकान की ओर क्यो देखते हो ? ऊपर की ओर देखने से आखो पर जोर पडेगा, समदृष्टि रखने से चलने मे कोई परेशानी नही होगी। यदि धूल मे ठोकर मारकर चलोगे तो धूल सिर पर चढ जावेगी, पर धूल से बचकर, साफ-सुथरे मार्ग पर चलेंगे तो धूल धूसरित नही होवोगे। समयसार मे एक स्थान पर, समझाया गया है

कि – कोई व्यक्ति तेल लगा कर धूल भरे स्थान पर व्यायाम करता है अथवा कोई काम करता है तो शरीर पर धूल चिपकेगी ही पर यदि तेल नही लगा होगा तो धूल नही चिपकेगी। इसी प्रकार मन मे राग-द्वेष है तो कर्मबधन अवश्य होगा, राग-द्वेष की चिकनाई पर कर्मधूलि अवश्य चिपकेगी। यदि मन मे राग-द्वेष नहीं तो कर्म बंधन का कोई कारण नहीं। कर्म-बधन का, राग-द्वेष का कारण है 'वहिर्दृष्टि', इसलिये ही उन्हे (जिनकी वहिर्दृष्टि है) 'वहिर्आत्मा' कहा। वहिरग मे ही देखता है, अन्तरग मे उसकी दृष्टि जाती ही नही।

जिसका स्वय का जीवन पवित्र होगा उसकी दृष्टि सदैव दूसरो की अच्छाई की ओर ही जायेगी। कुछ प्राणी ऐसे भी होते है जिनके विचारो मे किसी पवित्र-स्थान पर जाने पर भी किंचित मात्र भी पवित्रता नही आती।

नारद जी एक वार स्वर्ग जा रहे थे। पृथ्वी पर ही, राह मे उन्होने देखा कि एक सूअर कीचड मे फसा हुआ है। नारद जी को उस पर दया आ गई, उन्होने सूअर से कहा—मैं तुमको यहाँ से निकाल दूँ ? सूअर ने कहा—ठहरो! मैं इस ओर से जरा एक डुवकी और लगा आऊँ। थोडी देर वाद नारद जी ने पुन पूछा—अव निकाल दूँ ? सूअर ने कहा—ठहरो! जरा एक डुवकी और लगा लूँ। कीचड मे डुवकी लगाते हुए ही सूअर ने नारद जी से पूछा आप कहा से आये हैं ? कहा जायेंगे ? नारद जी ने कहा—मैं स्वर्ग जा रहा हूँ ? सूअर ने पूछा—क्या आप मुझे भी स्वर्ग ले चल सकते है ? नारद जी ने कहा—हाँ चलो, तुम्हे भी स्वर्ग दिखा लाऊँ। उसने पूछा—स्वर्ग मे मुझे ऐसा कीचड मिलेगा कि नही ? उन्होने कहा—स्वर्ग मे कीचड का क्या काम ? यह सुनकर सूअर वोला—यदि वहाँ कीचड नही है तो मुझे नही जाना।

इसी प्रकार कुछ ऐसे भी मानव होते है जो मन्दिर, साहित्य, धर्म, तत्वज्ञान आदि साधन होते हुए भी नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी दृष्टि सदैव वुराई की ओर, अपवित्रता की ओर ही जाती है, ऐसे लोगो का उद्धार कौन कर सकता है ? धर्म शिक्षा देता है कि अपने जीवन को उन्नत वनाओ, ऊँचा उठाओ। धर्म, प्राणी का उपकार करता है। आचार्यों, चिन्तको ने धर्म-सिद्धान्तो को समझाने हेतु साहित्य सृजन किया है। जैसे यहाँ जयपुर मे प० टोडरमलजी हुए, उन्होने मोक्षमार्ग प्रकाशक की रचना की। कुछ लोग इस कृति के लिये उनका वहुत उपकार मानते हैं तो कुछ लोग नही मानते।

कुछ लोग तीर्थंकर की वीतराग वाणी का भी उपकार नही मानते, जब वह वीतरागवाणी उपकारक नही हो सकती तो साहित्य छपवाने से, वीतराग वाणी के प्रसार का क्या अर्थ है ? क्या प्रयोजन है ? क्या इससे कल्याण हो सकता है ? जब तीर्थंकर की वाणी से कुछ उपकार नही हो सकता तो ऐसा बताने वालो के प्रवचनो से क्या कल्याण हो सकता है ? जो तीर्थंकर की वाणी का कुछ भी उपकार न माने उससे बढकर कृतघ्न और कौन होगा ?

मानव-जीवन अति-मूल्यवान है। हमारे धर्म-प्राण देश से आज धर्म के ह्रास होने का कारण ही यह है कि आज हम परस्पर द्वेष करने लगे है, एक जाति वाले दूसरी जाति वालो से, एक धर्म वाले दूसरे धर्म वालो मे द्वेष करने लगे है। इस द्वेष मे धर्म दोषी नही है, धर्म कभी लडा नही सकता। धर्म के नाम पर लडने वाले, जाति को लेकर लडने वाले दोषी है। परस्पर मे धर्म लडे या धर्म को लेकर मूर्ख लोग लडे ? धर्म दोषी है या वे लडने वाले दोषी है ? धर्म परस्पर न लडवाता है, न लडवाया है और न लडवायेगा। सोचिये, धर्म कैसे धर्म का विरोधी हो सकता है ? सत्य कैसे सत्य का विरोधी होगा ? अमृत कैसे अमृत का विरोधी, विपरीत स्वभाव वाला होगा ? कहा भी है—

धर्मं यो बाधते धर्मं न च धर्मं कुवर्त्मतत्।
अविरोधात्तु धर्मं स धर्मं सत्यविक्रम ॥

सत्यनिष्ठ, सत्य का विरोध करे यह असम्भव है। कोई अग्नि को लेकर अपना घर जलाले और फिर कहे कि अग्नि इसके लिये दोषी है, अग्नि खराब है, इसी प्रकार अज्ञानियो ने धर्म को लेकर लडाईया स्वय ने की और बदनाम धर्म को कर दिया।

एक मेढक के मरने से समुद्र गन्दा अपवित्र नही हो जाता। किसी एक व्यक्ति के चारित्रिक पतन से समाज नही डूबता। हमारे यहा धर्म व सम्प्रदाय के नाम से अनेक द्वन्द्व होने लगे। हमारा देश धर्मनिरपेक्ष है। धर्मनिरपेक्ष का अर्थ है सम्प्रदाय महत्ता रहित, किसी भी सम्प्रदाय के प्रभुत्व रहित, धर्म रहित नही। पहले किसी विशिष्ट का राजा होता था तो वह अन्य सब सम्प्रदायो को नष्ट कर देना चाहता था, इतिहास इस का साक्षी है। पर आज किसी विशिष्ट सम्प्रदाय-पुष्ट राज्य नही है, इसीलिये कि सम्प्रदाय-धर्म के नाम मे कोई अशाति, अन्याय या अराजकता न पनपे। शासक का व्यक्तिगत धर्म कुछ

भी हो सकता है पर शासन व प्रजा के प्रति उसका धर्म है, प्रथम कर्त्तव्य है प्रजा की रक्षा करना, विभिन्न धर्मावलम्वी होने पर भी प्रजा का प्रेम व वात्सल्य के साथ पालन करना। सम्प्रदाय के नाम से होने वाले झगडो का हवाला सम्राट अशोक के गिरनार शिलालेख से प्राप्त होता है, जहा उन्होने प्रजा को सम्वोधित करने के लिए लिखवाया कि—"मैं आपके पूजा, पाठ भक्ति से अधिक खुश नही हूँ, आप परस्पर प्रेम से विना लडे रहे तो मैं खुश रहूँगा।"

धर्म के नाम से दूसरे का तिरस्कार करना उपयुक्त नही है। जाति मद (धर्म मद) करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव है।

शकराचार्य के जीवन की घटना है—एक दिन वे गगा-स्नान करके लौट रहे थे। शकराचार्य आत्मा, परमात्मा की चर्चा व विशद व्याख्या मे मग्न रहते थे। जव वे गगा-स्नान करके लौट रहे थे कि सामने एक हरिजन अपनी झाडू लिये खडा था। शकराचार्य ने कहा—रुक जा! मैं गगा स्नान कर आ रहा हूँ। हरिजन ने कहा—आपने किसको रुकने के लिए कहा है? यदि मुझे कहा है, तो मुझ मे व आपकी आत्मा मे क्या अन्तर है? जैसा शरीर आपका है, वैसा ही शरीर मेरा है। तव आपने किसलिये मुझे रुकने के लिये कहा? शकराचार्य ने यह सुनकर कहा—ओह! मुझे आज आत्मा-परमात्मा के दिव्य-ज्ञान का वोध हुआ है।

जव तक दूसरो के प्रति मत्सरभाव, द्वेषभाव नही छोडते तव तक सद्गति नही हो सकती। समाज को आदर्श, स्वच्छ, निर्मल और देश को सुन्दर व पवित्र रखना है तो पहिले द्वेष छोडना होगा। पूज्यपाद आचार्य ने कहा है कि यदि आप जिनेन्द्र भगवान की पूजा नही कर पाते तो रागी-द्वेषी देवताओ के पूजक तो मत वनिये। सन्मार्ग पर नही चल पाते तो कम से कम कुमार्ग पर तो मत वढिये। यदि ग्रन्थो का पारायण नही कर सकते, तत्त्व-ज्ञान नही कर सकते तो दुर्बुद्धि तो छोडिये, द्वेष को त्यागिये, इनको त्यागे विना जीवन पवित्र कैसे होगा? एक दूसरे से द्वेष कर कैसे कोई भली-भाति जीवित रह सकेगा, चाहे घर हो या समाज हो और जो स्वय को सुधार न सके वे समाज का क्या सुधार कर सकेंगे?

मेरी यही भावना है कि समाज सगठित हो, तभी देश सगठित होगा। हमे कोई राज्य प्राप्ति की भावना से या किसी दुर्भावना से सगठित नही

होना। भगवान महावीर के सिद्धान्तो का परिपालन कर एक आदर्श प्रस्तुत करने के लिये सगठित होना है। दूसरो की अच्छाई को स्वय भी अपनावें। आप बाजार मे सब्जी खरीदने जाते हैं तब उस सब्जी वाले की जाति या धर्म नही पूछते, उसकी अच्छी व ताजी सब्जी खरीद लाते हैं। इसी प्रकार किसी भी जाति-धर्म की अच्छाई को हमे अपनाना चाहिये। विना उदार-दृष्टिकोण के जीवन चल नही सकता। एक गृहस्थी अनेक लोगो के उपकार से चलती है। माता-पिता के प्रति कृतघ्नता, अध्यापक के प्रति कृतघ्नता अज्ञान है। जब सामाजिक जीवन ही जीना नही आया तो धार्मिक जीवन कैसे सफल होगा? कोई आपके प्रति कुछ उपकार करता है तो उसे मानिये, कृतघ्न मत बनिये। कुम्हार से पैसा देकर घडा खरीदने पर भी परस्पर मे दोनो का उपकार है।

सामाजिक सगठन व सम्यग्दर्शन के लिए वात्सल्य अग व धर्म-प्रभावना-अग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज हम वात्सल्य अग भूल गये हैं। एक निगोदीकाय जीव भी मोक्ष का अधिकारी है, केवल जैन कुलोत्पन्न ही इसके अधिकारी नही है। हरिजन और गिरिजन सभी पवित्रता से मोक्ष जा सकते हैं। जाति का दुरभिमान मत कीजिये। एक-दूसरे के अच्छे विचार सुनिये, बुराई न कीजिये। सबमे बुराई है तो अच्छाई भी है। कोई अयोग्य मनुष्य है ही नही, सबमे कोई न कोई अच्छाई, गुण अवश्य है, उसे ही देखिये, ग्रहण कीजिये, देखिये, आप अच्छाई का भण्डार बन जायेंगे, बुराई मत देखिये, बुराई देखेंगे, बुराई करेंगे तो आपके, हाथ क्या लगेगा? बुराई करेंगे तो स्वय बुरे बनेंगे। कोयले की दुकान मे घुसने पर काला अवश्य लगेगा। आप सदैव देश, मानवमात्र, समस्त पशु-पक्षी के प्रति सुख प्राप्ति के विचार रखे। विचार श्रेष्ठ होने चाहिये। एक-एक शब्द मे कलह निर्माण की अशान्ति निर्माण की शक्ति है, साथ मे प्रेम-भाव उत्पन्न करने की शक्ति भी है। अत प्रेम-भाव वाले शब्द का ही प्रयोग कीजिये।

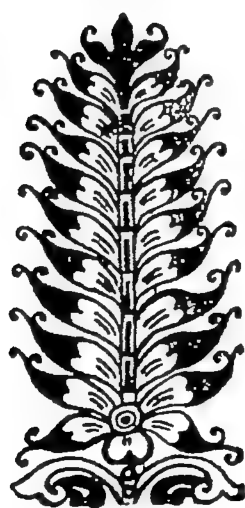
अत्याचार व लूट-खसोट से समृद्ध होने पर शाति नही है। हमे विश्व के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये। महावीर के सिद्धान्तो का वात्सल्य का प्रेम का जब आप पहले स्वयं पालन करेंगे तभी अन्य भी पालन करेंगे, उपदेश मे कोई नही अपनायेगा।

आपमे जैसी भी बने, गरीबो की सेवा कीजिये। मनुष्य का स्वयं के जीवन के साथ-साथ प्रकृति के साथ, पशु-पक्षियो के साथ भी सम्बन्ध है,

उनके प्रति दया-भाव रखने चाहिये। मनुष्य मे से दया, करुणा निकाल दें तो मनुष्य, मनुष्य नही रहेगा। दुर्भावना से, दूसरो की हत्या का इरादा कर के मारने वाला चाकू लाता है, जब वह चाकू चलाता है उसकी आखें क्रोध से आवेश से लाल हो जाती हैं, चेहरा विकृत हो जाता है, धडकन वढ जाती है घवराहट हो जाती है, दूसरी ओर एक डाक्टर भी चाकू चलाता है, न उसकी आखें लाल होती हैं न चेहरा विकृत होता है न धडकन वढती है वल्कि वह प्रसन्न शात मुद्रा से चाकू चलाता है क्योकि उसकी भावना हत्या की न होकर मरीज को वचाने की होती है। यहा भावनाओ का अन्तर है।

जीवन मानवीयता के साथ व्यतीत कीजिये। आज पढाई वढती जा रही है पर प्रेम, वात्सल्य घटता जा रहा है। प्रेम व वात्सल्य न होगा तो राष्ट्र मे शान्ति नही होगी। व्यक्तिगत शान्ति के साथ ही देश की शान्ति जुडी हुई है।

आप गुलावी नगरी जयपुर के वासी हैं, यह नगर ही गुलावी नही आप सव के दिल भी गुलावी हो, परस्पर प्रेम व वात्सल्य हो, यही भावना है।



स्वसन्तुलन का नवनीत—समता

विश्व के सब प्राणियो को स्व-समान देखने की दृष्टि धर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। जो धर्मात्मा होगा, सम्यग्दृष्टि होगा, वह समताभाव से अवश्य देखेगा। मिथ्यादृष्टि ही भेदभाव करेगा, उसके परिणामों मे समताभ आ ही नही सकता। यदि परिणामो मे परिवर्तन न कर हजारो शास्त्रो का पारायण करलें तो क्या लाभ ?

मदिर मे विराजित मूर्ति की रक्षा मानव करत है, यदि मानव स्वय सुरक्षित नही होगा तो उस मूर्ति की क्या रक्षा करेगा ? जीवित मूर्तियों की रक्षा करे, उन्हे धर्म-प्राण बनाये।

अाध्यात्म के मर्मज्ञ, अनुभवी आचार्य, अमृतचन्द्र ने एक पक्ति ऐसी कही जो मनुष्य के लिये चिन्तनीय है, विचारणीय है। उन्होंने कहा—"पश्य आत्मसदृश विश्व जीवलोक चराचर" अर्थात्—हे भव्य ! विश्व के सब चर-अचर प्राणियो को अपने समान देख।

विश्व के सब प्राणियो को स्व-समान देखने की दृष्टि धर्म के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। धर्म के विना यह सम्भव नही है। समान भाव से देखने मे ही समताभाव उत्पन्न होता है और यह समताभाव ही धर्म है। समताभावी ही धर्मात्मा है, सिद्धात्मा है, तीन लोक के पदार्थ उनके ज्ञान मे झलकते हैं, उन्हे देखने पर भी उनमे उनके प्रति सुख-दु ख का आभास नही होता। सुख-दु ख का आभास ससारी प्राणी मे ही तरतमभाव से अनेकानेक

भेद लिये हुये है। एक मा अपने दो पुत्रो को समान-भाव से देखती है, तो सोचिये धर्मात्मा सबको कैसे समान-भाव से नही देखेगा? जो धर्मात्मा होगा, सम्यग्दृष्टि होगा, वह समताभाव से अवश्य देखेगा। मिथ्यादृष्टि ही भेदभाव करेगा, उसके परिणामो मे समताभाव आ ही नही सकता। देवसेनाचार्य ने कहा है कि धर्मात्मा के कोई शरीरगत विचित्रता नही होती जिससे उसे पहचाना जावे, उसे तो उसके अन्तरग लक्षण समताभाव के द्वारा ही पहचाना जाता है, उसमे भेद-भाव, अपने-पराये के प्रति राग-द्वेप के भाव नही होते।

जैसे-जैसे मनुष्य का चिन्तन बढता जाता है, उसका क्षेत्र व्यापक होता जाता है, दृष्टि विशाल होती जाती है। अमृतचन्द्राचार्य चिन्तन करते-करते सम्यग्दर्शन की ऊचाई पर पहुँच गये। समताभाव केवल ग्रथ पढने से नही आता, खरीदने से नही आता, यह तो स्व मे डूबने से, दृष्टि जमाने से आता है। यह आसान भी है और कठिन भी है। लोक व्यवहार मे देखते है कि— माँ अपने बच्चे को गिरते ही उठा लेती है, और सभालती है, उसे चुप कराती है, वह दूसरे के बच्चो के साथ भी इसी प्रकार का व्यवहार करे, यही समताभाव का, सम्यग्दर्शन के व्यवहारिक व प्रारम्भिक लक्षण है, क्योकि वह स्व-समान, स्व-सदृश ही दूसरे प्राणियो को समझ रहा है, देख रहा है। समताभावी के विचार पवित्र व शुद्ध हो जाते है, उसके ज्ञान मे सारा विश्व समा जाता है। भेद-भाव से समाज मे फूट डालना, बुराई को देखना, उपयुक्त नही है। भेद मे अभेद देखना भेद-ज्ञान है। भेद-ज्ञानी की दृष्टि मे भेद-भाव न होकर अभेदपन होता है, उसका लौकिक जीवन भी पवित्र होता है। कोई व्यक्ति नित्य प्रति शास्त्र स्वाध्याय करे, धर्म पढे, चिन्तन करे, तत्त्व चर्चा करे और व्यापार मे वस्तुओ मे मिलावट करके बेचे, क्या धार्मिक व्यक्ति के सन्दर्भ मे ऐसा सम्भव है? और यदि ऐसा सम्भव है तो क्या वह धार्मिक है? अन्तरग व बहिरग त्याग के बिना पूर्ण समताभाव की उपलब्धि असभव है, यदि ऐसा न होता तो तीर्थंकर घर क्यो छोडते? सम्यग्दृष्टि घर मे रहता हुआ एक कैदी की भाति गिन-गिन कर दिन व्यतीत करता है, उदासीन दृष्टि से रहता है, 'भरतजी घर मे ही वैरागी' कहना बहुत आसान है। किसी भी सिद्धान्त को पढना पढाना आसान है, उसके साथ देखना यह है कि उसे पढने से परिणामो मे निर्मलता कितनी आई, स्वानुभव मे कितना उतरा? सभी अपने जीवन मे यात्राये करते हैं। यात्रा करने के बाद जीवन मे परिवर्तन आना चाहिये, स्वय मे जो बुराईया हो जैसे गाली देना आदि वे वही छोड आना चाहिये, तभी यात्रा सफल है। पहाड आदि तो द्रव्य तीर्थ हैं, आत्मा

ही सही असली तीर्थ है। उन पहाडो की यात्रा आत्म-शुद्धि के लिये ही तो करते हैं, यदि किंचित मात्र भी आत्म-शुद्धि नही हुई, बुराईया नही छूटी, अवगुण नही छूटे तो यात्रा करने से क्या लाभ है? केवल उस पहाड का चक्कर लगा लेने से कुछ प्राप्ति नही होगी, उन पहाडो पर अनेको पक्षी-पशु, कीडे-मकोडे भी चक्कर लगाते हैं, उनको क्या लाभ होता है? एक कन्नड कविता का भावार्थ है कि—जीवन मे अनेक शास्त्र पढे, उनके पन्ने पलटते रहने से (वे पन्ने) जीर्ण हो गये, पर पढने वालो के कर्म जीर्ण नही हुये। हमारे जीवन मे, अन्तरग मे, वहिरग मे परिवर्तन करना होगा। हम देखते है कि शरीर मे भी परिवर्तन होता रहता है, पर आत्मा मे शुद्धता की ओर कितना परिवर्तन हुआ है? आख वन्द होने पर कोई किसी का नही है, इसके वाद कहा जन्मेगे इसका क्या पता है? यदि परिणामो मे परिवर्तन न कर हजारो शास्त्रो का पारायण करलें तो क्या लाभ? यदि परिणामो मे निर्मलता नही आती है, तो सारा उद्यम व्यर्थ है।

एक रात कुछ व्यक्ति नाव मे वैठे, उन्हे नदी के दूसरे किनारे पहुँचना था। रात भर चप्पू चलाते रहे, अरुणोदय के समय थोडा प्रकाश होने से उन्होंने जानना चाहा कि हम किनारे पर पहुँचे या नही? सामने देखा किनारा तो था, किन्तु वह नही था, जहा पहुँचना था, वल्कि वही था, जहा से चले थे, क्योकि उन्होंने रात भर उद्यम तो वहुत किया, पर नाव की रस्सी, जो किनारे के पेड से वधी थी, उसे नही खोला था। इसी प्रकार जव तक जीवन मे वुराईयो की गाठ नही खोलेंगे, उसे नही छोडेंगे, तो क्या लाभ होगा?

एक वार शिवाजी को युद्ध के लिये एक दुर्जेय पहाड पर चढना था। उस पर चढने का कोई साधन नही था। शिवाजी ने एक रस्सी के माध्यम से सारी सेना को ऊपर चढाया और स्वय भी चढ गये। चढने के वाद उन्होंने सारी सेना के समक्ष वह रस्सी कटवादी। सेनापति ने इसका कारण पूछा। शिवाजी ने वताया कि यदि यह रस्सी लटकती रही तो सैनिको के मन मे यह विचार आ जायेगा कि सकट के समय इस रस्सी से पुन नीचे उतरा जा सकता है और इस विकल्प या विचार के कारण वे तत्परता से युद्ध नही कर सकेंगे, वीरता मे पराक्रम नही दिखायेंगे। रस्सी के न रहने से वे यही विचार करेंगे कि—इस विकट पहाड से उतरने का कोई साधन नही, इसलिये अपने कर्तव्य के प्रति दृढ एव तत्पर रहेगे। मानव भी जव तक मोहरूपी रस्सी को न काटे तव तक धर्म-आध्यात्म व तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकता है?

राहुल साकृत्यायन ने 'अथातो घुमक्कड जिज्ञासा' मे लिखा है कि— महावीर ने त्याग और तपस्या की, निर्द्वन्द विचरण किया, इसके लिये उन्होने करतल भिक्षा, तरुतल वास व दिक्-अम्बर अपनाया। महावीर किसी एक स्थान विशेष मे न रहकर निर्द्वन्द विचरण करते रहे। किसी स्थान का मोह न छूटा, यह मेरा आश्रम, यह मेरा मठ है, ऐसा मोह न छूट सका तो केवल आध्यात्म की पुस्तकें पढने से ही क्या होगा ? पुस्तके तो कम्पोजीटर भी पढता है। एक अनपढ व्यक्ति मे एक अश निर्मोह हैं तो वह भी मोक्षमार्ग पर है।

जैनाचार्यो ने तपस्वियो को एक ही स्थान पर रहने के लिये निषेध किया है। नही तो फिर तपस्वी व गृहस्थ मे अन्तर क्या है ? यदि तपस्वी को वैभवादि से, मकान-जायदाद से मोह है तो गृहस्थ मे व तपस्वी मे क्या फर्क है ? सोना व पीतल एक रग का होता है, पर उनके गुणो मे ही तो फर्क है, अन्तर है। वल्लभभाई पटेल ने एक स्थान पर लिखा है कि—केवल पीले वस्त्र धारण करने से जैन नही हो सकता, अहिंसा के साथ, निष्ठा के साथ पवित्र भावना रखने से ही जैन हो सकता है।

हमारे आचार्यो ने हमे वहुत साहित्य दिया है। आज भी अनेक लेखक हो रहे हैं। पर प्राचीन लेखको, आचार्यो मे व आधुनिक लेखको मे अन्तर है। प्राचीन पडित लेखक—जैसे प० दौलतरामजी, प० टोडरमलजी आदि ने पहले स्वय के जीवन पर सिद्धान्तो को उतारा तत्पश्चात् कागज पर अ कित किया। पर आज केवल कागज पर अ कित किया जाता है, लिखा जाता है, जीवन मे नही उतारा जाता, जीवन मे अ कित नही किया जाता। वे लोग अपनी अनुभुति के लिये, अपने सुख के लिये लिखते थे। अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—'स्वानुभूत्या चकासते'। तुलसीदासजी ने भी लिखा है कि— 'स्वान्त सुखाय तुलसी रघुनाथा'। आचार्यों द्वारा प्रदत्त साहित्य का अध्ययन, चिन्तन और अनुभूति ही लाभप्रद है।

हमे अपने साहित्य व सिद्धान्त की भी रक्षा करनी चाहिये। सस्कृत भाषा, साहित्य व उसमे निहित सिद्धान्तो की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है। यह आत्म-रक्षा का साधन है। वूढा व्यक्ति, लकडी को बहुत सम्भाल कर रखता है। क्योकि वह उसका सहारा है, उपकारक है। सस्कृत का पवित्र-साहित्य मुक्ति के पूर्व आत्मा का सहारा है अत उस साहित्य की रक्षा करनी चाहिये।

धर्म-मार्ग मे निर्द्वन्द विचरण करने के लिये समाज मे सस्कृत के विद्वान् तैयार करने होगे। ईसाई धर्म व सस्कृति के प्रचार हेतु साठ लाख व्यक्तियो ने पादरी व नन्स वन अपना जीवन धर्म को समर्पित कर दिया। उनमे से अनेक पादरी व नन्स अपने देश व परिवार को छोड भिन्न देश, भिन्न भाषा होने पर भी यहा आते है और अनपढ, गरीव व्यक्तियो को अत्यन्त वात्सल्य से धर्म पढाते है, समझाते है।

धर्म निष्कलक जैसे मानवो से चलता है, केवल अकलक जैसे से ही नही चल सकता है। निष्कलक ने धर्म के लिये स्वय प्राणार्पण कर दिये। वडे-वडे आचार्यो ने धर्म की रक्षा के लिये प्राणोत्सर्ग कर दिये। आत्म-रक्षा व धर्म-रक्षा परस्पर जुडे हुये है।

आप लौकिक-व्यवहार मे, व्यापार मे, रोग के इलाज मे हजारो रुपये खर्च करते है। यदि विद्या व धार्मिक शिक्षा के क्षेत्र मे दान देकर, एक-एक व्यक्ति सस्कृत व धर्म की शिक्षा के लिये, एक-एक छात्र के अध्ययन के खर्चे का उत्तरदायित्व ले, सस्कृत व धर्म के विद्वान् तैयार करें, तो आगे आने वाली पीढी के प्रति आप सही कर्तव्य निभायेगे। एक विद्वान् हजारो लाखो को ज्ञान-दान देगा, सन्मार्ग वतायेगा। स्व-सस्कृति, स्व-धर्म, स्व-भाषा की रक्षा आपके ही हाथ मे है।

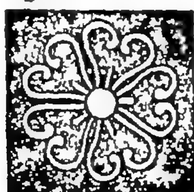
अत्यधिक भौतिक सम्पदा वढने पर मानव इससे भी ऊव जाता है, धर्म ही एक मात्र सहारा है, जो दु ख व सकट मे सहायक होता है। आज देखते है कि वृद्ध व्यक्ति (रिटायर होने के वाद) धार्मिक चर्चाओ मे रुचि लेने लगता है, धर्म से सम्वन्धित वात सुनना, समझना चाहता है, अर्थात् यही सहारा है, यह मान लेता है। यदि धर्म के प्रति प्रारम्भ से ही मन मे रुचि व भावना हो तो कितना उत्तम हो। आपका धर्म है, पर उसकी विशेषतायें-विशिष्टताये विदेशी या अन्य धर्मावलम्वी वताते हैं। हमारे सत्सिद्धान्त है, साहित्य है, पर यदि हम उसका प्रचार न करे, तो कैसे उसकी प्रभावना होगी ? जौहरी के पास वहुत उत्तम हीरे मोती हैं, जव तक वह उन्हे वाहर नही निकालेगा, किसी को दिखायेगा नही, कोई खरीदार कैसे आयेगा ? आज हमे अनेकान्त, स्याद्वाद, अहिंसा आदि सिद्धान्तो का विश्व मे प्रचार करना चाहिये। राष्ट्र-कवि रामधारीसिंह दिनकर ने अपनी कृति 'सस्कृति के चार अध्याय' मे एक स्थान पर कहा है कि - आज जहाँ दुनिया को पहुँचना था, वहाँ भगवान् महावीर व उनके अनुयायी पच्चीस सौ वर्ष पूर्व पहुँच चुके थे।

आज हमने मन्दिर मे मूर्तिया तो बहुत विराजमान कर ली, पर स्वय को वहा तक नही पहुँचा सके। जीवित मूर्तियो की भी रक्षा करें, उन्हे धर्म-प्राण बनाये। मन्दिर मे विराजित मूर्ति की रक्षा मानव करता है, यदि वह (मानव) स्वय सुरक्षित नही होगा तो उस मूर्ति की क्या रक्षा करेगा ? जीवित प्राणियो की, मानवो की सुरक्षा के बिना धर्म कैसे चलेगा। भगवान् की मूर्ति आत्म-कल्याण का साधन है, पर उसका उपयोग करने वाले नही हो तो उस साधन का क्या उपयोग होगा ? बच्चो को कहानी के रूप मे सरल-सहज रूप मे धर्म की बात समझाइये।

आज न धर्म की चिन्ता है, न साहित्य की चिन्ता है, केवल शरीर की चिन्ता है। सस्कृत भाषा, धर्म की रक्षा के लिये सस्कृत कॉलेज की तन-मन-धन से सेवा कीजिये। एक वर्ष मे पचास विद्वान् तैयार करने चाहिये, विद्वान् तैयार होने पर आपकी ही रक्षा होगी। एक बार गोपालदास बरैया ने 'जैनमित्र' मे लिखा था कि—आप बीस विद्यार्थियो को तैयार कीजिये, पढाइये, वे ही धर्म की रक्षा कर सकेगे।

सस्कृति धर्म की रक्षा करने के लिये विद्वानो को तैयार करना परमावश्यक है। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने 'सिद्धिविनिश्चय' की प्रस्तावना मे लिखा है कि—आज देश मे व्याप्त विकारो को दूर करना है, तो यह जैन-दर्शन व जैन-न्याय के पढने से ही होगा।

हमारे विचार मे सिद्धान्त तो उदार है पर हम स्वय उदार नही हैं। स्वय उदार न होकर न होकर ग्रन्थो का, तत्त्व सिद्धान्त का उपयोग न कर सकेंगे, तो यह कमजोर व्यक्ति के हाथ मे तलवार देने के समान होगा। धर्म की रक्षा के लिये पुनीत कर्तव्य होगा कि—समर्थ व्यक्तियो को एक-एक विद्वान् को तैयार करने का उत्तरदायित्व ले लेना चाहिये, इसी से धर्म की, देश की, सस्कृति की रक्षा होगी। हमारे यहा सस्कृत साहित्य का भण्डार है, उसकी, धर्म की, सस्कृति की रक्षा, तन-मन-धन से करना आपका कर्तव्य है।



विभिन्न रामायणों में प्ररूपित—

राम का जीवन आदर्श

धर्म का यथार्थ स्वरूप मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है, किन्तु जब धर्म मे विकृतिया आ जाती हैं, तो वह तोडता भी है।

धर्म एक है, वह है वीतराग-धर्म। जो इसको समझता है, जीवन मे उतारता है, वही धर्मात्मा है। किसी का भी तिरस्कार न करने का नियम लेने वाला, तिरस्कार न करने वाला, मेरी दृष्टि मे धर्मात्मा है।

शाति बाहर प्रपच मे प्राप्त नही हो सकती क्योकि शांति स्वय मे है, अन्तरग मे है। जब तक दिल मे धर्म है, बहिरग मे कोई अशान्ति नही होगी, दु ख नही होगा।

लोकापवाद के भय से धर्म को कभी मत छोडना। धर्म के साथ ही अनुशासन है, धर्म के अभाव मे नही।

धर्म का यथार्थ स्वरूप मनुष्य को मनुष्य से जोडता है किन्तु जब धर्म मे विकृतिया आ जाती है तो वह तोडता भी है। मैं जहा भी जाता हूँ, प्रवचन सभायें होती है तो देखता हू कि सारी सभा शान्ति से बैठकर प्रवचन-धर्म वचन सुनती है। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक आत्मा का स्वरूप शातस्वरूप है, वह शांति चाहता है। जब बहिरग मे, प्रपच मे देखते हैं तो चारो ओर अशाति ही दिखाई देती है, शाति कही नही प्राप्त होती है। शान्ति बाहर प्रपच मे प्राप्त हो भी नही सकती क्योकि शान्ति कही बाहर नही है—शान्ति स्वय मे है, अन्तरग मे है।

इस जयपुर को सब गुलाबी नगरी कहते हैं, इसे बहिरंग से भले गुलाबी कहें पर जब तक इसके निवासी दिल से गुलाबी नही होंगे तब तक यह असली गुलाबी नगरी नही हो सकती। इसे गुलाबी बनाने के लिये आप लोगो को भी तपस्या करनी होगी। सोने को अग्नि मे तपाने के बाद, छेनी से काटने के बाद ही आभूषण बनाकर पहना जा सकता है। मानव-जीवन भी तभी सुन्दर व स्वच्छ व निर्मल हो सकता है। जब वह तप तपे, तपस्या करे, कष्ट उठाये। पहाड चढने मे कठिनाई तो होती ही है पर यदि जीवन को उन्नत बनाना है तो जीवन मे कष्ट, सहिष्णुता, परमत-विचार-सहिष्णुता इत्यादि बातो को जब तक ग्रहण नही करेंगे तब तक आप महामानव नही बन सकते।

इस देश मे अनेक महापुरुष हुये हैं जिनमे पुरुषोत्तम राम भी हुये हैं। उनके जीवन-प्रवाह का प्रभाव समस्त एशिया की जनता के हृदय मे है। राम ये दो अक्षर अजर-अमर बन गये, कल्पवृक्ष के समान फलप्रदाता बन गये, इस अजर-अमरता के पीछे राम का त्याग व तप है। विविध रामायणो को देखने के बाद ज्ञात होता है कि यदि उनको बिना भेदभाव के सब स्कूल कॉलेजो मे पढाया जाये तो वर्तमान मे शिक्षा मे व्याप्त विषमतायें स्वय दूर हो सकती हैं।

दशरथ ने जब राम को दण्डकारण्य मे जाने की आज्ञा दी तो राम ने बिना जवाब-सवाल किये, बिना कुछ पूछे उनकी आज्ञा शिरोधार्य करली। **आध्यात्म रामायण** मे लिखा है कि जब लक्ष्मण को यह ज्ञात हुआ तो उन्होने राम से कहा कि—आपको पिताजी ने वनवास दे दिया। राम ने कहा—नही वनवास नही, दण्डकारण्य का राज्य कहो, वनवास कहना पिताजी का अपमान करना है। **आनन्द रामायण** के अनुसार लक्ष्मण ने राम से कहा कि—मैंने धनुष धारण कर रखा है, मैं देखता हू कि कौन आपको आपके अधिकार से वचित करता है ? आप वन मे नही जा सकते। तब राम ने कहा कि—हे लक्ष्मण ! यदि हम राज्य के लिये परस्पर मे लडेंगे, पिता से विरोध करेंगे तो कैसा इतिहास बनेगा, उससे लोग कैसी शिक्षा लेंगे। तुम धनुष छोड दो। तुम जिसके लिये (राज्य के लिए) धनुष उठा रहे हो, क्या वह अजर-अमर रहने वाली सम्पदा है ? लक्ष्मण ने कहा—नही। जब वह अजर-अमर नही, तो उसके लिये लडना किसलिये। हमे तो अजर-अमर कार्य करना है जो इतिहास मे स्वर्ण अक्षरो मे लिखा जाये और जिसे लोग अपना सकें, जो आदर्श बन सके।

वाल्मिकी रामायण मे लिखा है कि—जब राम व लक्ष्मण वन को जाने लगे तो सीता भी साथ जाने को उद्यत हुई। राम ने उसे कोमलागी होने के कारण अयोध्या मे ही रहने के लिये कहा। वाल्मिकी ने लिखा है कि तब सीता ने कहा कि—(अग्रे गमिष्यामि) मैं वन मे साथ चलूगी। विपत्ति के समय पति के आगे रहकर राह के काटो को, ककरो को कुचलती चलूगी, और सुख सम्पत्ति के समय आपके पीछे चलूगी। जब कौशल्या ने सीता के ये शब्द सुने तो बहुत प्रसन्न हुई कि ये शब्द नारियो के लिये मानदण्ड बनेंगे और इतिहास का निर्माण करेगे। सीता के ये विचार, उसके धर्म ज्ञान की देन थे। जिनसेनाचार्य ने कहा है—'नारी गुणवती धत्ते स्त्रीसृष्टेरग्रिमपद' जो विदुषी नारी होगी वह स्त्री जगत् मे अग्रिम पद पायेगी।

सीता ने राम का वन मे भी साथ निभाया। सध्या समय जलपान से निवृत हो रात्रि मे शयन-व्यवस्था की तो लक्ष्मण की आखो मे आसू देख लक्ष्मण से पूछा कि उन्हे क्या कष्ट है ? मैं दूर करू। लक्ष्मण ने कहा तुम मेरे कष्ट को दूर नही कर सकती। सीता के बहुत आग्रह पर लक्ष्मण ने कहा—राम जैसे पति, साथ मे देवर है, दो राजकुलो मे पली हुई तुम्हारे लिये आज बिछाने के लिए कुछ नही है, तुम्हे जगल मे भूमि पर सोना पड रहा है, यह देख कर मैं दु खी हू। सीता ने सोचा अभाव देख ये मेरे लिये दु खी होते रहेंगे, यह सोच वह कहती है कि तुम्हे जितना दु ख है उससे हजार गुना दु ख मुझे है। तुम शूरवीर देवर, राम पति है, मैं स्त्री हू, यहा मैं और सब समान भूमि पर सो रहे है, इससे तुम्हारा अपमान हो रहा है। तुम्हे ऊची भूमि मिलती, मैं जरा नीची भूमि पर सोती तो तुम्हारा विनय होता। उस दु ख को सुख मे परिवर्तित करने की कला सीता मे थी। यह कला उसने धर्म, आध्यात्मिकता मे, परिवार से, माता-पिता से सीखी थी, ऐसे सस्कार इन्ही से प्राप्त किये थे। घर के थोडे से अभाव के कारण लोग दु खी व चिन्तित हो जाते हैं और उस दु ख व चिन्ता मे ही जीवन खत्म कर लेते है। वहा जगल मे उनके पास ओढने-बिछाने के लिए कुछ न था तब भी वे अत्यन्त प्रसन्न थे। क्योकि उनके मन मे धर्म विद्यमान था। जैन कवि बुधमहाचन्द्र ने लिखा है—

रामचन्द्र अरु सीता रानी, जाय बसे दण्डक वन मे,
बुधमहाचन्द्र कहु जाओ, धर्मी के धर्म सदा मन मे।

यदि धर्म मन मे है, दिल मे है तो कही भी जाइये, घर मे, मकान मे, दुकान मे, जगल मे, धर्म साथ रहेगा मगलमय वातारण रहेगा। यदि दिल से

धर्म निकल गया तो पति-पत्नी परस्पर लडने लगेंगे पिता पुत्र मे कलह हो जायेगी, शिष्य अध्यापक मे विवाद हो जायेगा। जव तक दिल मे धर्म है, वहिरग मे कोई अशान्ति नही होगी, दुख नही होगा। यदि दु ख आ भी जाये तो उसी क्षण वीतराग परमात्मा का ध्यान कर वह दु खाभास दूर कर देगा।

धर्म से निर्भीकता आती है। इहलोकभय, परलोकभय, मृत्युभय, आकस्मिकभय आदि सभी भयो से मुक्त होने मे धर्म ही कारण है। वह धर्म हमारे आपके सवके मन मे मौजूद है।

राम, सीता व लक्ष्मण वन से आगे वढते जाते हैं और वधिकपुत्री शवरी की कुटिया मे जाकर उसका आतिथ्य स्वीकार करते है। हम जिन्हे आदर से नाम लेकर मन मे विराजमान करते है वे महापुरुष आपकी भाषा मे शुद्र की कुटिया मे जाते है, उसका आतिथ्य स्वीकार करते है। वाल्मिकी रामायण मे कहा गया है कि जाते समय राम शवरी को अजर-अमर होने का आशीर्वाद दे कर गये। कहा तो हमारा इतना पवित्र प्राचीन इतिहास, राम का आदर्श और कहा आज की मनोवृत्तिया है। पेशवा युग मे महाराष्ट्र मे कानून वनाया गया कि हरिजन यदि नगर मे प्रवेश करते है तो वे वहा की भूमि पर थूक नही सकते। उन्हे थूकने के लिए अपने साथ गले मे एक घडा वाधकर रखना होता था। मिट्टी मे पाव के चिह्न भी वाकी न रहे इसके लिए उनकी कमर मे एक एक झाडू वाधनी होती थी। यह यूरोपियन इतिहास मे उल्लिखित तथ्य है। वहा गधे, घोडे, कुत्ते घूम सकते थे थूक सकते थे पर इन्सानो के लिए वधन व नियम थे। कहा राम का आदर्श और कहा यह सकीर्ण मनोवृत्ति। गगा को पवित्र मानने वालो से पूछिये कि उसमे रहने वाले मेढक-मछली सव उस गगा मे ही शुद्धि करते है तव भी उस (गगाजल) को पवित्र मानते है और इन्सानो को हेय समझते हैं? मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि जव मेढक तिर सकता है, जटायु तिर सकता है, नाग-नागिन का भी णमोकार मत्र से उद्धार कर सकते हैं तो आप इन्सानो से, अपने ही भाइयो से, पडौसियो से, द्वेष व मत्सर भाव क्यो रखते हैं? और फिर कहते हैं कि हम धर्मात्मा हैं। धर्म इतना सस्ता नही है कि तिलक लगाकर या चावल चढाकर या चार पक्ति (शास्त्र की) पढकर उसे खरीद लिया जा सके। हम छोटी-छोटी वातो को लेकर धर्म के नाम पर, विना सोचे-समझे परस्पर तिरस्कार करते हैं।

एक बार वर्षायोग के समय मैं बडौत मे था। जन्माष्टमी सुगन्ध दशमी के दिन कुछ हरिजन महिलाये नहा-धोकर मेरे पास आई और बोली कि—आज हमारा उपवास है, आप हमे आशीर्वाद प्रदान कीजिये, मैंने आशीर्वाद प्रदान किया। वे लोग सुगन्धदशमी के दिन फिर आई और बोली आज भी हमारा उपवास है, हमे सुगन्धव्रत की कथा सुनाइये। मैंने कथा सुनाई। वे लोग मन्दिर के बाहर से गुजरती हैं तो मन्दिर-भवन को मस्तक नवाती हैं। उनकी भावनायें पवित्र हैं, वे इन्सान हैं फिर भी हम उनका तिरस्कार करते हैं। यदि उन्हे कुछ नही दे सकते तो कम से कम तिरस्कार तो नही देना चाहिये। केवल दो चार पुस्तके, शास्त्र पढने-लिखने से ही कोई बुद्धिमान या धर्मात्मा नही हो सकता, केवल इनके पढने से ही क्या होगा। किसी का भी तिरस्कार न करने का नियम लेने वाला, तिरस्कार न करने वाला मेरी दृष्टि मे धर्मात्मा है।

क्या दुनिया मे ऐसा कोई धर्म है जो द्वेष करना सिखाता हो ? धर्म जोडता है, तोडता नही। तोडना सिखाने वाला धर्म नही अधर्म है। तोडने की बात करने वाला, तोडने वाला, अधर्मात्मा है, जो ग्रन्थ तोडने की बात सिखाता है वह ग्रन्थ अधर्म-ग्रन्थ है। एक ओर तो कोई यह कहे कि सब एक परमात्मा के ही अश हैं। कोई यह कहे कि सब आत्माये समान हैं, समता भाव रखिये और फिर कहे कि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, यह मिथ्यादृष्टि है, तोडने की बात करे, क्या यह धर्म सम्मत मान्यता है। आप रेल के डिब्बे मे, स्कूल मे, कॉलेज मे, आफिस मे, विधान सभा मे, सब जगह तो सबके साथ मिलकर बैठ सकते हैं पर धार्मिक स्थान पर एक साथ बैठते ही कहते हैं कि यह अमुक धर्मावलम्बी है, मेरा इससे कोई सबध नही है। सब जगह मिलकर बैठ सकते है पर धर्म के लिए भेद-भाव करने लगते हैं। आज धर्म के अभाव मे कलह होती है।

धर्म एक है, वह है वीतराग धर्म, उसमे दुनिया समा जाती है और जो इसको समझता है जीवन मे उतारता है, वही धर्मात्मा है, परमात्मा है। दूध, फल, जल हरिजनो के लिए विषरूप नही हो जाते। जब प्रकृति उनके लिए प्रतिकूल नही है तो धर्म कैसे प्रतिकूल हो सकता है ? हमे अपने विचारो को, दृष्टि को विशाल बनाना होगा। आकाश अखण्ड है, हम सब उसकी छत्रछाया मे रहते है, कोई उसका बटवारा, टुकडे नही करता। मानव ने स्वय ने अपने जीवन मे बन्धन बना लिये, स्वय दु खी हो गया। हम देखते है

कि पाकिस्तान का कौवा (व अन्य पक्षी) भारत में, भारत का कौवा (व अन्य पक्षी) पाकिस्तान मे विना किसी पासपोर्ट के, विना किसी रोक-टोक के आते जाते है। इसी प्रकार साप-विच्छू आदि पशु कीडे-मकोडे भी विना रोक-टोक के आते जाते है, उन्हे किसी पासपोर्ट की आवश्यकता नही है। पर मानव ने अपने लिए बधन बना लिए है। इससे ज्ञात होता है कि मानव सबसे अधिक सकीर्ण मनोवृत्ति का प्राणी है।

कहते हैं कि एक जगल मे चौबीस तीर्थंकरो का मन्दिर था। एक दिन उसमे एक बन्दर घुस गया। वह प्रतिमाओ को बहुत ध्यान से देखने लगा। भगवान् अभिनन्दन जी की प्रतिमा के बन्दर का चिह्न देखकर वह आश्चर्यचकित हुआ। उसने सब प्रतिमाओ को ध्यान से देखा। उसने पाया कि कही गाय, कही घोडा, कही हाथी, कही शेर। वह मन्दिर से बाहर गया और सब पशु-पक्षियो को मन्दिर मे बुला लाया और जहा जिसका चिह्न था वहा बैठा दिया और स्वय भी बैठ गया। उधर से एक महिला निकली तो दर्शन करने मन्दिर मे गई, वहाँ का दृश्य देख वह तो मूर्च्छित हो गई। फिर एक सन्त पुरुष गुजर रहे थे, वे मन्दिर के दर्शन करने अन्दर गये, वे डरे नही, निर्भीकता से दर्शन करने लगे। जब वे अभिनन्दन भगवान् के दर्शन कर रहे थे तो वहाँ बैठे बदर ने उनके नमस्कार से खुश होकर, पाँव उठाकर आशीर्वाद प्रदान किया। उस व्यक्ति ने कहा—हम तुम्हे थोड़े ही भगवान् मानकर नमस्कार कर रहे हैं, जो तुम आशीर्वाद प्रदान कर रहे हो। बन्दर ने कहा—भगवान् नही मानते तो यहाँ पत्थर पर खुदवा क्यो रखा है। ये पत्थर की मूर्ति है, ये कौनसे भगवान् है ? व्यक्ति ने जवाब दिया ये अभिनन्दन भगवान् हैं। बन्दर ने पूछा—ये कैसे पहचाना ? उन्होने कहा—बदर के चिह्न से। तब बन्दर बोला तभी तो हम कह रहे है कि हम भी भगवान् है। दोनो मे कुछ देर विवाद चला। मानव ने कहा कि पशु-पक्षियो के आकार भिन्न है, मानवाकार एकसा है इसलिये मानव चिह्न न खुदवा पशु-पक्षियो के चिह्न खुदवा देते है। तब बन्दर ने कहा कि आज मुझे एक बात समझ मे आ गई कि मनुष्य की बाह्यकृति एक-सी होती है, पशु-पक्षी की विभिन्न होती है। मनुष्य बाहर से एक समान होने पर भी अन्दर से एक नही है और पशु-पक्षी बाहर से पृथकता लिये हुये होने पर भी अन्दर से एक हैं। आज हम पशु से भी गया बीता निम्न स्तर का जीवन जी रहे हैं।

आगे जाने पर सीता का अपहरण हो गया। इससे राम अत्यन्त दु खी

हुये। **पउम-चरिय** मे लिखा है कि तब पवन-पुत्र हनुमान ने वहां पहुंचकर राम से सीता की खोज निकालने की आज्ञा मागी। राम ने उन्हे अपनी अगूठी चिन्ह के रूप मे (जिससे सीता यह पहचान ले कि यह राम का ही अनुचर है) दी और सीता की खोज के लिये भेजा। हनुमान कामदेव थे, अत्यन्त मनोहर रूप था उनका। प्लवग नामक विद्या के द्वारा ये अनेक रूप धारण कर लेते थे। सीता को खोजने के लिये उन्होने इस विद्या से वन्दर का रूप धारण किया जिससे उन्हे लका मे कोई रोक न सके। वहा पहुच, उन्होने सीता को खोज निकाला। सीता ने हनुमान को राम का अनुचर स्वीकार नही किया। सीता ने पूछा कि यदि तुम राम के अनुचर हो तो उनकी आदते, गुण व विशेषताओ के वारे मे बताओ। तब हनुमान ने उनकी खान-पान सम्बन्धी विशेषताये बताई कि—

न मास राघवो भुक्ते न चैव मधु-सेवते।
वन्य सुविहित नित्य भक्तमश्नाति केवलम्॥
(वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड ३६/४१)

अर्थात्—"रामचन्द्रजी न मास भक्षण करते, न मधु का सेवन करते। वे तो केवल भली-भाति निष्पन्न किये हुये भात (चावल) का ही सेवन करते है।" राम शाकाहारी हैं, हनुमान से यह सुन कर सीता को राम का अनुचर होने का विश्वास हो गया।

महानुभावो! राम का नाम, महावीर का नाम लेने के अधिकार तभी है जब सब दुर्व्यसनो को छोड दे। राजस्थान मे वर्तमान मे शराबबदी की चर्चा भी बहुत हो रही हैं। दुर्व्यसन स्वय के छोडने मे छूटते है, केवल कानून बना देने मे कुछ नही होता।

हनुमान सीता का वृत्तान्त जानने के बाद राम व रावण मे घनघोर युद्ध हुआ। यह युद्ध सत्य व असत्य के मध्य, नीति व अनीति के मध्य था। रावण मारा गया। राम युद्ध स्थल मे गये, साथ मे विभीषण व अनेक अधिकारी थे। रावण के शव को देखकर एक पदाधिकारी ने उसे पैर से ठोकर मारनी चाही, राम ने उसे ऐसा करने मे रोका और कहा कि—

मरणान्तानि वैरानि यथा तव तथा मम।

हम इक्ष्वाकुवशी इष्ट सिद्धि के पश्चात् वैर नही रखते। अब मे रावण विभीषण का ही नही मेरे भी बडे भाई के समान है। जब मन्दोदरी को राम के विचार ज्ञात हुये तो उसने राम के चरणो मे आकर कहा—

धन्या राम त्वया माता, धन्या राम त्वया पिता ।
धन्या राम त्वयो वशो, परदारान् न पश्यति ।।

और वह भी राम की भक्त बन गई ।

राम ने युद्ध मे विजित भूमि विभीषण को सौप दी और स्वर्णमय लका को छोड आये । राम को स्वर्ण आदि वैभव ने मोहित नही किया । वे तद्भव मोक्षगामी थे, इसलिये वैभव का मोह उन्हे न ग्रस सका । धर्मात्मा पर-वस्तु को अपनी नही समझते, न उनसे राग ही करते है ।

वनवास की अवधि समाप्त कर वे अयोध्या पहुँचे । मा प्यार से लक्ष्मण के शरीर पर हाथ फेर रही थी कि सहसा उसे लक्ष्मण के सीने पर एक छाला दिखाई दिया । उसने लक्ष्मण से उस छाले के बारे मे पूछा । लक्ष्मण ने बताया कि युद्ध मे मुझे बाण लगा था । मा ने कहा—बेटा बहुत दर्द हुआ होगा । लक्ष्मण ने कहा— मा, बाण मुझे लगा था, मैं मूर्च्छित था, पर दर्द भाई राम को हो रहा था ।

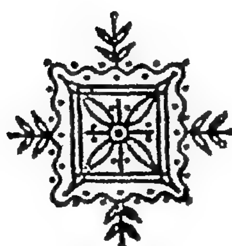
ऐसे थे वे दोनो भाई, जो दो शरीर, एक प्राण थे । यदि परस्पर भाई होकर भी एक दूसरे को धोखा दे तो क्या वे भाई हैं, क्या वहा धर्म है ? आप राम के जीवन से भ्रातृप्रेम की, भाईचारे की शिक्षा तो ग्रहण कीजिये । जो जीवन मे अपने भाई को धोखा नही देता वह दूसरो को भी धोखा नही दे सकता, ऐसा मेरा विश्वास है ।

पुन धोबी के अपवाद के कारण राम-सीता को वनवास के लिये भेजने लगे । लक्ष्मण ने इसका विरोध किया । राम ने कहा कि सत्य की सिद्धि के लिये मुझे सीता ही क्या राज्य को भी छोडना पडे तो मैं छोड दू गा । रविषेणाचार्य ने लिखा है कि कृतान्तवक्र नामक सेनापति दुखी मन से सीता को वन मे छोडने गये । सीता को छोडकर आते समय उन्होने राम के लिये सन्देश पूछा । सीता ने कहा—उनके लिये यही सन्देश है कि जैसे लोकापवाद के कारण मुझे छोड दिया है, त्याग दिया है वैसे किसी लोकापवाद के भय से धर्म मत छोड बैठना ।

अग्नि परीक्षा के लिये सीता को अयोध्या बुलाया गया, जिसमे वह सफल हुई । **पम्प रामायण** मे लिखा है तथा **रविषेणाचार्य** ने भी लिखा है कि—उस समय सीता ने राम से कहा कि हे राम ! मेरे कारण आपको कितने कष्ट उठाने पडे । विवाह तक आप सुखी थे । विवाह के कुछ समय

पश्चात् ही आपको वनवास मिल गया। कहा तो आप प्रात चक्रवर्ती होने जा रहे थे, कहा उसी सध्या काल मे पेड के नीचे बैठे थे। वनवास मे ही मेरे कारण रावण से युद्ध करना पडा। वहा से लौटे तो मेरे ही कारण एक धोवी ने आप पर अपवाद आरोपित किया। मुझे लगता है अशाति का कारण मैं ही हूँ। सीता ने स्वय को दोषी मान कर सारा दोप स्वय पर लेकर पति को निर्दोप सिद्ध कर दिया, उसने पति को परमात्मा वना दिया। वह सिद्धान्त को समझती थी, तत्वज्ञाता थी, धर्म को जानती थी, शुभाशुभ के परिणाम को भी समझती थी, इसलिये उसने स्वकर्मो का दोप दूसरो पर आरोपित नही किया। सीता के महान् जीवन से सब महिलाये यही आदर्श अपने जीवन मे उतारें, शिक्षा ग्रहण करे कि जीवन मे आने वाले छोटे-छोटे कष्टो को, अभावो को सहन करने की क्षमता रखे, उन्हे शाति के साथ सहन करें।

मैं अपनी कर्नाटक यात्रा के दौरान पिछले दो महीने से इस शहर मे हू। आप सब (यहा के निवासी) धार्मिक विचार वाले है, आप लोगो का व्यवहार वहुत अच्छा व धार्मिक है। राजस्थान मे मरुभूमि मे रहते हुये भी आप लोगो के दिल व दिमाग समताभावी हैं, आपकी सद्भावनाये मेरे साथ हैं मेरी सद्भावनायें आपके साथ है। आप लोगो के आचार-विचार धर्म व देश के अनुरूप हो, उत्तर-दक्षिण का भेद समाप्त हो, अखण्ड भारत सदैव धर्मात्मा वनकर विश्व के कल्याण मे योगदान दे, मानवमात्र सुख शान्ति से रहे। आपकी वुद्धि धर्म मे वनी रहे, यही भावना है।



अहंकार के आठ रूप

सम्यग्दृष्टि के, मद का एक भी अश हो तो वह उसके सम्यग्दर्शन को, धर्मात्मभाव को कलकित कर देगा, नष्ट कर देगा।

ज्ञान वही है जो स्वहित करे व अहित हरे, यही सद्‌ज्ञान है, सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान होने के साथ, शोध करने के साथ, यदि जरा भी दुरभिमान हो तो वह ज्ञान निष्फल है।

आचार्यों ने धर्म के जो नियम बताये हैं वे नियम सार्वकालिक व सार्वभौम है। वे नियम, हर आत्मा को धर्मात्मा बनने के लिये उपादेय हैं। आचार्यों, तपस्वियो ने अपने चिन्तन के द्वारा प्रसूत तथ्यो को ग्रंथो मे लिखा। अपने चिंतन, मनन व अनुभव के द्वारा कुछ नियम बताये हैं। गृहस्थ हो या गृहविरत वे नियम प्रत्येक मानव के लिये सामाजिक, व्यावहारिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी धरातल पर अत्यन्त उपयोगी हैं।

आचार्यों ने बताया कि प्राणी मे, मानव मे आठ प्रकार के मद हो सकते है। इन मदो से जो मुक्त होगा वही धर्मात्मा कहलाएगा, सम्यग्दृष्टि कहलायेगा। रत्नकरड श्रावकाचार में आचार्य ने लिखा है—

ज्ञान पूजा कुल जाति, बलमृद्धि तपो वपु ।
अष्टवाश्रित्य मानित्व, स्मयमहुर्गतस्मया । २५

ज्ञानमद—थोडे से ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् अह होना कि मैं बहुत ज्ञानी हू मेरे समान कोई ज्ञानी नही है ज्ञानमद है। भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक मे

एक स्थान पर स्वयं के लिये लिखा है कि—जब मैं थोडा जानता था तो मैं हाथी के जैसे गर्व से चलता था कि मुझसे बडा कोई ज्ञानी नही है और जब ज्यादा जानने लगा तो चीटी के जैसे चलने लगा, क्योकि तब आभास हुआ, ज्ञात हुआ कि ज्ञान अनन्त है इसका कोई अन्त नही और इस अपेक्षा से मैं कुछ नही जानता।

मनुष्य का ज्ञान तभी कार्यकारी है, तभी वह आत्मकल्याणक होगा जब उसका (ज्ञानका) मद नही होगा। जिस ज्ञान का मद है, वह ज्ञान अज्ञान रूप है, मिथ्याज्ञान है क्योकि मद अज्ञान का अंश है। इसलिये धर्मात्मा के लिये पहली शर्त है नियम है कि—वह ज्ञानमद न करे, यदि हो तो उसका त्याग करे। जब ज्ञानमद नही होगा, ज्ञान मद रहित होगा तभी वह आत्महित के लिए प्रवृत होगा, बुद्धि का सदुपयोग करेगा। ज्ञानमद होने पर वह बाहर भटकेगा, तब वह ज्ञान, न स्वय के लिये कल्याणकारी होगा और न पर के लिये। ज्ञान वही है जो स्व हित करे व अहित हरे, यही सत्य ज्ञान है, सम्यक्ज्ञान है।

जिसने स्वहित किया है वही परहित का मार्ग बताने मे समर्थ हो सकेगा। जो अपना हित नही कर सकता वह दूसरो का हित करने व हित का मार्ग बताने मे कैसे समर्थ हो सकेगा? जो स्वय सूरदास ; वह दूसरो को क्या दिखा सकता है? पर ज्ञान मे तिलतुष मात्र भी मान (कषाय) व मद नहीं होना चाहिये।

बडे-बडे आचार्यों ने तपस्वियो ने चिन्तन से ज्ञान प्राप्त कर उसे ग्रथो मे उत्कीर्ण किया और अन्त मे लिखा कि—यदि मुझसे कुछ भूल हो गई हो तो विद्वान पाठक उसे सुधार लें। कितनी विनम्रता है! ज्ञान हमें विनम्रता सिखाता है। विना विनम्रता के ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। इसलिये धर्मात्मा के लिये पहली शर्त है कि ज्ञान का मद न करे।

पूजामद—द्वितीय शर्त है कि पूजा का मद न करे। बहुत से लोग मेरी पूजा करते हैं, सम्मान करते हैं, जयजयकार करते है इससे मद उत्पन्न हो जाये। व्यक्तिपूजक की चाह व मद वाले सभी नष्ट हो गये। राम, महावीर यदि व्यक्तिपूजा का मद करते तो आज तक उनका नाम न रहता। धर्मात्मा को, सम्यग्दृष्टि के पूजामद से दूर रहना होगा।

कुलमद—यह मद होना, अभिमान होना कि मैं इस कुल मे जन्मा हूँ। मेरा कुल इतना ऊँचा है। यह दिल से निकलना सहज नही है। सम्राट चन्द्रगुप्त चाहते थे कि मैं लिच्छवीवश की कन्या से ही विवाह करू और उन्होने काफी वडी उम्र तक केवल इसीलिये विवाह नही किया। जब लिच्छवी वश की कन्या कुमारदेवी से विवाह किया तो दुनिया मे इस वात का प्रचार व प्रसार करने के लिये सिक्को पर स्वय की व कुमारदेवी की तस्वीर अकित कराई।

पिता की परम्परा को श्रेष्ठतम मानना उसका अभिमान करना ही कुलमद है।

जातिमद—माता के परिवार का मद करना जातिमद है।

कुलमद व जातिमद धार्मिक प्रवृत्ति वाले लोगो मे अधिक होता है। पर चाहे कितना ही पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा करे, यदि कुलमद व जातिमद है तो वह कभी धर्मात्मा नही हो सकता।

राम ने जातिमद-कुलमद किया होता तो वे कभी भी वधिकपुत्री शवरी का आतिथ्य स्वीकार नही करते, पर उन्हे ये मद नही थे इसलिये उन्होने उसका आतिथ्य स्वीकार किया और उसे अमर होने का आशीर्वाद दिया।

वलमद—अपनी शारीरिक शक्ति का, ताकत का अभिमान करना वलमद है। अपनी शक्ति का प्रयोग दूसरे को कष्ट पहुंचाने मे, विघ्न पहुंचाने मे किया जावे वह कैसे धर्मात्मा हो सकता है ?

ऋद्धिमद—धन-वैभव का, ऋद्धि का मद करना, थोडे से वैभव की प्राप्ति से दुरभिमान से भर जाना ही ऋद्धिमद है। महापुरुषो ने, महावीर ने, विशाल वैभव को क्षणभर मे त्याग दिया, थोडे से वैभव से गर्वित होना अज्ञानता का प्रतीक है।

तपमद—अपनी तपस्या के मद में डूब जाना। यह अभिमान करना कि मैं इतना वडा तपस्वी हूँ, मेरी तपस्या मे इतना बल है, मैं अपने तप से अभी श्राप दे सकता हूँ ऐसी भावना वाला व्यक्ति धर्मात्मा कैसे हो सकता है ?

वपुःमद—अपने सुन्दर शरीर का अभिमान करना। अपनी सुन्दरता के पीछे गर्वोन्मत होना कि मैं अद्वितीय सुन्दर हू।

पर इस सुन्दर शरीर के अन्दर भी कभी झाका है कि यह अन्दर से कैसा है ? यदि मास-मज्जा के विद्रूप ढाँचे पर से यह सुन्दर चमडी हटादें तो चील–कौवे इसके पीछे लग जाये और मनुष्य को जीवित न छोडे।

जब तक अन्तरग से ये मद न निकलें तो प्राणी धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? धर्मात्मा होने की, सम्यग्दृष्टि होने की प्रथम शर्त है इनका त्याग करना। इसीलिये समन्तभद्राचार्य ने कहा कि इन मदो से रहित प्राणी ही धर्मात्मा हो सकता हैं।

धर्म ऐसा सस्ता व आसान नही कि उसे खरीद लिया जा सके, मदिर मे चावल, फूल चढाकर उसे नही खरीदा जा सकता। धर्मात्मा होने के लिए इन आठो मदो को दिल से निकालना होगा। यदि अमृतमय लड्डू मे एक भी अश जहर का है तो वह ग्राह्य नही है, दूध के एक घट मे जरा सा भी नमक डाल दिया जाये तो वह दूध काम का नहीं है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि के, मद का एक भी अ श हो तो वह उसके सम्यग्दर्शन को, धर्मात्मभाव को कलकित कर देगा, नष्ट कर देगा।

बडे-बडे अनेक शोधकर्त्ताओ, वैज्ञानिको ने अनेक खोजो के पश्चात् मद नही किया दुरभिमान न किया। ज्ञान होने के साथ, शोध-करने के साथ यदि जरा भी दुरभिमान हो तो वह ज्ञान निष्फल है। हम सर्वप्रथम 'मैंने किया' यह दुरभिमान, मान-कपाय व मद छोडने के बाद ही धर्म मे प्रवेश कर सकते हैं। जैसे मोन्टेसरी स्कूल मे प्रवेश लेने वाले बच्चे अल्पज्ञानी व छोटे होते है, उसी प्रकार इन आठ मदो को छोडने पर धर्म के मोन्टेसरी स्कूल मे हमारा नाम दर्ज होगा। अभी हम धर्मात्मा नही हुये, अभी केवल प्रवेश मिला है।

इन मदो का चिन्तन कीजिये। विचार कीजिए कि मुझ मे कितने मद है ? उन्हे दूर करने के प्रयत्न कीजिए। जीवन मे कदाचित् उनमे से कोई मद पुन जागृत हो जाये तो फिर उसे हटाने का प्रयास करें।

एक बार रेल के तृतीय श्रेणी के डिब्बे मे गाधीजी व सरोजनी नायडू यात्रा कर रहे थे। उस समय गांधीजी इतने प्रसिद्ध न थे। डिब्बे मे दो-तीन युवक भी बैठे थे, उन्होंने पान खाकर वही डिब्बे मे उसका पीक थूक दिया। उनके कुछ छींटे उछलकर गाधीजी की धोती पर लग गए। सरोजनी नायडू को यह बुरा लगा, वे कुछ कहने को उद्यत हुई पर गाधीजी ने मना कर

दिया। युवको को गर्व हुआ कि हमने इस वुड्ढे के कपडो पर भी छीटे लगा दिये, हम तो नवयुवक हैं, हमे कौन रोक सकता है? उन्होने दोबारा थूका, तव गाँधीजी ने अपनी अजली आगे करते हुए कहा कि आपको कुछ तकलीफ है, आप इसमे थूक दीजिए, मैं डिब्बे से वाहर फेंक दूगा। युवक कुछ शर्मा गए। जव गाधीजी का गन्तव्य स्थान आया तो उन्होने देखा कि गाधीजी को लेने स्टेशन पर वहुत से व्यक्ति आए है, तव उन्हे ज्ञात हुआ कि ये सज्जन गाधीजी थे, तव वे वहुत शर्मिन्दा हुए।

आज हमारे युवावर्ग मे दुरभिमान व्याप्त है उन्हे भी इन आठो मदो से, दुरभिमान से दूर रहने की शिक्षा देने की अत्यन्त आवश्यकता है यह दुरभिमान मानव को चूर-चूर कर देता है। हिटलर इतना शक्तिशाली था किन्तु दुरभिमान ने उसका सर्वनाश कर दिया, उसे कलकित कर दिया।

कुछ वर्ष पूर्व जर्मन से एक दल आया था, वह दल जव मेरे पास आया तो मैंने उनसे पूछ लिया कि आपके व आपके देशवासियो के, हिटलर के वारे मे क्या विचार हैं। उन्होने कहा हम जर्मनवासी हिटलर का नाम लेना भी पसन्द नही करते, आप क्यो हमे उसकी याद दिलाते हैं? पर वम्बई मे ऐसे पाँचसौ दुकानदार-व्यापारी हैं जो हिटलर का नाम लेकर ही अपना प्रत्येक कार्य सम्पन्न करते हैं। उनका कहना है कि यदि यह व्यक्ति न होता तो आज हम करोड़पति नही हो सकते थे। हम दीवाला निकालने वाले थे कि हिटलर ने युद्ध प्रारम्भ कर दिया, महगाई वढ गई, सव सामान दुगना महगा हो गया जिससे हम दिवाला निकालने से वच गए और करोडपति हो गये। इसलिए वे हिटलर को अपना भगवान मानते हैं।

मनुष्य के स्वार्थ विचित्र है। नि स्वार्थ जीवन विताने के लिए, जीवन को उन्नतशील वनाने के लिए, धर्मात्मा वनने के लिए इन मदो को, दुरभिमानो को त्यागना होगा।



स्वदोष शमन ही उन्नति का सोपान है

मनुष्य के जीवन मे सब वैभव हो पर धर्म व शाति न हो तो वह जीवन शुष्क है, निष्प्रयोजन है व पशुवत् है। कोई भी, तत्वचर्चा व धर्मध्यान की विधि बताने मे सहायक हो सकता है, पर एकाग्र स्वय को ही होना होगा। प्रपच के कार्यो के लिये साथी की आवश्यकता है पर धर्मध्यान अकेले, एकान्त में, एकाग्रता से करना होगा। स्वय के कर्म स्वय ही धो सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं और करने होगे। परमात्मा किसी के कर्म नही धो सकता, नष्ट नही कर सकता। परावलम्बन ही दु ख का कारण है।

जब भगवान की भक्ति मे, उनके गुणो के चिन्तन मे स्वय लीन होगे तभी पाप नष्ट होगे। जब भक्ति से चित्त की शुद्धि होती है तभी उससे कर्म नष्ट होते है। ससार समुद्र से पार होने के लिये, दु:ख से पार होने के लिये, शाति प्राप्त करने के लिये साधनो को भी त्यागना होगा। साधन छोडे बिना इष्ट स्थान पर नही पहुँच सकते। आत्मानुभव के बाद शास्त्रो की, मनन की, चिन्तन की कोई आवश्यकता नही है। ज्ञान सबके पास है, पर धर्मध्यान का एक अंश भी आत्मसात करले, पचालें तो सब पापकर्म नष्ट कर सकते है।

मानव–मस्तिष्क, विचारो का विश्वविद्यालय है। प्रत्येक मानव निरन्तर जीवनभर चिन्तन करता रहता है। इसी को शास्त्रीय भाषा मे (शास्त्रो

में) ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग कहा है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं जो चिन्तन-शून्य हो। यह पृथक बात है कि चिन्तन की दिशाये अपनी-अपनी हाती है अत इनमे भिन्नता हो सकती है। चिन्तन का मूल आधार एक है, सब मनुष्य अपने चिन्तन के फलस्वरूप शांति चाहते है। ऐसा कोई मनुष्य नहो जो शांति की चाह न रखे। इसी प्रकार समन्तभद्र स्वामी के चिन्तन से प्रसूत श्लोक हैं-

स्वदोष शान्तया विहितात्मशान्ति शान्तेर्विधाता शरण गतानाम्।
भूयाद्भव-क्लेशभयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवन् शरण्य ।८०।
(वृहदस्वयभूस्तोत्र)

जव मनुष्य स्व-दोषो को शांत करता है, शमन करता है तो अन्तरग मे शान्ति स्वय ही प्रकट होती है, अन्यथा वहिरग मे कही शांति नही है। शाति स्वय मे है, अपने मे है, इसलिये अपने को देखना है, अपने को खोजना है। परन्तु फिर भी जव तक मनुष्य ससार मे जीता है, जन्म से मरण के बीच के काल में वह पर पदार्थ के सयोग को सर्वथा त्याग भी नही सकता। जव भी कभी सर्दी महसूस करते है तो धूप मे जाकर खडे हो जाते हैं, गर्मी महसूस करते हैं तो वहाँ से हट जाते है, इसी प्रकार कभी सुख अनुभव करते हैं, कभी दु ख अनुभव करते है, जीवन का यही क्रम चलता रहता है।

प्रत्येक वस्तु के सेवन की एक मात्रा होती है। भोजन मे उचित मात्रा मे नमक डाला जाता है, तो वह स्वादिष्ट लगता है, यदि उसमे दो-तीन मुट्ठी नमक डाल दिया जाये तो वह भोजन ग्राह्य नही रहेगा। चतुर पाकशास्त्री व रसोइये भोजन को स्वादिष्ट वनाने हेतु हिसाब से नमक डालते है। खाने वाला पाककला नही जानता किन्तु फिर भी नमक का कम ज्यादा होना बता देता है।

भोजन मे नमक न हो तो भोजन स्वादिष्ट नही लगता, ऐसा आप सब मानते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन मे सब वैभव हो पर धर्म व शान्ति न हो तो वह जीवन शुष्क है निष्प्रयोजन है पशुवत् है। कभी रसोई-घर मे एक साथ दो व्यक्ति काम करते हैं और दोनो ही भोजन मे नमक डाल देते है तो वह भोजन ग्रहणीय नही रहता। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन मे जब पर पदार्थों का सयोग होगा, दूसरे का सयोग होगा तो वहाँ अशान्ति होगी, वार्ता होगी, कलह होगी। इसलिये मन्दिरो मे, उपाश्रयो में, एकान्त मे शाति से बैठकर धर्मध्यान करने के लिये कहा गया है। धर्मध्यान मे कोई सहायक नही

हो सकता, कोई भी तत्त्वचर्चा एव धर्मध्यान की विधि बताने मे सहायक हो सकता है पर एकाग्र स्वय को ही होना होगा। परावलम्बन ही दुख का कारण है। ध्यान मे स्वावलम्बी होना होता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने एक स्थान पर लिखा है—एक व्यक्ति कही जा रहा था, उसे दूसरे व्यक्ति ने कहा कि—अकेले मत जाना, किसी को साथ लेकर जाना। यह सुनकर कुन्दकुन्द मुस्कुराते हुये बोले—आप जब इस दुनिया मे आये तो किसी को साथ लेकर नही आये थे, जब जाओगे तब किसी को साथ नही लेकर जाओगे तो इनके बीच में क्यो किसी का साथ चाहते हो? **प्रपच कार्यों के लिए साथी की आवश्यकता है पर धर्मध्यान अकेले, एकान्त में एकाग्रता से करना होगा। स्वय के कर्म स्वय ही धो सकते हैं, नष्ट कर सकते हैं और करने होगे, परमात्मा किसी के कर्म नहीं धो सकता, नष्ट नहीं कर सकता।** अपना पेट भरने के लिये स्वय को ही भोजन करना होगा, चबाना होगा, पचाना होगा, तभी रक्त बनेगा। आपके बदले दूसरा व्यक्ति भोजन करले तो आपका पेट नही भर सकता, आपके द्वारा खाया हुआ अन्न ही आपको फल देगा। खाया हुआ अन्न यदि पचता नही है, उसका रक्त नही बनता तो वह अन्न भी आपका नही है, उसको चबाने आदि का परिश्रम व्यर्थ का है। ज्ञान भी आपको स्वय को प्राप्त करना होगा। आचार्य ने कहा है कि—

हेयोपादेय विज्ञान न चेत् व्यर्थश्रमश्रुतौ

अर्थात्—हेय–उपादेय को जाने बिना, उपादेय को ग्रहण किये बिना, अनुभव किये बिना आपका अध्ययन, मनन, चिन्तन, परिश्रम व्यर्थ है। जैसे डाक्टर स्वास्थ्य के बारे मे खाने की मात्रा नही पूछता, पचने की मात्रा पूछता है। इसी प्रकार मुक्ति प्राप्ति के लिये, धर्मात्मा बनने के लिये बहुत सारे ज्ञान की आवश्यकता नही मानी। उपनिषद् मे लिखा है—'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्,' परिशुद्ध ज्ञान की एक चिनगारी भी समस्त कर्मों को खत्म कर सकती है। जैनाचार्यों ने लिखा है कि—ध्यानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्'। यहाँ ज्ञान व ध्यान के अर्थ मे अन्तर नही है केवल शब्दो का अन्तर है, अर्थ समान है। सुमेरु पर्वत जितने बडे रूई के ढेर को अग्नि की एक चिनगारी जलाने मे सक्षम है। आपके मन मे जरा भी धर्म का अश हो तो वह आपके पापो को नष्ट करने मे सक्षम है। ज्ञान सबके पास है पर धर्मध्यान का एक अश भी आत्मसात कर लें, पचाले तो सब पाप कर्म नष्ट कर सकते है। इसीलिये समन्तभद्र स्वामी ने स्वदोपशाति के लिये लिखा है।

अपने दोषो को नष्ट करने पर ही शांति मिलेगी। बहिरग मे दुनिया भर के दोष समाप्त करने चले तो शाति मिल ही जायेगी यह निश्चित नही है। गली-मुहल्ले मे सफाई करे झाड़ू मारे पर स्वय के घर की सफाई न करें तो घर तो गदा ही रहेगा। अपने घर से ही सफाई प्रारम्भ करनी होगी। पहले स्वय के दोष स्वय को ही शात कर करन होगे।

केवल भगवान की भक्ति से ही पाप नही नष्ट होते। जब भगवान की भक्ति मे, उनके गुणो के चिन्तन मे स्वय लीन होगे तभी पाप नष्ट होगे, जब भक्ति से चित्त शुद्धि होती है तभी उससे कर्म नष्ट होते है। यह भी साधन है यह भी छूट जायेगा। साधन छोडे बिना इष्ट स्थान पर नही पहुच सकते। नाव किनारे पहुचने का साधन है, यदि किनारे पहुचने पर भी उस नाव को न छोडे तो वह पुन दूसरे किनारे पर आ जायेंगे, उसे बिना छोडे पार नही हो सकेगें। इसी प्रकार ससार-समुद्र से पार होने के लिए, दुख से पार होने के लिए, शांति प्राप्त करने के लिए साधनो को भी त्यागना होगा।

मानव जीवन मे धर्मध्यान करते समय अनेक बाधायें आती है। पूर्व कर्मफल से धार्मिक व्यक्ति के जीवन मे भी कई बाधायें आती हैं जो उसे मार्ग से थोडा सा भटका सकती है, पर इन बाधाओ से धर्मध्यान नही छोडना चाहिए। घोडे पर सवार होने वाला ही गिर सकता है, पर क्या इसमे डरकर कोई घोडे पर चढना छोड देते हैं? क्या दुर्घटना के डर से रेल मे बैठना छोड देते हैं। क्या हानि के डर से व्यापार करना छोड देते है? जब व्यवहार मे बाधाओ के डर से कार्य-कलाप नही छोडते, नाना विपत्ति-सकट आने पर भी उनको नही छोडते तो केवल धर्म ही क्यो छोड देते हो? धर्म के जो सस्कार हैं वे व्यर्थ जाने वाले नही है, वे अवश्य ही कार्यकारी होगे।

जब तक स्वानुभव नही होगा। तब तक सकट आयेगे और तब तक साधन का भी सहारा लेना होगा। इष्ट तक पहुंचने के पूर्व साधन नही छोडना है। इष्ट पर पहुंचने के बाद साधन स्वय छूट जाते है। आत्मानुभव के बाद शास्त्रो की, मनन की, चिन्तन की कोई आवश्यकता नही है।

एक ऊंचे वृक्ष पर एक वृद्ध राजहस बैठा था। राजहस पक्षी बुद्धिमान होता है, वह ऊँचाई पर ही जाकर बैठता है, जिससे शिकारी उसका शिकार न कर सके। एक दिन राजहसो के बच्चे पास के छोटे वृक्ष पर आकर बैठ गये। वृद्ध राजहस ने उन्हे कहा कि—तुम किसी ऊँचे वृक्ष पर बैठो, नही तो तुम

फस जाओगे। बच्चो ने उसका मजाक बनाया और कहा कि यदि शिकारी आ भी जायेगा तो हम तो उड जायेंगे, हम तो अभी शक्तिशाली हैं। वृद्ध चुप हो गया। एक दिन रात मे एक शिकारी ने उन बच्चो पर जाल डाल दिया। प्रात जब वे उठे तो अपने को फसा हुआ पाया। वृद्ध ने कहा—अनुभव न होने व सीख न मानने से तुम फस गये। बच्चो ने अपनी गल्ती स्वीकार कर ली और बोले कि—हम तो अनुभवहीन हैं इसलिये फस गये, पर अब तुम्हारा अनुभव, बुद्धिमानी तभी है जब हमे इससे बचाओ। वृद्ध ने कहा—जब शिकारी आयेगा तो मैं तुम्हे इशारा कर दू गा, उस समय तुम सब आखें सफेद कर लेना, पेट फुला लेना, टागे अकडा लेना। शिकारी आयेगा, तुम्हे मरा हुआ समझ कर जाल झटक देगा, उस समय तुम सब एक साथ उड़ जाना। थोडी देर बाद शिकारी आया, उन्होने ऐसा ही किया और बधन मुक्त हो गये।

मनुष्य के जीवन मे जब तक अनुभव न हो तब तक लाभ नही। अनुभव प्रत्येक क्षण, प्रत्येक वस्तु से प्राप्त नही कर सकते हैं। केवल शास्त्रो को पढकर ही अनुभव प्राप्त नही करते। शास्त्र तो गूढ बातें बताता ही है। हमें अपने रास्ते मे पड़े पत्थर से ठोकर खाकर पुन ठोकर न खावें ऐसी शिक्षा लेनी चाहिये। जीवन मे अनेक बुराईया व दोष आते हैं, उनके शमन के लिये शास्त्र साधन हैं, आदर्श हैं, मार्गदर्शक हैं। तत्वज्ञान ही जीवन मे उतारना चाहिये यही साथी है, सहायक है। आख बन्द हो जाने पर वैभव, मोटर, मकान, हाथी घोडा कोई भी साथ नही जाता, यह चमडे का ढाचा, जिसे साथ लेकर आये थे वह भी साथ नही जाता। पारिवारिक जन, प्रियजन भी श्मशान में ले जाने की व्यग्रता प्रकट करते हैं।

जिस पेड पर फल-फूल व पत्ते नही होते उसकी कोई कीमत नही होती उसी प्रकार बिना सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चरित्र के आत्मा भी कीमती नही (बन रहा)। पक्षी है, पर यदि उसके पख नही है तो वह उड नही सकता, इसी प्रकार जीवन में सिद्धालय तक की उडान भरने के लिये निश्चय व व्यवहार नय के पंख लगाने होंगे। सर्वथा एक पख से उडान नही भरी जा सकती।

कु आ खोदते चले जायें पर उसमे पानी न निकले तो सारा परिश्रम व्यर्थ है। सारा जीवन जी लिया किन्तु धर्मध्यान नही किया तो वह जीवन बिना पानी के कुएं के समान है। एक-एक ईंट रखकर मन्दिर शिखिर तक पहुच जाना है, जीवन मे एक-एक गुण को ग्रहण करेंगे तो जीवन भी अपनी

ऊंचाइयो तक पहुचेगा, उन्नतशील होगा। गुणो की प्राप्ति से ही मनुष्य जीवन श्रेष्ठ होता है। गुणो को छोड देंगे तो खाली हो जायेंगे। प्रयास करके एक-एक गुण को प्राप्त करने पर जीवन उन्नत होगा, इष्ट की प्राप्ति होगी, सफलता मिलेगी। इसलिए पूज्यपाद आचार्य ने लिखा है कि—

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति सङ्गतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहित वचो भावनाचात्मतत्त्वे,
सपधन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः।

नित्य शास्त्रो को पढना चाहिए, वीतराग परमात्मा के गुणो का चिन्तन करना चाहिए कि ऐसे गुण मेरी आत्मा मे भी प्रगट हो। क्षणभर के लिए ही सही, पर सत्पुरुषो की सगति अवश्य करनी चाहिए। जीवन मे कोई न कोई नियम होना चाहिए। विना नियम के जीवन विना गांठ की सिलाई के समान है, जो अथक प्रयास के वाद भी विना सिला ही रह जाता है। गुणी व्यक्तियो का गुणवानो का गुणगान करना चाहिए, प्रशसा करनी चाहिए। गुणवानो व गुणगानो को श्रवण भी करना चाहिए। जहा किसी के दोषो की वात आ जाए वहा मौन हो जाना चाहिए। जीवन वहुत जटिल है, इसलिए परदोप की बात आने पर मौन हो जाना चाहिए। ऐसे समय मे आप बोलेंगे तो आप शब्दो के गुलाम हो जायेंगे, सुनने वाले आपकी बात के अनेक अर्थ निकालेंगे इसलिए दोष के समय मौन ही रहो। यदि बोलना भी हो तो असदिग्ध भाषा मे बोलो जिससे कोई उसका कुअर्थ न कर सके। सब प्राणी मात्र के साथ प्रिय, हितकारी, औचित्य (उचित) व हितमित शब्द ही प्रयोग कीजिए (औचित्य शब्द अच्युत से बना है, अच्युत का अर्थ है परमात्मा, जो अपने गुणो व स्थान से कभी च्युत नही होते,) ऐसे औचित्य सिद्ध होने वाले, कुअर्थ न हो सकने वाले शब्दो का ही प्रयोग कीजिए।

भावना सदैव यही रहनी चाहिए कि—हे भगवान! मैं कुछ नहीं चाहता। मैं यही चाहता हू कि जवतक ससार के दुखो से मुक्त नही हो जाता तब तक उपर्युक्त सभी बातें मेरे साथ रहे, यही मेरी भावना है, कामना है। भौतिक सम्पदा की अपेक्षा आत्मिक गुण ही मेरे साथ रहे, यही चाह है।

कर्तव्य पालन करें, साधन स्वतः जुटेंगे

छोटा सा दीपक रातभर अधेरे से लडकर प्रकाश का प्रसार करता है। अपनी शक्ति, साधन व बुद्धि के अनुसार निर्लेप भाव से, निरपेक्ष भाव से, निष्काम भाव मे पर-सेवा करे।

कार्य करने वालो के साथ साधन स्वयमेव जुट जाते हैं।

आप मव लोग इस वात को भलिभाति समझते हैं कि—हमारे ममक्ष जो यह विशाल-विश्व है, वह अनादि है। हमारे जो चिन्तक एव मर्वज्ञ हुये हैं उन्होने इस पृथ्वी-मण्डल पर रहने वाले प्राणियो के सम्वन्ध मे, अपने चिन्तन के आधार पर वताया है कि—यह जीव चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता रहता है। इस तथ्य को उनकी आचार्य-परम्परा ने शास्त्रो मे अकित किया।

चौरामी लाख योनियो मे जो एकेन्द्रिय जीव हैं, वे केवल कर्मफल चेतना को ही भोगते रहते हैं, उन्हे ज्ञानचेतना का कोई भान नही। कर्मफल-चेतना अर्थात् अपने किये हुये जो शुभ-अशुभ भाव हैं अनादि से उन्ही को भोगते चले आ रहे हैं और उनके द्वारा नये कर्मों का वध करते जा रहे है। दो इन्द्रिय से कर्मचेतना प्रारम्भ हो जाती है। उनको त्रसपर्याय कहा है। त्रस शब्द का अर्थ है - जो त्रास से भय से भयभीत होकर इधर-उधर भागते फिरें, भटकते रहे। दो-इन्द्रिय जीवो से पचेन्द्रिय जीवो तक त्रस-पर्याय है। पचेन्द्रिय जीव मे सज्ञी व असज्ञी, दो भेद हैं। मनुष्य सज्ञी पचेन्द्रिय है।

समस्त जीव-जगत् मे मनुष्य-गति सर्वाधिक श्रेष्ठ मानी गयी है क्योकि मनुष्य ही इस सारे चिन्तन को समझ सकता है, जान सकता है और इन (चौरासी लाख योनियो के) कष्टो मे वचन के लिये पुरुषार्थ भी कर सकता

है। इसके लिये यही प्रमाण है कि उसने (मनुष्य ने) अपने अनुभव से मन-वचन-काय की शुद्धि के उपाय ढूढ लिये है। काय की नीरोगता के लिये उसने अनेक प्रयत्न किये हैं अनेक रोगो का पता लगाया है और उससे मुक्ति के लिये चिकित्सा-विधि भी खोजी है। इसीसे वह सन्तुष्ट नही हुआ इसलिये अपनी वाणी (वचन) को परिशुद्ध बनाने के लिये शब्दानुशासन की रचना की। शब्दो के प्रयोग व उच्चारण के कुछ नियम है, बधन हैं। स्वस्थ सामाजिक मनुष्य की वाणी को उन नियमो की परिपाटी मे बाधने के लिये शब्दानुशासन का निर्माण किया गया। शब्दो का शरीर व आत्मा पर अत्यधिक (अच्छा बुरा) प्रभाव पडता है।

शरीर की नीरोगता व शब्दानुशासन से ही सतुष्ट न होकर मन की, चैतन्य मन की, आत्मा की नीरोगता के लिये आत्मानुशासन की खोज की। हमारी आत्मा मे अनेक, व्यर्थ के विकल्प उठते रहते है। उन विकल्पो के कारण मानव-जीवन की शाति भग हो जाती है, अशाति उत्पन्न हो जाती है। उस अशाति से आत्मा को निर्मल बनाये रखने के लिये, परिणामो की शुद्धि के लिये आचार्यों ने जो मार्ग बताया, दिखाया वही आत्मानुशासन है।

परिणामो की शुद्धि के लिये उन्होने कहा कि अशुभ-भाव छोडें, शुभ-भाव रखें। शुभ-भाव मे ही स्थिर न रहते हुये, इससे भी आगे बढते हुये कहा कि 'शुद्ध-भाव' रखें, जिससे आप अपने गन्तव्य तक पहुच सकें, आत्मा से परमात्मा बन सकें, सदैव के लिये अन्तरग-बहिरग रूप से नीरोगी हो सकें।

मनुष्य जन्म लेता है, जन्म के साथ मृत्यु निश्चित है। जन्म मे मृत्यु भी निहित है। जन्म व मृत्यु के बीच का समय अत्यन्त सघर्षमय है। सघर्षों मे कुछ अन्तरग सघर्ष होते हैं तो कुछ बहिरग सघर्ष। जीव अनादि से इन सघर्षों के बीच भव-भ्रमण करता आ रहा है।

सूर्य अस्त होने से पूर्व विवेकी दीपक जला लेते हैं। छोटा सा दीपक रात भर अधेरे से लडकर प्रकाश का प्रसार करता है और प्रात बुझ जाता है अथवा बुझा दिया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन मे बहिरग मे जो अज्ञानताये हैं, अनेक कष्ट हैं, उनके निराकरण के लिये वह अनेक उपाय ढूढता है और स्व-कल्याण के साथ पर-कल्याण की भी भावना रखते हुये वह 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सिद्धान्त के आधार पर सेवा करता है।

सेवा करना मानव का कर्तव्य है, धर्म है। कोई हमारी सेवा करता है तो हमे अत्यन्त आनन्द अनुभव होता है, भला लगता है और उसे बहुत अच्छा समझते हैं। जब अपनी सेवा करने वाले को हम अच्छा समझते हैं तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अपनी शक्ति, साधन व बुद्धि के अनुसार निर्लेप-निरपेक्ष

भाव से, निष्काम भाव से, फल की आकाक्षा रहित भाव से पर सेवा करें। शिवकोटि आचार्य ने भगवती-आराधना मे 'सेवा-भाव' को तीर्थंकर प्रकृति का कारण बताया है। पचाध्यायी मे आचार्य ने इसके साथ एक शर्त जोड़ दी है कि—जहाँ तक हिसा, सावद्यता का प्रसग न आवे उस सीमा तक सेवाभाव व कार्य उचित हैं। उस (सीमा सहित) सेवा मे जो उत्तरोत्तर स्वच्छ व निर्मल भावनायें होती हैं वह मनुष्य की शाति का हेतु बन जाती हैं, वही शाति उसको (सेवा करने वाले को) सर्वाधिक सुख व फल प्रदाता होती है।

आप लोगो ने भी सेवाभाव से यहाँ जयपुर मे छोटे रूप मे (आरोग्य भारती, वैय्यावृत्यभवन व महावीर कल्याण केन्द्र के रूप मे) सेवा कार्य प्रारम्भ किये हैं, वे महान् है। वटवृक्ष का बीज बहुत छोटा होता है, मिट्टी मे डालकर पानी से सीचने से वही बीज एक विशाल छायावान् वृक्ष बन जाता है। हमे भी इसी प्रकार के सेवा-कार्यों को व्यक्तिगत रूप से सामूहिक रूप से आगे बढाते रहना चाहिये, अन्य लोगो मे इसके लिये भावना जागृत करनी चाहिये। वे स्वय ही इससे प्रभावित होकर इसे अपनाते जायेंगे।

कर्तव्य-पालन करना प्रत्येक मानव का धर्म है। कर्तव्य-पालन करने वाले को उसका फल स्वयमेव प्राप्त होता है। उसके लिये तत्सम्बन्धी साधन स्वय जुट जाते हैं। जो साधन जुटाकर कार्य प्रारभ करना चाहता है, उसका कार्य सफल नहीं हो पाता। कार्य करने वालो के साथ साधन स्वयमेव जुट जाते है, यह लौकिक अनुभव है।

आप सबकी बुद्धि आत्मकल्याण के साथ पर-सेवा परोपकार मे भी बनी रहे। निष्काम-भाव से, बिना किसी फल प्राप्ति की आकाक्षा के सेवा करने की भावना व प्रयत्न करना चाहियें। इन्हीं प्रयत्नो से देश, समाज व सस्कृति आदर्श बन सकते हैं और यही आदर्श हमारा प्राचीन आदर्श होने के कारण कलियुग के अन्तिम क्षण तक भारत की अहिंसा-सस्कृति को अक्षुण्ण रखेगा। अहिंसा-सस्कृति के अनुरूप यह फले-फूले और समस्त प्रजा क्षेम से जीवे, यही भावना है।

